


❀ ॐ ❀

वन्द वीरम्

आगमानुसार मुँहपत्तिनिर्णय और जाहिर लोंकाशाह १, २, ३, का

उत्तर

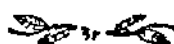
लेखकः—

पंडित मुनिश्री शंकरलालजी महाराज

प्रकाशकः—

लोंकाशाह जैन मिशन

जोधपुर (मारवाड़)



प्रथमावृत्ति ४००००	मूल्य ॥) आठ आना	वीराब्द २४५९ वि० १९८९




ॐ

सबसे पहले इस सूचना को अवश्य पढ़ें ।

प्रिय पाठको ! आज का समय परम शांति-पूर्वक सबसे मिल-जुल कर रहने का है, न कि पारस्परिक वैर विरोध उत्पन्न कर, किसी से लड़ने-झगड़ने का। परन्तु जो लोग बेचारे अपनी अबोध मयी, अज्ञान-मूलक, अहंकार और अभिमान-भरी वैर-विरोध की आदत ही से लाचार होते हैं वे ऊपर की बात पर ध्यान और कान देने ही क्यों और कब लगे ! वैसा ही कलुषित-हृदय एक दण्डी मणिसागरजी का जन-समाज भी पैदा हुआ प्रतीत हो रहा है। और, उसके कुछ आँखों देखे कामों तथा कानों सुने विचारों से, यह जान पड़ता है, कि मानों उस समाज का जन्म ही, इधर-उधर के कुछ झूँठे बहाने गढ़ कर, अपनी तारीफ के पुल बाँधने, खण्डन-मण्डन का पैना अस्त्र अपने हाथों ले कर, पराई की निन्दा करने, तथा उनके हृदयों में उनके प्राण प्रिय धर्म के प्रति क्षोभ पैदा करने वाली पुस्तकों को यदा कदा प्रकाशित करवाते रहने, आदि जघन्य कामों को लेकर, जगत् में हुआ है। हमारे कथन की सचाई के प्रमाण मे, हम अपने पाठकों को अभी अभी का एक वैसा ही नमूना दिखाने की चेष्टा यहाँ करते हैं।

कुछ ही दिन हुए, जब कि पीताम्बरी-मूर्ति-पूजकों की ओर से, खरतर गच्छीय दण्डी मणिसागरजी ने, 'आगमानुसार मुँहपत्ति का निर्णय' और "जाहिर उद्घोषणा नं० १, २ ३" नामक पुस्तकों की हजारों प्रतियाँ छपवा कर वितरण की हैं। इन मे से मुँहपत्ति के निर्णय में, आपने जैनागमों के विरुद्ध, अनेकानेक तार्किक कुयुक्तियों के द्वारा, मुँहपत्ति को मुँह पर न बाँधने के बदले हाथ मे धारण करना सिद्ध किया है। यही नहीं मुखपत्ति को मुख पर बाँधने वाले सब जैन मुनियों पर अनेकों औंधे सीधे आक्षेप भी आपने उसमें किये हैं। उसमे भगवतीजी, ज्ञाताजी, निरया

वलिका, निशीथ, महा-निशीथ, प्रश्न व्याकरण, सुख विपाक, अन्त कृताङ्ग, आदि आदि जैनागमों के, तथा सटीक योग-शास्त्र, आचार दिनकर, ओघनियुक्ति, पिण्डनियुक्ति आदि ग्रन्थों के, व शिव-पुराण, आदि अन्य ग्रन्थों के, मुख-वस्त्रिका विषयक, उसके मुख ही पर बाँधने के, पक्ष और सच्चे प्रमाण-भूत मूल पाठों का, बिलकुल झूँठा, तार्किक, पक्षपात-पूर्ण और विरोधार्थी अर्थ करके, जगत् के बेचारे भोले-भाले जीवों को धोखे में डालने के लिए, मुँहपत्ति को मुख पर न बाँधते हुए, हाथों में रखना ठहराया है। साथ ही मुँहपत्ति को मुख पर बाँधने वाले प्रमाणिक और सनातनी जैन मुनियों की, भर सक पेट भर के, अनेकों तार्किक और कुत्सित युक्तियों के द्वारा, निन्दा भी की है। पुस्तक को विवेक और जैन धर्म का अभिमान रखते हुए पढ़ने पर, किसी भी विद्वान् की यह धारणा, अत्युक्ति नहीं कही जा सकती, कि दण्डीजी ने पुस्तक क्या लिखी है, मानो, जगत् के बेचारे अनभिज्ञ जीवों को अपने चंगुल में फँसा मारने के लिए, एक बहेलिया की भाँति जाल फैला दिया है। अतएव, जिनशासन के अधीन लालित-पालित, कोई भी जैन धर्माभिमानी, जहाँ तक हमारा विचार है, इस कपट रूप जाल का उच्छेदन करने, तथा सत्यासत्य का निर्णय करके, जगत को वास्तविकता का दिग्दर्शन कराने के लिए चुप्पी साध कर नहीं बैठ सकता। यही कारण है, कि मैं ने भी अपनी लेखनी उठाई है।

लेखक तथा उनके सगोत्रीय बन्धु, मूर्ति की उपासना करने से 'मूर्त्युपासक', विक्रम स० १७०० के लगभग अपने श्वेत वस्त्रों की जगह पीत वस्त्र धारण करने के कारण 'पीताम्बरा' और आकर्णान्त दण्ड हाथ में ग्रहण करने से 'दण्डा' आदि नामों से पुकारे जाने लगे। यही कारण है, कि मैं ने भी अपनी इस छोटी सी पुस्तक में, 'आगमानुसार मुँहपत्ति का निर्णय' आदि के लेखक महानुभाव को उपर्युक्त गुणों

से युक्त होने के कारण ही 'दण्डी' नाम दिया है। अतः किसी महानुभाव को मेरे इस नाम-करण से चिढ न जाना चाहिए।

अन्त मे, मैं इसके पाठकों से यही निवेदन करूँगा, कि वे स्वय बारीकी से इस पुस्तक को पढ़ें, अपने इष्ट मित्रो से इसके पढ़ने का आग्रह करें, तथा अपने पड़ौसी गाँवों के अनभिज्ञ जैन-बन्धुओं के घर-घर और दर-दर मे, इस का प्रचार करने-करवाने की अपने बल-भर चेष्टा करें। ताकि, जगत से मिथ्यात्व का मुँह काला हो, लोगों को "सत्यं शिव सुन्दर" का परिचय प्राप्त हो, और वे उसका समादर करना सीखें।

॥ ॐ सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥



कृतज्ञता-प्रकाशन



इस "आगमानुसार—मुख वस्त्रिका निर्णय" जाहिर उद्घोषणा नं० १, २, ३, के उत्तर लिखने मे तथा "सचित्र मुख-वस्त्रिका निर्णय" में मुझे मेरे परम प्रिय सहपाठी साहित्य—प्रेमी गुरु-भ्राता पंडित मुनि श्री प्यारचन्दजी ने प्रत्येक समय इनके लिखने मे तथा सशोधन आदि आदि शुभ कार्यो में मुझे पूरी पूरी सहायता की है, एतदर्थ उनके इस पावन कृत्य की जितनी प्रशसा की जाय उतनी ही संघटित है, इसका सादर सप्रेम आभार एवं कृतज्ञता मानता हुआ हार्दिक भावो से धन्यवाद देता हुआ आशा करता हू कि वे सदैव इसी प्रकार श्रमणोपासक समाज के उन्नतिशील कार्यो मे अपने पावन हार्दिक भावों की दिन द्विगुनी एव रात चौगुनी वत् वृद्धि करते रहेंगे । विशेष विस्तरेण किम् ॥

आपका सहपाठी गुरुभ्राता—

शंकरमुनि ।

॥ ॐ ॥

सबसे पहले इस सूचना को अवश्य पढ़ें।

प्रिय पाठको ! आज का समय परम शांति-पूर्वक सबसे मिल-जुल कर रहने का है, न कि पारस्परिक वैर विरोध उत्पन्न कर, किसी से लड़ने-झगड़ने का। परन्तु जो लोग बेचारे अपनी अबोध मयी, अज्ञान-मूलक, अहंकार और अभिमान-भरी वैर-विरोध की आदत ही से लाचार होते हैं वे ऊपर की बात पर ध्यान और कान देने ही क्यों और कब लगे ! वैसा ही कलुषित-हृदय एक दण्डी मणिसागरजी का जन-समाज भी पैदा हुआ प्रतीत हो रहा है। और, उसके कुछ आँखों देखे कामों तथा कानो सुने विचारों से, यह जान पड़ता है, कि मानों उस समाज का जन्म ही, इधर-उधर के कुछ झूँठे बहाने ग्रहण कर, अपनी तारीफ के पुल बाँधने, खण्डन-मण्डन का पैना अस्त्र अपने हाथों ले कर, पराये की निन्दा करने, तथा उनके हृदयों मे उनके प्राण-प्रिय धर्म के प्रति क्षोभ पैदा करने वाली पुस्तकों को यदा कदा प्रकाशित करवाते रहने, आदि जघन्य कामों को लेकर, जगत् मे हुआ है। हमारे कथन की सचाई के प्रमाण मे, हम अपने पाठकों को अभी अभी का एक वैसा ही नमूना दिखाने की चेष्टा यहाँ करते हैं।

कुछ ही दिन हुए, जब कि पीताम्बरी-मूर्ति-पूजकों की ओर से, खरतर गच्छीय दण्डी मणिसागरजी ने, "आगमानुसार मुँहपत्ति का निर्णय" और "जाहिर उद्घोषणा नं० १, २, ३" नामक पुस्तकों की हजारों प्रतियाँ छपवा कर वितरण की हैं। उन में से मुँहपत्ति के निर्णय में, आपने जैनागमों के विरुद्ध, अनेकानेक तार्किक कुयुक्तियों के द्वारा, मुँहपत्ति को मुँह पर न बाँधने के बदले हाथ में धारण करना सिद्ध किया है। यही नहीं मुखपत्ति को मुख पर बाँधने वाले सब जैन मुनियों पर अनेकों औंधे सीधे आक्षेप भी आपने उसमे किये हैं। उसमें भगवतीजी, ज्ञाताजी, निरया

वलिका, निशीथ, महा-निशीथ, प्रश्न व्याकरण, सुख विपाक, अन्त कृताङ्ग, आदि आदि जैनागमों के, तथा सटीक योग-शास्त्र, आचार दिनकर, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों के, व शिव-पुराण, आदि अन्य ग्रन्थों के, मुख वस्त्रिका विषयक, उसके मुख ही पर बाँधने के, पक्के और सच्चे प्रमाण-भूत मूल पाठों का, बिलकुल झूठा, तार्किक, पक्षपात-पूर्ण और विरोधार्थी अर्थ करके, जगत् के बेचारे भोले-भाले जीवों को धोखे में डालने के लिए, मुँहपत्ति को मुख पर न बाँधते हुए, हाथों में रखना ठहराया है। साथ ही मुँहपत्ति को मुख पर बाँधने वाले प्रमाणिक और सनातनी जैन मुनियों की, भर सक पेट भर के, अनेकों तार्किक और कुत्सित युक्तियों के द्वारा, निन्दा भी की है। पुस्तक को विवेक और जैन धर्म का अभिमान रखते हुए पढ़ने पर, किसी भी विद्वान् की यह धारणा, अत्युक्ति नहीं कही जा सकती, कि दण्डीजी ने पुस्तक क्या लिखी है, मानो, जगत् के बेचारे अनभिज्ञ जीवों को अपने चंगुल मे फँसा मारने के लिए, एक बहेलिया की भाँति जाल फैला दिया है। अतएव, जिनशासन के अधीन लालित-पालित, कोई भी जैन धर्माभिमानी, जहाँ तक हमारा विचार है, इस कपट रूप जाल का उच्छेदन करने, तथा स सामर्थ्य का निर्णय करके, जगत को वास्तविकता का दिग्दर्शन कराने के लिए चुप्पी साध कर नहीं बैठ सकता। यही कारण है, कि मैं ने भी अपनी लेखनी उठाई है।

लेखक तथा उनके सगोत्रीय बन्धु, मूर्ति की उपासना करने से 'मूर्त्युपासक', विक्रम स० १७०० के लगभग अपने श्वेत वस्त्रों की जगह पीत वस्त्र धारण करने के कारण 'पीताम्बरा' और आकर्णान्त दण्ड हाथ मे ग्रहण करने से 'दण्डी' आदि नामों से पुकारे जाने लगे। यही कारण है, कि मैं ने भी अपनी इस छोटी सी पुस्तक में, 'आगमानुसार मुँहपत्ति का निर्णय' आदि के लेखक महानुभाव को उपर्युक्त गुणों

से युक्त होने के कारण ही 'दण्डी' नाम दिया है। अत' ! किसी महानुभाव को मेरे इस नाम-करण से चिढ न जाना चाहिए।

अन्त मे, मैं इसके पाठकों से यही निवेदन करूँगा, कि वे स्वय बारीकी से इस पुस्तक को पढ़ें, अपने इष्ट मित्रों से इसके पढ़ने का आग्रह करें, तथा अपने पड़ौसी गाँवों के अनभिज्ञ जैन-बन्धुओं के घर-घर और दर-दर मे, इस का प्रचार करने-करवाने की अपने बल-भर चेष्टा करें। ताकि, जगत् से मिथ्यात्व का मुँह काला हो, लोगों को "सत्य शिव सुन्दर" का परिचय प्राप्त हो, और वे उसका समादर करना सीखें।

॥ ॐ सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥



॥ ॐ ॥

वन्देवीरम्

आगमानुसार मुँहपत्ती का निर्णय नामक ग्रन्थ में दी हुई

जाहिर उद्घोषणा नम्बर १ का

उत्तर !

मोक्षाभिलाषी सुज्ञो को लाभदायक सूचना !

लेखक की इस लेख को आद्योपांत पढने की निनम्र प्रार्थना है।



नादंसणस्स नाणं नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ श्लोक ३०।





प्रिय महोदयो! इस अगाध ससार चक्रकाल मे जीवो को सतत पर्यटन करते एवम् जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक, सयोग, वियोग, शारीरिक, मानसिक उपाधि, नरक, तिर्यंच, गर्भवास आदि के अनेक असह्य कष्ट सहन करते हुए कभी पुण्योदय से देवलोक में निवास और इन्द्रादि पद भी मिल गया, कभी सरस आहार इष्ट भोग आदि अनेक

सुख के साथ पृथ्वी भर का राज्य भी मिल गया। किन्तु संसार में समस्त दुःखों को दूर करने वाला सम्यक्त्व धर्म इस जीव को कभी नहीं मिला। यही कारण है कि यह जीव संसार में गोते खाते हुए अनन्तकाल व्यतीत कर चुका और कर भी रहा है। भगवान ने इसीलिये यह कहा है कि "सद्दहा परम दुल्लहा" सम्यक्त्व-वीतराग के वचनों पर शुद्ध श्रद्धा बैठना इस जीव के लिये महान् दुश्वार है। अस्तु, कभी पुण्योदय से सम्यक्त्व मिल भी गई तो मार्ग में बैठे हुए ढोंगी, धर्म के लुटेरे जीव को अपनी माया जाल में फँसा सम्यक्त्व-रत्न चुरा लेते हैं और उसे सम्यक्त्व (श्रद्धा) रहित बना उसके मानस क्षेत्र को ज्ञान विहीन कर देते हैं। जब सम्यक्त्व ही नहीं तो शुद्ध ज्ञान कैसे रह सकता है और बिना शुद्ध ज्ञान के त्याग धर्म मिल नहीं सकता और बिना त्याग के कर्मों का अन्त नहीं, बिना कर्मों का अन्त किये इस जीव की मोक्ष नहीं हो सकती। अतएव सम्यक्त्वी मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को चाहिये कि वे स्वय अपने सम्यक्त्व की रक्षा करने के हेतु दूसरों के मिथ्या लेखों और कुतर्कों में न फँसकर सत्यानुयायी बनें और उन लोगों को जो सत्यमार्ग से विचलित होरहे हैं। उन्हें पतित होनेसे बचावें तथा अन्योंकोभी जो सत्यमार्ग से दूर रहकर इधर उधर भटक रहे हैं उन्हें सत्य मार्ग पर लाने की कोशिश करें इसी अभिप्राय से आज मैं संवेगी सम्प्रदाय के मुनि मणिसागर की लिखी हुई कुतर्कों का सप्रमाण उत्तर देना उचित समझता हूँ।

उक्त दण्डी मुनि मणीसागरजी अपनी रचित "आगमानुसार मुहपत्ती का निर्णय" नामक ग्रन्थ में जो "जाहिर उद्घोषणा नम्बर १ दी है उसके प्रथम पृष्ठ पर "सम्यग्दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्गः" लिखकर ऊपरी सफाई दिखाते हैं पर देखिये इन दण्डीजी को जिनेन्द्र के वचनों पर शुद्ध श्रद्धा होती और ये भव भ्रमण से डरते तो पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को भूलकर उत्सूत्र प्ररूपणा कभी नहीं करते और न भव्य-जीवों को अनादि अभिग्रहिक मिथ्यात्व में फँसाकर जैन शासन व जैन लिंग की अवहेलना ही कराते, जो कुछ हम कह रहे हैं वह अपने मन से नहीं परन्तु इन्हींके माननीय दण्डी रत्नविजयजी विरचित जिन्नी शतक की १२-२०-३१ वीं गाथा में लिखे अनुसार कहते हैं, दण्डीजी जरा आख खोलकर देखें।

संवेगी मुनि नाम धराय के, दूरो मुक्यो हो संवेग नो रंग के।

लोक लजावे वापड़ा न्यारा २ हो जाएयाँ सहूना ढंग के ॥१॥
छापा परस्पर आपता देसी चेलोजो हो लड़ता मांहो माह के।
लोक लजावे वापड़ा, पीताम्बरी हो अब बिगड़ा जांयके ॥२॥
नहीं करयो नहीं कर सके न हो कुछ करण के योग के।
पीला कपड़ा पहेर के, भला हसाया कलयुगीया लोक के ॥३॥

पाठकगण ! इन दण्डी जी का सम्यक् ज्ञान व सम्यग् दर्शन तो जरा देख लीजिये। तिर्यंच मरकर वासुदेव नहीं होता ऐसा पन्नवणाजी सूत्र के वासवें पद में भगवन्त ने फरमाया है और दण्डी लोग भैंसा मरकर वासुदेव होना मानते हैं।

भगवान् तो पन्नवणाजी के बीसवें पद में तथा भगवती सूत्र के बारहवे शतक के नववें उद्देशे मे चौथी नरक का निकला हुआ जीव तीर्थंकर नहीं होता ऐसा फरमाते हैं और यह दण्डी लोग चौथी नरक मे गए हुए रावण का तीर्थंकर होना मानते हैं।

भगवान भगवती सूत्र के सातवें शतक के छट्ठे उद्देशे मे एवम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे छट्ठे आरे के अधिकार में इस भारत मे वैताढ्य पर्वत के सिवाय सब पर्वत अनित्य अशाश्वत फरमाते हैं और दण्डी लोग शत्रुंजय पर्वत को निरंतर शाश्वत मानते हैं जिसपर तुर्रा यह है कि शाश्वत कहकर घटना बढ़ना भी मानते हैं जो कि घट बढ नहीं सकता।

भगवान भगवती सूत्र के आठवें शतक के नववे उद्देशे मे कृत्रिम वस्तु की स्थिति सख्याते काल की फरमाते हैं पर दण्डी लोग अष्टापद पर भरतजी ने बिम्ब भराये और गौतम स्वामी वन्दने गए ऐसा मानते हैं, अब कहिये भरतजी और गौतम स्वामी के बीच असंख्याते काल का अन्तर रहता है तब भरतजी के भराये हुए बिम्ब गौतम स्वामी ने कैसे देखे ? क्योंकि अगर भरतजी के भराये बिम्ब मान भी ले तो भी वे

असंख्याते काल तक भगवान के वचनानुसार नहीं ठहर सकते। ऐसी दण्डी जी की अनेक कपोल कल्पित बातें हैं जिन्हें लिखकर मुझे लेख नहीं बढाना है केवल मुझे तो यही दिखाना है कि दण्डी लोगों के सम्यक् ज्ञान-सम्यग् दर्शन कहने और मानने में कितना अन्तर है।

सुहृदयो! अभिनिवेषिक मिथ्यात्व के आवेश में आकर हठाग्रह वश केवल वचन की वीरता से अपने आपको पंडित मान लेना हानिप्रद है देखो भगवान सूत्रकार क्या कहते हैं?

भणंता अकरेन्ता य बन्ध मोक्ख पइण्णिणो ।
वाया विरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पय ॥ १ ॥
न चित्ता तायए भासा कु ओ विज्जाणुसासणं ।
विसन्ना पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ २ ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६ श्लोक ९-१०

इस प्रकार पाडित्य का दावा करने वाले अपनी एवम् दूसरों की आत्मा का उद्धार कैसे कर सकते हैं? जहा सम्यक्ज्ञान और सम्यग्-दर्शन का ही अभाव है वहा चारित्र कैसे टिक सक्ता है? "मूले नास्ति कुतो शाखा" बिना जड़के शाखा कैसी? बिना सम्यक्त्व के चारित्र (त्याग) कैसा? इसलिये आत्म हितैषी भव्यजीवो को जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञानुसार चलने वाले सनातन जैन साधुओं की सेवाकर सम्यक्त्व (श्रद्धा) ज्ञान चारित्र की आराधना करनी चाहिये जिससे आत्म कल्याण हो।

आगे चलकर दण्डी जी दूसरे पृष्ठ पर लिखते हैं कि —"आज्ञा विरुद्ध चलने वाले चाहे बड़े २ तप करे, जप करें, ध्यान करें वगेरह आज्ञा विरुद्ध होने से सब निष्फल होजाते हैं।"

दण्डीजी! ठीक है, हम भी इसे बराबर ठीक मानते हैं कि

भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध जितनी भी धर्म क्रिया की जायँगी सब निष्फल हैं। पर क्या दण्डीजी "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" की तरह आप दूसरों को उपदेश देना ही जानते हैं या अपनी आत्मा पर भी लक्ष लगाते हैं ? यह तो वही बात हुई कि जैसे चोर किसी का धन चुराकर आम बाजार से पोलिस के सामने दौड़ता हुआ ऐसा, कहते निकले कि पकडना चोर जारहा है तो क्या वह पोलिस के आखों मे धूल फैंककर जनता को धोखा देकर बरी हो सकेगा ? पाठक स्वय सोचें।

आगे चलकर दण्डीजी ने उसी पृष्ठ मे जमालीजी का उदाहरण दिया सो न्याय और उदाहरणो की उभय पक्ष मे कोई त्रुटि नहीं। चाहे जो उदाहरण दे सक्ते हैं और लिख सक्ते हैं। जमाली जैसे कौन हैं ? यह अपने स्वय दिल से पूछकर निर्णय करले, कहीं ऐसा न हो कि उनसे भी बढ़कर पश्चात्ताप का मौका आवे। भगवान् की आज्ञा विरुद्ध हठाग्रह वश कितनी भी उच्च क्रिया की जाय वह सब निष्फल है, मोक्ष प्रदायक नहीं।

आगे चलकर दण्डी जी पृष्ठ तीसरे पर यों लिखते हैं कि—"कोई भी प्राणी शास्त्र का एक पद, एक अक्षर काना, मात्रा, एक बिन्दु की भी उत्थापना करें या अर्थ उलटा करें वा पहिले का पाठ निकाल कर नया दाखिल करके सूत्र को और अर्थ को उलट पुलट कर देवें तो वह अपने सम्यक्त्वका और चारित्र का नाश करके मिथ्या दृष्टि अनन्त ससारी होता है।"

दण्डीजी ने यह बहुत ही ठीक लिखा इसका हम हृदय मे स्वागत करते हे किन्तु दण्डी जी ऐसा लिख ही जानते हैं या तदनुसार चलते भी हैं। शास्त्र के अक्षर काना, मात्रा, बिन्दु की तो बात ही अलग रही पर पद के पद आप सूत्रों मे से निकाल रहे हो इसकी भी कुछ खबर है ?

देखिये! इन्हीं दण्डी लोगों के अनुयायियो द्वारा प्रकाशित आचा-

रंग सूत्र में "नो रएज्जा" ऐसा पत्र होते हुए भी आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित स० १९७३ के आचारंग सूत्र के २७७ वें पृष्ठ में "नो रएज्जा' यह पाठ (पद) निकाल दिया गया है। यदि भगवद् वचनों के उत्थापनों का भय होता तो इस प्रकार पाठान्तर करने का किसी को साहस नहीं होता।

उववाई जी सूत्र में चम्पा नगरी के वर्णन में "बहुला अरिहन्त चेइयाइ" यह पाठ दण्डी लोगों ने पाठान्तर कर रख दिया है। और ज्ञाता धर्म कथाग सूत्र मे द्रौपदी के अधिकार मे नमोत्थुण का पाठ भी पीछे मे रख दिया गया है। क्योंकि कृष्णगढ़ लायब्रेरी में और दिल्ली में लाला मन्नूलालजी अग्रवाल के पास में प्राचीन हस्त लिखित प्रतियों में नमोत्थुणं का पाठ नहीं है। सं० ११८६ की ताड पत्रो पर लिखी उपाशक दशांग मे "अंतणं उत्थिय परिग्गहि याणि चेइयाइ" इस पाठ मे "अरिहन्त" शब्द न होते हुए भी टीकाकार ने रखने का साहस किया है। इस कथन की पुष्टि के लिये अग्रेजी अनुवादक ए० एफ० रुडल्फ होर्नले के पास इसी सूत्र की (ए–बी–सी–डी–ई) अर्थात पांच प्रतिए हैं जिनमें ए–बी–सी–सख्या की प्रतियों मे "अरिहन्त" शब्द नहीं है। देखो सन् १८७७ में वेप्टिस्ट मिशन कलकत्ता की प्रकाशित और उक्त महोदय की अंग्रेजी में अनुवादित प्रति मे जिसका हिन्दी उपासक दशाग क प्रथम अध्ययन के पृष्ठ २५ वें पर अनुवाद छपा है इस विषय के बारे मे उक्त महोदय की यह सम्मति है कि "वास्तव मे जिनोक्त पाठ मे तो अरिहन्त तथा चेइयाइ ये दोनो ही शब्द नहीं है पर पीछे से टीकाकारों ने प्रक्षेप किये हैं। देखो अंग्रेजी अनुवाद की द्वितीय आवृति पृष्ठ ३५ के नोट ९६ मे वे लिखते हैं —

The words Cheiyaim or arihanta Cheiyaim, which the M S S here have appear to be an explanatory interpholation, taken over from the commentary which says the objects for

reference may be either, Arhats (or great Saint) or Cheiyas. If they had been an original portion of the text, there can be little doubt but that they would have been Caeiyani

अर्थात् शब्द चेइयाई और अरिहन्त चेइयाइ जो हस्त लिखित पुस्तकों मे नहीं है, उस पर से साफ प्रतीत होता है कि ये शब्द टीका से लेकरके मिला दिये हैं। उस टीका में लिखा है कि या तो अरिहन्त या चैत्य पूज्यनीय हैं, यदि ये शब्द मूल पुस्तक के होते तो वहा "चेइयाणि" होता।

फिर भी देखिये मकसूदाबाद निवासी राय धनपतसिह बहादुर का छपाया हुआ आचारंग सूत्र उसके द्वितीय स्कंध के पृष्ठ १०३ पर लिखा है कि —

"जाए वा णो जाएंति वदेज्जा"

पर कलिकाल सर्वज्ञ की मिथ्या उपाधि से भूषित दण्डी आनन्द-विजयजी ने सम्यक्त्व शल्योद्धार ग्रन्थ के पृष्ठ २५६ मे, आचारंग सूत्र का पाठ इस प्रकार लिख मारा —

"जाए वा नो जाएं वदेज्जा"

विद्वज्जनो! इस पाठ में "जाएति" की 'ति' बिलकुल उड़ा दी गई। इस प्रकार इन दण्डियो के पाठ उडाने के व मिला देने के अनेकों उदाहरण प्रस्तुत हैं यहा विशेष लिखकर पाठकों का समय लेना ठीक नहीं समझता। जब पद के पद उडा देने की बातें प्रस्तुत हैं तो फिर काना, मात्रा, बिन्दु की तो गिनती ही क्या है? जैनधर्मी इस बात पर पूर्ण विश्वास रखते हैं कि जो भगवद् प्रणित वचनो के अक्षर मात्रा मात्र भी उत्थापना करते हैं वे मिथ्यात्वी होते हैं और उन्हे अनन्त ससार रुलना पडता है। और यही मान्यता दण्डी जी की भी है।

प्रिय महोदयो! जिन्हे भगवान् के वचनो की मात्राएं, बिन्दु आदि उडाने और वचन बढ़ाने का तनिक भी डर नहीं है, उनका उपदेश

†जिन्हे विशेष देखना हो वह दण्डी दम्भ दर्पण ग्रन्थ म देखें।

मिथ्यात्व बढ़ाने वाले क्यों नहीं हो सक्ता तथा उनके उपदेश को सु
वाले सम्यक्त्वी अपने सम्यक्त्व धर्म में पतित होकर संसार सागर
गोते खावें तो इसका पाप उपदेश दाता के पल्ले क्यों नहीं पड़ता होग
अगर देखा जाय तो सब पापों से मिथ्या उपदेश का पाप अधिक
मिथ्या उपदेश सुनने वाला यदि कोई पाप सेवन करे तो उससे उस
आत्मा की ही हानि होती है पर मिथ्या उपदेश से तो उपदेश दाता
अपना ही फल भुगतना नहीं पड़ता बल्कि तमाम श्रोताओं की आत्मा
दुःखद पाप का परिणाम भी भुगतना पड़ता है। मिथ्या उपदेश
आप भी डूबता है और श्रोताओं को भी डुबो देता है। इसलिये ऐसो
जो सहवास त्याग देते हैं वे महान लाभ को प्राप्त करते हैं।

वह महा पापी विश्वासघाती कहलाता है जो शरणागत का
कर देता है। जो भव भ्रमण की तकलीफों से मुक्त होने की इच्छा र
वाले मुक्ति का सच्चा मार्ग ढूंढते ? विश्वासलाकर सम्यक् धर्मका उप
सुनने आवे और उन्हें वे मिथ्या उपदेश दे भगवद् आज्ञा विरुद्ध
बता भवसागर में डुबादे तो वे शरणागत का शिरोच्छेद करने
महान् पापी से भी बढ़कर पापी हैं।

मिथ्या उपदेश देने वाले कुगुरू को सुगुरू समझ अपने सम्यक्
धर्म को धक्का पहुँचाने वाले विश्वासी भव भीरु जीव मिथ्यात्व के
में गिर जाते हैं, और विराधिक बनकर अपने किये हुए सब धर्मानु
को व्यर्थ बर्बाद कर संसार बढा लेते हैं। इसलिये मुक्ति के इच्छुक भ
जीवों को चाहिये कि वे मिथ्यात्वियों का मिथ्या उपदेश त्याग यथार्थ
रीति से सम्यक्त्व आराधे जिससे कि वे अपने पाये हुए नर जन्म
कृतकृत्य कर सके।

भवभीरु आत्मा, अज्ञान दशा से जो उत्सूत्र परूपणा में ही अप
गौरव समझते हों, सूत्र, पद, मात्रा, बिन्दु घटाने बढ़ाने मे जिनराज
अशातना न समझते हों, अपने निज गच्छ की परम्परा विरुद्ध प्रणा

रखते हों, उनको परित्याग करने में यत्किंचित लोक लज्जा, हठाग्रह व बपौती का ख्याल न करें। अपने गुरु पक्ष व मत के मोह में, बहुत वर्षों के मत पक्ष से अपने भेष के मोह से, दृष्टिरागी परिचय वाले भक्तों के प्रेम से या और किसी अन्य कारण से उत्सूत्र प्ररूपणा की हो, भेष बदला हो, सूत्रों के पाठ घटाये बढ़ाये हों और भी ऐसाही कोई कार्य किया हो जिसका प्रायश्चित लेकर जल्दी शुद्ध बन जावे यही सम्यक्त्वी का खास लक्षण है। नहीं तो अन्त समय में पश्चाताप करना पड़ेगा।

प्रिय महानुभावो ! मेरा खास विषय यही है कि जीव को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति होना कठिन से कठिन कार्य है। अतएव सम्यक्त्व का स्वरूप जो दिखाया जारहा है उसी के अनुसार उसकी आराधना करना प्रत्येक जिज्ञासु का कर्त्तव्य है। सम्यक्त्व वही है जो सम्यक्देव, सम्यक् गुरु, सम्यक्धर्म का पाठ पढ़ावे। इसलिये यह जानना आवश्यक है कि सम्यक् देव, गुरु धर्म कौन से हैं ?

सम्यक्देवः—

अठारह दोषों से दूर, त्रिकालज्ञ, एक हजार आठ उत्तम लक्षणों के धारक, लोकालोक प्रकाशक, केवलज्ञानी, चौसठ इन्द्रों द्वारा पूज्यनीक व वन्दनीक, चौंतीस अतिशय व पैंतीस व्याख्यान वाणी से अलंकृत, द्वादश परिषद में त्रिदोष रहित द्वादशांगी के प्रतिपादक, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप जंगम तीर्थ के स्थापक, ऐसे जगदोद्धारक देवाधिदेव सम्यक्देव हैं।

सम्यक् गुरु—

अहिंसादि पञ्च महाव्रतों के पालने वाले, चार कषाय को उपशांत कर पचेन्द्रिय को दमन करने वाले, नव विधि से ब्रह्मचर्य और दश विधि

से यति धर्म पालने वाले, अनैमित्तक प्रासुक आहार पानी आदि ग्रहण करने वाले, विहार की मर्यादा रखने वाले श्वेत वस्त्र धारन करने वाले सम्यक्गुरु हैं।

सम्यक्धर्म.—

समस्त चराचर आत्माओं को अपनी आत्मा के समान दिखलाने वाला, अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अकिंचन एव समाधि प्रभृति, दश विध यति धर्म तथा गृहस्थाश्रम के द्वादश धर्म को आत्मीय धर्म समझाने वाला, दान, शील, तप, भावना, रूप, धर्म को आराधन कराने वाला सम्यक्धर्म है।

उपरोक्त सम्यक्देव, गुरु, धर्म का आराधिक थोड़े तप, जप, ध्यान आदि से महान् पुण्य का भागी होता है। क्योंकि श्रद्धा सहित धर्म क्रिया करने वाला अल्पकाल में ही कर्मों को क्षय कर देता है और कर्मों का नाश होने पर अनन्त सुखो की प्राप्ति होती है।

अब मिथ्यात्व किसे कहते है ? इसका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं।

भगवान् के वचनों के विरुद्ध जो क्रिया करता है वह मिथ्यात्व क्रिया कहलाती है और उस क्रिया का कर्त्ता मिथ्यात्वी कहलाता है। ऐसे मिथ्यात्वी अब भी साधु का भेष धारण कर सकते हैं। गौतम स्वामी के समान उच्च क्रिया करके दिखा सकते हैं परन्तु उनका सुधार होना असम्भव है। क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं, वे वाग्जाल से सत्य बात छिपाने के परिश्रम में जीवन व्यतीत करदें पर मिथ्या होते हुए भी अपने आपको सच्चे ही बताते रहे। कोई तटस्थ, विचारशील, न्याय द्वारा समझावे पर आप हठाग्रह एवम् लोक लज्जा से अन्याय मार्ग न त्यागें। इस प्रकार वे चिकने कर्म बांधते हैं और उनका फल उन्हें अवश्य भोगना ही पड़ता है। अतएव जैनी कहलाने वाले भव्य पुरुषों को ऐसे

सफेद मिथ्यात्विया की संगति त्याग देनी चाहिये और सत्य बात को ग्रहण करना चाहिये जिसमे आत्मा का हित हो।

दण्डीजी पृष्ठ ६ पर लिखते हैं कि "जिनाज्ञानुसार अनादिकाल से सर्व जैन मुनियों के हाथ मे मुँहपत्ति रखकर बोलते समय मुँह की यत्ना करके बोलने की प्रवृति चली आरही है।"

विचारशील पाठको ! ऐसा दण्डीजी का लिखना सर्वथा शास्त्र प्रतिकूल है। क्योंकि जिनाज्ञानुसार सम्वेगी हाथ मे मुँहपत्ती रखते हों तो फिर विवाद ही कौनसा रहा ? कोई भी शास्त्र जैन साधुओं के लिये हाथ मे मुँहपत्ति रखने की आज्ञा नहीं देता। अगर जैनागमों में तीर्थंकर भगवान् फरमाते तो क्या गणधर इसी पाठ को सूत्रों मे नहीं गन्थित करते ? पर ऐसा पाठ किसी भी सूत्र मे नहीं है कि "मुँहपत्ति हत्थे धारेज्जा" बस ऐसा एकही प्रमाण काफी है कि जिससे श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-साधु हाथ में मुँहपत्ति रखने लग जायँ। किन्तु प्रिय महोदयो ! किसी भी आगम मे हाथ में रखने वाला मूल पाठ गणधरो ने प्रतिपादन नहीं किया। तब दण्डीजी कैसे कह सकते हैं कि "जिनाज्ञानुसार अनादिकाल से मुँह-पत्ति हाथ में रक्खी जाती है।" यदि दण्डीजी "मुहपत्ति हत्थे धारेज्जा" ऐसा या इसमें मिलता हुआ मूल पाठ किसी भी आगम मे बतादें तो मैं ही क्या तमाम स्थानकवासी मुँहपत्ति हाथ में रखने लगें और दण्डीजी का सिद्धान्त अनादिकाल का सच्चा समझा जाय।

महानुभावों ! दण्डीजी "मुँहपत्ति हाथ मे रक्खी जावे" ऐसा आगमो मे मूलपाठ टटोल २ कर थक गए तबही तो ऐसा वाद विवाद पूरित कुतर्क लगा, थोथा पोथा बनाने की धुन में लगे। पर क्या उस थोथे पोथे से भी मुँहपत्ति हाथ मे रखने का सिद्धान्त प्रमाणित होता है ? कभी नहीं। जब मूल सूत्रों मे ही नहीं तो आप मुँहपत्ति हाथ में रखने का खास प्रमाण कहा मे लाकर रक्खें।

भगवान् के वचन विरुद्ध होकर सर्व साधुओं को भ्रष्टाचारी ठहराकर इस आर्यखण्ड में शुद्ध साधुओं का सर्वथा अभाव बतलाते हैं।

महोदयो! इस प्रकार कपोल कल्पित निरी निर्मूल बातें लिखकर दण्डीजी क्यों महान् दोष के भागी हुए? हमारे तो किसी ग्रन्थ में "सब साधु भ्रष्टाचारी हैं" ऐसा लेख नहीं है। भला सब साधुओं को भ्रष्टाचारी कहने वाला भी तो उस सब शब्द में आजाता है। तब पाठक सोचें कि क्या कोई ऐसा कह सक्ता है? श्वे० स्थानकवासी जैनसाधु ऐसा कभी नहीं कहते कि "शुद्ध साधु नहीं रहेगा, बल्कि ऐसा कहते हैं कि शुद्ध साधुओं की परम्परा सर्वदा बनी रहेगी" तब इस प्रकार श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधुओं पर मिथ्या आक्षेप करना दण्डीजी की प्रत्यक्ष बुद्धिमानी का नमूना है।

आगे दण्डीजी पृष्ठ ७वें पर लिखते हैं कि "भगवती सूत्र के १६ वे शतक के दूसरे उद्देशे में शक्रेन्द्र के अधिकार में शक्रेन्द्र अपने मुँह आगे हाथ या वस्त्र रखकर बोले तो निरवद्य भाषा बोले ऐसा भगवानने फरमाया है इस बात को आगे करके ढूंढिये साधु अपने मुख पर हमेशा मुहपत्ति बांधने का ठहराते हैं सो उत्सूत्र प्ररूपणा है।"

पाठक! अपने मुह अपनी बड़ाई शोभा नहीं देती। दण्डीजी के प्रतिकूल कोई कुछ लिखने लगा कि वह उत्सूत्र प्ररूपक हो गया? उनके लिये तो ऐसा कह देना साधारणसी बात है। दण्डी लोग तो इस विचार समुद्र में गोते खाते हैं कि "हम कहें सो सच्चा" पर जमाना पलटा। क्या दण्डी और क्या श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसाधु अपने मुँह मियां मिट्ठू नहीं बन सक्ते? लोग तो कोई भी उपदेष्टा हो सच बात ग्रहण करेंगे।

देखिये! दण्डी लोग भगवतीजी का मुह पर मुहपत्ति बांधने का प्रमाण निर्मूल समझ रहे हैं पर यह उनकी गहरी गलती है। जरा मूल सूत्र को देखें।

"जाहेण सके देविन्दे देवराया सुहुमकाय अणि जूहित्ताणं भासं भासइ ताहेण सके देविन्दे देवराया सावज्जं भासं भासइ, जाहेण सके देविन्दे देवराया सुहुमकायं णिजूहित्ताणं भास भासइ ताहेण सधे देविन्दे देवराया अणवज्जं भासं भासइ" अर्थात्— "शक्रेन्द्र अपने मुंह पर वस्त्र बांधे बिना यानी मुंह के वस्त्र लपेटे बिना बोले तो वह सावद्य भाषा है ऐसा भगवान ने फरमाया है। यदि वह इन्द्र मुह पर कपड़ा बांधकर या लपेटकर बोले तो वह निर्वद्य भाषा अर्थात् इस प्रकार बोलने मे हिंसा नहीं होती है।" इसमे निर्विवाद सिद्ध है कि साधुओं को हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बांधना उचित है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं कि "इन्द्र के अधिकार वाले पाठ स मुंह पर बांधने का अर्थ निकालोग तो इन्द्र के भी बांधने का ठहर जावेगा।"

दण्डीजी! भगवान ने तो पहिले ही फरमा दिया कि "खुले मुंह बोले तो सावद्य भाषा है और वस्त्र लपेट कर या बांधकर बोले तो निर्वद्य भाषा है।" खास इन्द्र के प्रसग पर ही ऐसा फरमाया तो क्या इन्द्र भगवान के वाक्य का उलघन कर देंगे ?

जब २ इन्द्र भक्ति के लिये आवेगे तब २ वस्त्र बांधकर या लपेट कर ही बोलेंगे। ऐसे ही अतीत, अनागत और वर्त्तमान के इन्द्र अपने २ समय में उपरोक्त विधि के साथ ही तीर्थंकरों से वार्त्तालाप करेंगे। इससे सिद्ध है कि साधुओं को मुंह पर मुंहपत्ति बांधने की प्रणाली नवीन नहीं पर शास्त्रानुकूल प्राचीन है। यदि दण्डीजी कहें कि "जिस प्रकार इन्द्र वस्त्र लपेट लेते हैं उसी प्रकार साधुओं को भी लपेट लेना चाहिये" तो

यह उनका हठाग्रह है। क्योंकि इन्हें कुछ समय के लिये धार्मिक भक्ति भाव से प्रेरित होते हैं तो दया के साधन वास्ते वस्त्र बाध लेते या लपेट लेते हैं तब साधु की तो तमाम जीवनी ही धार्मिक है, अतएव इनमें दया के मुख्य साधन मुँहपत्ति को कभी खोल लेना और कभी बाध लेना कैसे ठीक कहा जासक्ता है ? उन्हें तो हमेशा मुँहपर बाधना ही लाभप्रद है। दण्डीजी जो मुँह पर नहीं बाधने की तर्क लड़ाते हैं यह उनकी कमजोरी व अनभिज्ञता है।

आगे चलकर दण्डीजी इसी पृष्ठ पर लिखते हैं कि—"भगवती सूत्र के ७ वे शतक के ३३ वें उद्देश में जमाली के दीक्षा अधिकार में एवम् मेघकुवार के दीक्षा के समय नाई ने वस्त्र से मुँह बाधकर राजकुमारों के केश काटे थे इस प्रमाण को आगे करके ढूढिये साधुपने में हमेशा मुँहपत्ति बाधी रखने का ठहराते हैं यह भी प्रत्यक्ष उत्सूत्र प्ररूपणा है"

प्रिय महोदयो ! दण्डीजी का इस प्रकार उत्सूत्र प्ररूपणा करना मिथ्यात्व का जोर है। क्योंकि भगवती सूत्र एवम् ज्ञाताजी में नाई ने बाल काटते वक्त मुँह पर मुँहपत्ति बाँधी है यह सच है और इसी की पुष्टि में "अट्ठपड़लाए" आठ प्रत अर्थात् तह वाली यह मुँहपत्ति का विशेषण कहा है। देखिये जरा मूलपाठ—

"जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिया तं कासवगं एवं वयासी तुमं देवाणुप्पिया ! जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेण जतेणं चउरंगुलवज्जे निक्खमणपयोगे अग्गकेसे पडिकप्पेहि; तएणं से कासवे जमालिस्स खत्तियकुमारस्स पिउणा एववुत्तेसमाणे हट्ठ तुट्ठ करयल जाव एवं वयासी तहत्ताणाए विणएणं वयण

पडिसुणेइ पडिसुणित्ता सुरभिणा गधोदएणं हत्थपाए पक्खालेइ पक्खालित्ता **सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तीए मुह बन्धई मुह बधित्ता** जमालिस्स खत्तियकुमारस्स परेणं जत्तेण चउरगुलवज्जे निक्खमणपयोगे अग्ग केसे कप्पइ"

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश ३३

अर्थात् जिस समय जमालीजी ने दीक्षा लेन का विचार किया तो उनके पिता ने नाई को बुलाकर कहा कि चार अगुल केश वर्ज कर और सब केशों को काट डालो। नाई न यह आज्ञा सुनकर **"सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तीए मुह बंधई मुह बंधित्ता"** शुद्ध आठ पर्त (तह) वाली मुख पोत्तिका से मुह बाधकर केश काटे।

अब कहिये पाठक! मुहपत्ति मुह पर बाधने की प्राचीन रीति थी तबही तो धार्मिक उत्सव के मौके पर नाई ने भी आठ तह वाली मुहपत्ति मुह पर बाधी थी। राजकुमार ने पहिले भी तो कई वक्त चौर कर्म कराया होगा, पर उस जगह मूल सूत्र मे कहीं भी यह पाठ नहीं आया कि जब २ वे चौर कर्म कराते नाई मुह पर मुखपत्ति बाध लेता था। केवल साधु बनने को प्रस्तुत हुए तबही नाई न धार्मिक क्रिया समझ मुह पर मुख वस्त्रिका बाधी और यही पाठ स्पष्ट रूप से अधिक दृष्टिगत हो रहा है। यदि ल्पडीजी पूछें कि नाई ने साधुओं की प्रणाली कुछ समय के लिये क्यों स्वीकार की तो इसका सीधा उत्तर यह है कि कोई भी किसी अन्य सम्प्रदाय का व्यक्ति हो, जब २ जिस कार्य के लिये वह स्थापित किया जाय, उसको उनकी रीति के अनुसार व्यवहार करना ही होगा। जैसे पुजारी चाहे जिस सम्प्रदाय का व्यक्ति हो पर जिसका मन्दिर होगा और वहा जिस रीति से कार्य चलता होगा उसी तरह से उस पुजारी का चलना होगा। ऐसे ही उस नाई ने भी जमालीजी का धार्मिक क्रिया दरम्य मुह पर मुहपत्ति बाधी। साराश यह है मुह पर मुहपत्ति बाधने का

रिवाज प्राचीन है और प्राचीन समय में भी साधु मुह पर मुहपत्ति बाधते थे इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव वर्त्तमान काल के साधुओं के लिये भी हमेशा मुह पर मुहपत्ति बाधना सूत्रानुकूल है तथा बाधने के लिये जो भगवतीजी व ज्ञाताजी का प्रमाण देते हैं वह सच है। यहा सिर्फ मुह पर मुहपत्ति बाधने का प्रश्न है किसी खास व्यक्ति या जाति विशेष का प्रश्न नहीं। अगर दण्डीजी कहें कि नाई ने मुहपत्ति बाधी, राजकुमारो ने क्यों नहीं बाधी ? तो यह कहना भी उनका अयुक्ति सगत है। क्योंकि राजकुमार जब २ साधु भेष धारण कर दीक्षित होंगे वे भी अवश्य मुह पर मुहपत्ति बाधेंगे। इसमे तर्क की आवश्यकता ही क्या है ?

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ ९ वे में लिखते हैं कि "मृगाराणी ने वस्त्र से पहिले अपना मुह बाधा और दुर्गन्धी का बचाव करने के लिये गौतम स्वामी को भी कहा कि आप भी अपनी मुहपत्ति से मुह बाधलें। इस बात से साबित होता है कि गौतम स्वामी के मुह पर मुहपत्ति पहिले बाधी हुई नहीं थी किन्तु हाथ मे थी इसलिये मृगाराणी ने दुर्गन्धी का बचाव करने के लिये मुह पर बाधने को कहा, यदि पहिले से बाधी हुई होती तो फिर दूसरी बाधने को कभी नहीं कहती"

दण्डीजी ठीक है, रानी ने गौतमस्वामी से ऐसा ही कहाथा, इसको हम भी मानते हैं पर दण्डी लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर मन से पूछें तो पता लग जायगा कि दुर्गन्धी के बचाव के लिये ही मृगाराणी ने ऐसा कहा जिसे दण्डी जी अपने लेख मे स्वीकार करते हैं तो कहिये दण्डीजी ! सुगन्ध और दुर्गन्ध का अनुभव मुह से होता है या नाक से ? इस साधारण प्रश्न पर अल्प मति वाला भी यही कहेगा कि गन्ध की जाच नाक से होती है। तब क्या मृगारानी को एवम् गौतम स्वामी को बोध नहीं था कि नाक छोडकर मुह बाधना और बाधा, नहीं कभी नहीं। मुह बाधने का अर्थ करना दण्डी लोगों की केवल अनभिज्ञता प्रकट करना

है और वे ही स्वयं उत्पन्न प्ररूपक हैं क्योंकि यहां पर मुंह बांधने का सम्बन्ध ही नहीं है।

यहां दण्डीजी तर्क लगायेंगे कि यदि यही बात थी तो मूल सूत्र में नाक बांधने के लिये क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर यह है कि प्रायः दुर्गन्ध के स्थान पर लोग मुंह नाक के आगे कपड़ा लगा लेते हैं पर "मुंह बांधलो, मुंह के आगे पल्ला लगालो" ऐसा ही कहते हैं अर्थात् यही वाक्य प्रयोग में आते हैं। इसीलिये मृगारानी ने भी नाक बांधने की जगह मुंह बांधने को कहा। किन्तु मुंह पर मुखवस्त्रिका बांधने को नहीं कहा था। बिना समझे सूत्र का अर्थ करना महान् कठिन है। भगवान् गौतम के मुख पर मुखवस्त्रिका तो प्रथम ही बँधी हुई थी। यदि ऐसा नहीं था तो हम दण्डियों से पूछते हैं कि "क्या गन्ध मुख ग्रहण करता है ? न्याय में लिखा है कि "घ्राण ग्राह्यो गुणो गन्धः" अर्थात् घ्राणेन्द्रिय (नाक) से गन्ध की पहिचान होती है। इसको तो दण्डीजी भी मानते होंगे कि रानी ने बोलने के लिये नहीं किन्तु दुर्गन्ध का बचाव करने के लिये ही मुंह बांधने को कहा था और दुर्गन्ध का बचाव नाक बांधने से ही हो सक्ता है, ऐसी दशा में मृगारानी ने नाक न कहकर प्रचलित मुहावरे का प्रयोग किया तो क्या इससे यह सिद्ध होगया कि मुंह पर मुखवस्त्रिका बँधाई ? कभी नहीं ! त्रिकाल में भी नहीं !! क्योंकि गौतमस्वामी के मुंह पर मुहपत्ति बँधी हुई थी। मृगारानी ने नाक के स्थान पर मुहाविरे के कारण मुंह का प्रयोग किया जैसा कि आजकल भी लोग दुर्गन्ध के स्थान [illegible] ढ़कने के कथन का प्रयोग करते हैं।

[illegible] मुहपत्ती बंधी हुई नहीं थी ऐसी दण्डियों की [illegible] खड़ा नहीं किया जा सक्ता। दण्डियों की [illegible] कभी सफलीभूत नहीं हो [illegible] कहने की आदत [illegible] है। प्राचीन

रिवाज प्राचीन है और प्राचीन समय में भी साधु मुह पर मुहपत्ति वाधते थे इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है। अतएव वर्त्तमान काल के साधुओं के लिये भी हमेशा मुह पर मुहपत्ति वाधना सूत्रानुकूल है तथा वाधने के लिये जो भगवतीजी व ज्ञाताजी का प्रमाण देते हैं वह सच है, यहा सिर्फ मुह पर मुहपत्ति वाधने का प्रश्न है किसी खास व्यक्ति या जाति विशेष का प्रश्न नहीं। अगर दण्डीजी कहें कि नाई ने मुहपत्ति बाँधी, राजकुमारों ने क्यों नहीं वाधी ? तो यह कहना भी उनका अयुक्ति सगत है। क्योंकि राजकुमार जब २ साधु भेष धारण कर दीक्षित होंगे वे भी अवश्य मुह पर मुहपत्ति वाधेंगे। इसमे तर्क की आवश्यकता ही क्या है ?

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ ९ वे में लिखते हैं कि "मृगाराणी ने वस्त्र से पहिले अपना मुह वाधा और दुर्गन्धी का वचाव करने के लिये गौतम स्वामी को भी कहा कि आप भी अपनी मुहपत्ति से मुह वाधलें। इस वात से सावित होता है कि गौतम स्वामी के मुह पर मुंहपत्ति पहिले वाधी हुई नहीं थी किन्तु हाथ में थी इसलिये मृगाराणी ने दुर्गन्धी का वचाव करने के लिये मुह पर वाधने को कहा, यदि पहिले से बांधी हुई होती तो फिर दूसरी वाधने को कभी नहीं कहती"

दण्डीजी ठीक है, रानी ने गौतमस्वामी से ऐसा ही कहाथा, इसको हम भी मानते हैं पर दण्डी लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर मन से पूछें तो पता लग जायगा कि दुर्गन्धी के वचाव के लिये ही मृगाराणी ने ऐसा कहा जिसे दण्डी जी अपने लेख में स्वीकार करते है तो कहिये दण्डीजी ! सुगन्ध और दुर्गन्ध का अनुभव मुह से होता है या नाक से ? इस साधारण प्रश्न पर अल्प मति वाला भी यही कहेगा कि गन्ध की जाच नाक से होती है। तब क्या मृगारानी को एवम् गौतम स्वामी को बोध नहीं था कि नाक छोडकर मुह वाधना और वाधा, नहीं कभी नहीं। मुह वाधने का अर्थ करना दण्डी लोगो की केवल अनभिज्ञता प्रकट करना

: और वे ही स्वय उत्मृत्र प्ररूपक हैं क्योंकि यहा पर मुह बाधने का म्बन्ध ही नहीं है।

यहा दण्डोजी तर्क लगाएगे कि यदि यही बात थी तो मूल सूत्र नाक बाधने के लिये क्यों नहीं कहा ? इसका उत्तर यह है कि प्राय र्गन्ध के स्थान पर लोग मुह नाक के आगे कपडा लगा लेते हैं पर "मुह धलो, मुह के आगे पल्ला लगालो" ऐसा ही कहते हैं अर्थात् यही क्य प्रयोग में आते हैं। इसीलिये मृगारानी ने भी नाक बाधने की गह मुह बाधने को कहा। किन्तु मुह पर मुखवस्त्रिका बाधने को नहीं हा था। बिना समझे सूत्र का अर्थ करना महान् कठिन है। भगवान् ौतम के मुख पर मुखवस्त्रिका तो प्रथम ही बँधी हुई थी। यदि ऐसा हीं था तो हम दण्डियों से पूछते हैं कि "क्या गन्ध मुख ग्रहण करता ? न्याय मे लिखा है कि "घ्राण ग्राह्यो गुणो गन्ध" अर्थात् घ्राणेन्द्रिय (नाक) से गन्ध की पहिचान होती है। इसको तो दण्डीजी भी मानते ोंगे कि रानी ने बोलने के लिये नही किन्तु दुर्गन्ध का बचाव करने के लेये ही मुह बाधने को कहा था और दुर्गन्ध का बचाव नाक बाधने से ही हो सक्ता है, ऐसी दशा मे मृगारानी ने नाक न कहकर प्रचलित मुहावरे का प्रयोग किया तो क्या इससे यह सिद्ध होगया कि मुह पर मुखवस्त्रिका बँधाई ? कभी नहीं ! त्रिकाल मे भी नहीं !! क्योकि गौतमस्वामी के मुह पर मुहपत्ति बँधी हुई थी। मृगारानी ने नाक के स्थान पर मुहाविरे के कारण मुह का प्रयोग किया जैसा कि आजकल भी लोग दुर्गन्ध के स्थान पर मुह ढाक्ने के कथन का प्रयोग करते हैं।

पाठको ! मुह पर मुहपत्ती बधी हुई नहीं थी ऐसी दण्डियों की कुतर्क रूपी रेत की नींव पर दुर्ग खडा नहीं किया जा सक्ता। दण्डियों की यह आशा दुराशा मात्र है। और इसमें दण्डी कभी सफलीभूत नहीं हो सक्ते। नाक बन्द करने के स्थान पर मुह बाधने के लिये कहने की आदत लोगो मे आधुनिक काल से जारी होगई है ऐसी बात नहीं है। प्राचीन

शास्त्रों में भी इसके प्रमाण प्रस्तुत हैं, देखिये। ज्ञाता सूत्र के नवमें अ ध्याय में कहा है —

"तएण ते मागंदिया दारए तेणं असु भेणं गंधेण अभिभूया समाण सएहिं उत्तरज्झेहिं आसायं पेहेइ"

अर्थात उस मागदिक गाथापति के पुत्र ने उस असाधारण एवम् तीव्र दुर्गन्ध से व्याकुल होकर (आसाय) मुँह को ढक लिया। इस स्थान पर भी दण्डीजी शब्दार्थ पर उतर पड़ें तो असगति के दोषी हुए बिना नहीं रहेंगे, क्योंकि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि दुर्गन्ध की रक्षा नाक द्वारा हो सकती है न कि मुख द्वारा।

यदि दण्डीजी कहेंगे कि राजकुमारों के बाल काटते वक्त नाई के मुह पर मुहपत्ति बाधने का अर्थ लगाते हो और वैसाही मृगारानी के स्थान पर पाठ आने से नाक ढाकने का अर्थ करते हो यह न्याय सगत नहीं है।

दण्डीजी! कुछ सोचें। कोष देखें। व्याकरण पढे और सम्बन्धार्थ को विचारें। एकही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसा जहा पूर्वापर सम्बन्ध देखा जाता है वैसाही उसका अर्थ करना न्याय सगत गिना जाता है जैसे कोई व्यक्ति भोजन करने बैठे और अपने नौकर से कहे कि "सैन्धव आनय" नौकर सैन्धव शब्द का अर्थ घोडा समझ कर घोड़े को हाजिर करदे तो क्या सेठ उससे प्रसन्न होंगे? नहीं, परन्तु भोजन करने के समय को देख "सैन्धव" का अर्थ नमक लगा नमक ला देने से सेठ अवश्य प्रसन्न होंगे। क्योंकि सैन्धव का अर्थ नमक भी होता है। जैसा सम्बन्ध हो वैसा अर्थ करना बुद्धिमानी है इसके विपरीत अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिये मनमाना अर्थ कर लना [illegible]

प्रिय पाठको! वाक्य [illegible]
समय पूर्व सम्बन्ध [illegible]

मुह बाधने के एकसे मूलपाठ हैं पर सम्बन्ध देखकर अर्थ करने से एक शब्द के भी कई अर्थ पलट जाते हैं। ऐसा दण्डीजी भी अवश्य मानते ही होंगे।

फिर उस पर तत्व दृष्टि से विचार करें कि गौतम स्वामी ने रानी के कहने पर मुँह बाधा तो क्या इससे पूर्व गौतम स्वामी रानी से खुले मुँह बोले ? रानी ने यत्ना करने का भान कराया ? नहा, सिद्ध है कि केवल दुर्गन्ध से बचने के लिये रानी ने गौतम स्वामी से नाक ढँक लेने को कहा और आप खुद ने भी नाक के आगे पल्ला लगाया, गौतमस्वामी उस समय मुँहपत्ति बाधे ही हुए थे।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ पर लिखते हैं कि "यदि गौतम-स्वामी का मुह बधा हुआ मानोगे तो मृगा राणी का भी मुँह पहिले से बँधा हुआ ठहर जावेगा।

दण्डीजी का ऐसा लिखना बिलकुल बालक्रीड़ा सा है। क्योंकि गौतम स्वामी और रानी के जीवन मे बडा भारी अन्तर है। गौतम स्वामी साधु हैं रानी गृहस्थाइन। गौतम स्वामी का साधु भेष और रानी का गृहस्थाइन का भेष एक कैसे हो सक्ता है ? गौतम स्वामी ने ससार के झगड़ों को त्याग चद्दर, चोलपट्टा, रजोहरण, मुँहपत्ति धारण की है इससे गौतम स्वामी मुँह पर मुँहपत्ति बाधे हुए थे, पर गौतम स्वामी के मुँहपत्ति बँधी होने से रानी के भी मुँहपत्ति बँधी होगी, यह कैसे हो सक्ता है ? क्योंकि रानी ससारी है वह ससार की क्रिया करते भला मुँहपत्ति क्यो बाध रक्खेगी। हा, जब २ वह धर्म क्रिया करती होगी तब २ मुँहपत्ति बाधती होगी परन्तु क्या ससारी से हर समय धर्म क्रिया होना शक्य है ? अगर तुम्हारे कहे अनुसार मान भी लें कि गौतमस्वामी की तरह रानी का भी मुह बधा होगा तो क्या यह भी मानना पडेगा कि गौतम स्वामी की तरह रानी के बगल मे रजोहरण भी था ? शाबास, बहादुरो। सूझी

तो दूर की, देर से भी सूझी तो हरकत नहीं। इसके साथ यह भी मानलो कि गौतम स्वामी की नाई रानी के हाथ में पात्र भी थे, चोलपट्टा भी था, और वह साध्वी भी थी। अगर मूर्ख से भी ये बातें पूछी जायँ तो वह भी हँसे बिना नहीं रह सक्ता। अब आपके ध्यान में आगया होगा कि गौतम स्वामी के मुँह पर मुँहपत्ति बँधी हुई रहने से रानी के भी मुँहपत्ति बँधी होगी, ऐसा नहीं ठहर सक्ता।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ १२ वें में लिखते हैं—"ढूंढिये लोग कभी दुर्गन्धी वाले रास्ते होकर जावें तो उन्हों को कोई भी दूसरे लोग मुहपत्ति से मुह बाधने को नहीं कह सक्ते और जिन्हों के मुह खुले होंगे उन्होंको दुर्गन्धी की जगह मुह बाधने का कह सक्ते हैं।"

दण्डीजी! आपका यह लिखना भी नितान्त मिथ्या है। और आपका अनुभव भी असत्य है, क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधुओं के मुह पर मुहपत्ति बँधी हुई देखकर भी एक नहीं अनेक लोग दुर्गन्धी वाले मार्ग पर दुर्गन्ध की रक्षा कर लेने के वास्ते कहते है कि "महाराज! दुर्गन्ध अधिक आरही है, इसलिये मुह पर कपडा लपेट राह तै कर जाइये।" अब देखिये, मुह पर मुहपत्ति बँधी होने पर भी लोग "मुह ढकलो" ऐसा ही कहते हैं पर उनका अभिप्राय 'नाक ढकलेने' से ही है। हा, शायद दण्डीजी को दुर्गन्धादि स्थान पर "मुह ढकलो" ऐसा कोई कहने वाला नहीं मिला होगा तभी ये बात याद आगई।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते है "दुर्गन्धी तो नाक से आती है परन्तु मुह से नहीं" यह भी अनसमझ की बात है।

दण्डीजी! धन्य है, आपकी बुद्धि को! आपने तो "घ्राण ग्राह्यो गुणो गन्ध" इस न्याय को भी उड़ा दिया और सर्वज्ञों की प्ररूपी हुई बात को भी धक्का पहुचा दिया। सूत्र में जगह २ वर्णन है कि कान का

विषय शब्द श्रवण करना, चक्षु का विषय देखना तथा दुर्गन्ध सुगन्ध की पहिचान करना नाक का विषय है, इसी प्रकार जिह्वा का विषय स्वाद और शरीर का विषय शीतोष्ण की पहिचान है, एक इन्द्री का विषय दूसरी इन्द्री से कभी नहीं मिलता। भोजन के स्वाद का ज्ञान जिव्हा के सिवाय नाक, कान, आख नहीं कर सके। इस बात को जैन अजैन, आबाल वृद्ध सभी लोग मानते हैं, पर अफसोस है कि ऐसा मानने वालों को दण्डीजी अनसमझ कह रहे हैं।

पाठक तनिक सोचें, अनसमझ दण्डीजी की है या अन्य की। दुर्गन्ध सुगन्ध का ज्ञान नाक द्वारा होता है इसे दण्डीजी विपरीत समझ रहे हैं। इससे मालूम होता है कि दण्डीजी ने न्याय नहीं देखा, या उनकी इन्द्रियों ने विषय का ज्ञान करना ही त्याग दिया। ईश्वर जाने, शायद दुर्गन्ध का पदार्थ खाने से उनको दुर्गन्ध का ज्ञान हुआ होगा। अस्तु, हमें इससे कुछ मतलब नहीं, हमें तो जनता को यह दिखाना है कि सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान नाक द्वारा ही होता है। दण्डीजी लिखते हैं कि 'दुर्गन्धी तो नाक से आती है, मुह से नहीं यह भी अनसमझ की बात है' आपके इस लेख को हम ही नहीं किन्तु समस्त पाठक मिथ्या कहेंगे और पढकर उपहास करेंगे।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि —निरयावलता सूत्र में सोमिल तापस ने अपने मुह पर काष्ठमुद्रा याने लकड़े की पटड़ी बाधी थी ऐसा अधिकार है उसको देखकर ढूढिये लोग जैन साधु को हमेशा मुँह पर मुँहपत्ति बाधी रखने का ठहराते हैं सो सर्वथा उत्सूत्र प्ररूपणा है।"

दण्डीजी इस बात को तो स्वीकार करते हैं कि सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुँहपत्ति अर्थात पटकडी बाधी तो अब हम दण्डीजी से हो,

पूछते हैं कि उसने काष्ठ की मुंहपत्ति बांधी तो क्या तैनतर सन्यास धर्म में कहीं काष्ठ की मुंहपत्ति बांधने का कथन है ? नहीं, तो फिर उस ब्राह्मण ने क्यों बांधी ? कोई कारण तो होना चाहिये, वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यही कारण प्रतीत होता है कि सोमिल ब्राह्मण पहिले जैन धर्मी हो चुके थे, बाद में उसने साधुओं के असमर्ग से सन्यास धर्म स्वीकार कर लिया। इससे सन्यास धर्म में मुँहपत्ति बांधने का नियम न होते हुए भी उसने काष्ठ की मुँहपत्ति अपने मुँह पर बांधी। हां, वे जैन-धर्म से अवश्य विपरीत थे तभी तो उसने गेरुए वस्त्र धारण किये थे और काष्ठ की मुँहपत्ति बांधी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि पहिले जैनधर्मी होने से जैन धर्मानुसार वस्त्र की मुँहपत्ति बांधना त्याग उसने मिथ्यात्व के आवेश में काष्ठ की मुँहपत्ति बांधी और चारित्र भी जैनधर्म के विपरीत पाला।

प्रिय महोदयो ! एक का अनुकरण दूसरा तभी कर सक्ता है जब कि वह दूसरों को देखे या सुने। चाहे कुछ अंश में वह विपरीत भी हो। परन्तु उसके लिये यह अवश्य कथन प्रचलित होगा कि इसने दूसरों की नकल की है। यही न्याय सोमिल ब्राह्मण के लिये काफी है। पहिले उसने पार्श्वनाथ स्वामी के साधुओं के ससर्ग से वस्त्र की मुँहपत्ति बांधी अर्थात मुँह पर मुँहपत्ति बांधने का अनुकरण किया पर पीछे से उसके अनु-करण में कुछ अंशों में विरुद्धता आगई तभी उस सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुँहपत्ति बांधी। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य भी मुँह पर मुँहपत्ति हमेशा बांधते थे और वर्त्तमान काल में मुँह पर मुँहपत्ति हमेशा बांधना शास्त्र सम्मत है।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ ११ वें में यों लिखते हैं कि —

"सोमिल तापस के काष्ठमुद्रा से मुँह बांधने का दृष्टान्त बतलाकर ढूंढिये लोग हमेशा मुँहपत्ति बांधने का ठहराते हैं सो प्रत्यक्ष ही श्री जिनेश्वर भगवान की आज्ञा की विराधना करके मिथ्यात्वी बनते हैं।

दण्डीजी ! यह लिखते हुए आप पर भग भवानी की कृपा तो नहीं हुई ? क्योंकि जो भी लिखने को बैठता है, वह अपना बचाव तो अवश्य ही रखता है !! भला ऐमा कौन मूर्ख है जो जिस डालपर बैठता है उसी को काटता है ? मुँहपत्ति हमेशा मुँह पर बांधना या थोडी देर के लिये बांधना दोनों एकसे हैं। श्वे० स्था० जैन साधु हमेशा बांधते हैं और दण्डी लोग व्याख्यान देते समय मुँह पर मुँहपत्ति बांधते रहे हैं तब दोनो ही मुँहपत्ति बांधने वाले हुए। इससे दण्डीजी के कथनानुसार दण्डी लोग भी भगवद् आज्ञा के विराधक और मिथ्यात्वी सिद्ध हुए ?

पाठको ! श्वे० स्था० जैन साधु भगवदाज्ञा के अनुकूल ही हमेशा मुँहपत्ति मुँहपर बांधते है। और यह दण्डी लोग भममें पडकर भगवदाज्ञाके अनुकूल हमेशा मुँहपत्ति न बांधकर थोडी देर के। लिये बांधते है और हमेशा बांधने वालो को मिथ्यात्वी कहते है, यह दण्डी लोगों की दुरंगी चाल है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ट म अपने मुँह मिया मिट्ठू बनकर लिखते हैं कि —

"सोमिल की तरह हमेशा मुँहपत्ति बांधने वाले ढूंढियो की इस मिथ्यात्वी क्रिया को किसी भी तरह छुडवाकर उन्होंको जिनाज्ञानुसार सम्यक्धर्म मे स्थापन करे, आराधक बनावे तो बडा लाभ होगा।

दण्डीजी ! सोमिल तो सचित्त कन्द, मूल, फल खाता था और जैनधर्म के विरुद्ध गेरुए कपड़े पहन काष्ठ की मुँहपत्ति बांधता था। जिससे उसकी क्रिया मिथ्यात्व प्रवर्द्धक हुई। इसको हम भी मानते हैं परन्तु श्वे० स्था० जैनसाधु न तो सचित्त कन्द, मूल, फल खाते और न रंगीन कपडे ही पहन काष्ठ की मुँहपत्ति बांधते है, तब श्वे० स्थानकवासी जैन साधु की क्रिया मिथ्यात्व की क्रिया कैसे हो सकती है ? हा, सोमिल

पूछते हैं कि उसने काष्ठ की मुहपत्ति बांधी तो क्या जैनेतर सन्यास धर्म में कहीं काष्ठ की मुहपत्ति बांधने का उल्लेख है ? नहीं, तो फिर उस ब्राह्मण ने क्यों बांधी ? कोई कारण तो होना चाहिये, वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यही कारण प्रतीत होता है कि सोमिल ब्राह्मण पहिले जैन धर्मी हो चुके थे, बाद मे उसने साधुओं के असंसर्ग से सन्यास धर्म स्वीकार कर लिया। इससे सन्यास धर्म म मुँहपत्ति बांधने का नियम न होते हुए भी उसने काष्ठ की मुँहपत्ति अपने मुँह पर बांधी। हां, वे जैन-धर्म से अवश्य विपरीत थे तभी तो उसने गेरुए वस्त्र धारण किये थे और काष्ठ की मुँहपत्ति बांधी थी। इससे यह सिद्ध होता है कि पहिले जैनधर्मी होने से जैन धर्मानुसार वस्त्र की मुँहपत्ति बांधना त्याग उसने मिथ्यात्व के आवेश में काष्ठ की मुँहपत्ति बांधी और चारित्र भी जैनधर्म के विपरीत पाला।

प्रिय महोदयो ! एक का अनुकरण दूसरा तबही कर सक्ता है जब कि वह दूसरों को देखे या सुने। चाहे कुछ अंश में वह विपरीत भी हो। परन्तु उसके लिये यह अवश्य कथन प्रचलित होगा कि इसने दूसरों की नकल की है। यही न्याय सोमिल ब्राह्मण के लिये काफी है। पहिले उसने पार्श्वनाथ स्वामी के साधुओं के संसर्ग से वस्त्र की मुँहपत्ति बांधी अर्थात् मुँह पर मुँहपत्ति बांधने का अनुकरण किया पर पीछे से उसके अनुकरण मे कुछ अंशों में विरुद्धता आगई तबही उस सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुँहपत्ति बांधी। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पार्श्वनाथ स्वामी के शिष्य भी मुँह पर मुँहपत्ति हमेशा बांधते थे और वर्त्तमान काल में मुँह पर मुँहपत्ति हमेशा बांधना शास्त्र सम्मत है।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ ११ वे मे यों लिखते हैं कि —

"सोमिल तापस के काष्ठमुद्रा से मुँह बांधने का दृष्टान्त बतलाकर ढूंढिये लोग हमेशा मुँहपत्ति बांधने का ठहराते हैं सो प्रत्यक्ष ही श्री जिनेश्वर भगवान की आज्ञा की विराधना करके मिथ्यात्वी बनते है।

जाइज्जा अहा परिगहियाइ वत्थाइ धारिज्जा नो धोएज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइ धारिज्जा"

संस्कृतम्

अस्य टीका शीलांगाचार्य कृत

स भिक्षु "यथैषणीयानि" अपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत यथा परिगृहीतानि च धारयेत् न तत्र किञ्चित्कुर्यादिति दर्शयति तद्यथा—न तद्वस्त्रगृहीतं सत् प्रक्षालयेत् नापि रञ्जयेत् तथा नापि वाकुशिक तथा धौत रक्तानि धारयेत्, तथा भूतानि न गृह्णीयादित्यर्थः।

अर्थात—साधु साध्वी निर्दोष (लेने योग्य) वस्त्रों की याचना करे, वस्त्र जूने या नये जैसे मिलें वैसे ही काम मे लेवे। वस्त्रो को न धोवे और न रँगे और धोए हुए तथा रँगे हुए वस्त्रों को धारण भी नहीं करे। इसी प्रकार स्थानाग सूत्र की टीका मे और प्रवचन सारोद्धार वृत्ति मे एवम् कल्पसूत्र की कल्पद्रुम कलिका टीका में जैन साधुओं को पीले कपड़े नहीं पहनने का प्रवल प्रमाण जरा आंखे खोलकर देखें।

"शुक्ल प्रमाणोपेत वस्त्रापेक्षया अचेलकत्वम्"

श्री स्थान सूत्र टीका ३ पत्र १६७

अर्थात्—प्रमाणोपेत श्वेत वस्त्रो की अपेक्षा मे अचेलकपना अर्थात् वस्त्र रहितपना होता है।

"प्रथम पश्चिम साधूनां तु ऋजुजड-त्वेन वक्र जडत्वेन च

ब्राह्मण की तरह काष्ट की मुँहपत्ति बाधते तो अवश्य दण्डी लोगों
कथन सत्य हो सक्ता था।

दण्डीजी! रंगीन कपडे पहनना यह अवश्य मिथ्यात्व बढानेवा
क्रिया है। क्योंकि जगह २ भगवान ने साधुओं को रंगीन कपडे पहि
की मनाई की है। देखो, सूत्र आचारंग के प्रथम श्रुत स्कंध के अष्ट
ध्याय के चतुर्थ उद्देश में यथा —

"जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं तस्स
नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जा
वत्थाइं जाइज्जा अहा परिग्गहियाइ वत्थाइ धारिज्जा नो रंगेज्ज
नो धोइज्जा नो धोतरत्ताइ वत्थाइं धारिज्जा अपलि ओ
माणे गामंतरेसु ओमचेलिए एयं खु वत्थ धारिस्स सामग्गियं

अर्थात्—जिस साधु के पास पात्र और तीन वस्त्र हैं उसको
भी यह इच्छा नहीं करना चाहिये कि चौथे वस्त्र की याचना करू। य
तीन वस्त्र न हो तो निर्दोष वस्त्र गृहस्थ से याचले। जैसा समय पर मि
वैसा धारण करे। परन्तु मानोपेत उन तीन वस्त्रों को न तो रंगे और
धोवे, तथा धोये हुए एवम् रंगे हुए नहीं पहने। और एक गाव से दू
गाव जाते हुए वस्त्र को गोपे नहीं अल्प वस्त्र रक्खे ऐसा मुनियों
आचार है।

फिर भी देखिये! आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का पच
ध्याय का दूसरा उद्देशा। जिसमें साधुओं को रंगीन कपडे नहीं पह
का भगवान ने फरमाया है जरा पढिये मूल सूत्र को —

"जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा अहेसणिज्जाइं वत्थ

अत दण्डी लोगो को चाहिये कि वे पीले कपडो को त्याग कर सफेद कपड़े ग्रहण कर आराधक बने। तबही दण्डी लोगों का भला होगा।

इसी पृष्ठ मे आगे चलकर दण्डीजी अपने ही माननीय "महानिशीथ सूत्र" के ७ वें अध्याय के मुह पर मुँहपत्ति बाधने के विधायक-अकाट्य प्रमाण को भी निर्मूल करने को ऐसा लिखते हैं —

"हमेशा मुँहपत्ति बाधने का ठहराते है सो भी प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी! ऐसा लिखकर आप भोले लोगों को क्यो भ्रम में डाल रहे हो? सत्य बात को भी आप प्रत्यच झूठ बतला रहे हैं। यह कितना अंधेर है? आपको न्यायका गला घोटतेभी देर नहीं लगती? जैसे पाडुरोग का रोगी तमाम सफेद वस्तुओ को पीली ही कहता है वैसेही दण्डीजी ने भी अपने घर की वस्तु को निर्मूल समझ कर उसका प्रतिकूल ही अर्थ लगा लिया। पाठक जरा दण्डीजी के ही माननीय महानिशीथ सूत्र के ७ वे अध्याय का प्रबल प्रमाण देखें।

कन्नेट्ठियाए वामुहणतगेण वा विणा
इरिय पडिक्कमे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढंच ॥ १ ॥

उपरोक्त प्रमाण का दण्डीजी अनोखा ही अर्थ करने का ढोंग रचते हैं। देखो वे इसका क्या अर्थ करते हैं।

"साधु प्रमादवश मुहपत्ति को मुह के आगे आडी डालकर कानों पर रखकर इरयावही करे तो उसको मिच्छामि दुक्कड का प्रायश्चित आता है और सर्वथा मुह के आगे रक्खे बिना इरयावही करे तो उसको पुरिमड्ढ का प्रायश्चित आता है।"

विद्वजनो! जरा दण्डीजी के किये हुए उपरोक्त अर्थ को तो

महा धनादि वस्त्राणामननुज्ञानात् श्वेत खण्डिता दीनामेव चानुज्ञानाद चेलक इति"

श्री प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ७८ वाँ द्वार पत्र १८५

अर्थात्—प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के साधु ऋजुजड, और वक्रजड होने से उनके लिये बहुमूल्य वस्त्र रखने की आज्ञा नहीं है। और वे वस्त्र भी श्वेत (सफेद) खण्डित वस्त्रों के धारण करने से ही "अचेलक" कहलाते हैं।

"श्री आदिनाथ-महावीर योर्यतीनामयमाचार । अचेलकत्वम्—मानोपेत धवल वस्त्र धारयन्ति"

श्री कल्पसूत्र-कल्पद्रुम कलिका टीका पृष्ट २

अर्थात—मानोपेत (प्रमाणयुक्त) सफेद वस्त्रों को धारण करना ही श्री आदिनाथ और श्री महावीर स्वामी के साधुओं का आचार है।

दण्डीजी ! इतने ठोस प्रमाण होते हुए भी आप और आपके सहयोगी पीले कपडे पहन रहे हो यह कितनी अज्ञानता है ? श्वेत वस्त्र विषयक और भी अनेक प्रमाण हैं पर पुस्तक बढ़जाने के भय से यहा उद्धृत नहीं किये हैं। यदि दण्डी लोगों को इसपर भी सन्तोष न हो तो "पति पीत पटाग्रह मीमांसा" नाम की पुस्तक एक समय अवश्य आद्योपान्त पढले, जिसमे आपके दिल के सब भ्रम दूर हो जायँगे।

पाठको ! दण्डी लोगो को पहिले इस शब्द से ही लज्जित होना चाहिये कि "श्वेताम्बर" अर्थात सफेद कपडे वाले कहलाकर पीले कपडे पहिनना कितनी अविवेकता का द्योतक है ? भला, भगवान् कौनसे सूत्र में पीले कपडे पहिनने की आज्ञा दे गए हैं ? अगर भगवान की आज्ञा नहीं है तो फिर पीले कपड़े पहिन दण्डी लोग क्यो विराधक बन रहे हैं ?

अत दण्डी लोगो को चाहिये कि वे पीले कपडा को त्याग कर सफेद कपड़े ग्रहण कर आराधक बने। तवही दण्डी लोगो का भला होगा।

इसी पृष्ठ मे आगे चलकर दण्डीजी अपने ही माननीय "महानिशीथ सूत्र" के ७ वे अध्याय के मुह पर मुँहपत्ति बाधने के विधायक अकाट्य प्रमाण को भी निर्मूल करने को ऐसा लिखते हैं —

"हमेशा मुँहपत्ति बाधने का ठहराते हैं सो भी प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी ! ऐसा लिखकर आप भोले लोगों को क्यो भ्रम में डाल रहे हो ? सत्य बात को भी आप प्रत्यक्ष झूठ बतला रहे हैं। यह कितना अंधेर है? आपको न्यायका गला घोटतभी देर नहीं लगती? जैसे पाडुरोग का रोगी तमाम सफेद वस्तुओ को पीली ही कहता है वैसेही दण्डीजी ने भी अपने घर की वस्तु को निर्मूल समझ कर उसका प्रतिकूल ही अर्थ लगा लिया। पाठक जरा दण्डीजी के ही माननीय महानिशीथ सूत्र के ७ वें अध्याय का प्रबल प्रमाण देखे।

कन्नेट्ठियाए वामुहणतगेण वा विणा
इरिय पडिक्कमे मिच्छुकड पुरिमड्ढच ॥ १ ॥

उपरोक्त प्रमाण का दण्डीजी अनोखा ही अर्थ करने का ढोंग रचते हैं। देखो वे इसका क्या अर्थ करते हैं।

'साधु प्रमादवश मुहपत्ति को मुह के आगे आडी डालकर कानो पर रखकर इरयावही करे तो उसको मिच्छामि दुक्कड का प्रायश्चित आता है और सर्वथा मुह के आगे रखे बिना इरयावही करे तो उसको पुरिमड्ढ का प्रायश्चित आता है।"

विद्वजनो ! जरा दण्डीजी के किये हुए उपरोक्त अर्थ को तो

महा मनादि वस्त्राणामनुज्ञानात श्वेत खण्डिता दीनामेव चानुज्ञानाद चेलक इति"

श्री प्रवचन सारोद्धार वृत्ति ७८ वाँ द्वार पत्र १८९

अर्थात—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के साधु ऋजुजड, और वक्रजड होने से उनके लिये बहुमूल्य वस्त्र रखने की आज्ञा नहीं है। और वस्त्र भी श्वेत (सफेद) खण्डित वस्त्रों के धारण करने से ही "अचेलक" कहलाते हैं।

"श्री आदिनाथ-महावीर यांर्यतीनामयमाचार । अचेलकत्वम्—मानोपेन धवल वस्त्र धारयन्ति"

श्री कल्पसूत्र-कल्पद्रुम कलिका टीका पृष्ठ २

अर्थात—मानोपेत (प्रमाणयुक्त) सफेद वस्त्रों को धारण करना, ही श्री आदिनाथ और श्री महावीर स्वामी के साधुओं का आचार है।

दण्डीजी ! इतने ठोस प्रमाण होते हुए भी आप और आपके सहयोगी पीले कपडे पहन रहे हो यह कितनी अज्ञानता है ? श्वेत वस्त्र विषयक और भी अनेक प्रमाण है पर पुस्तक बढ़जाने के भय से यहा उद्धृत नही किये है। यदि दण्डी लोगों को इसपर भी सन्तोष न हो तो "यति पीत पटाग्रह मीमांसा" नाम की पुस्तक एक समय अवश्य आद्योपान्त पढलें, जिससे आपके दिल के सब भ्रम दूर हो जावेंगे।

पाठको ! दण्डी लोगो को पहिले इस शब्द से ही लज्जित होना चाहिये कि "श्वेताम्बर" अर्थात सफेद कपडे वाले कहलाकर पीले कपडे पहिनना कितनी अविवेकता का द्योतक है ? भला, भगवान् कौनसे सूत्र में पीले कपडे पहिनने की आज्ञा दे गए हैं ? अगर भगवान की आज्ञा नहीं है तो फिर पीले कपडे पहिन दण्डी लोग क्यों विराधक बन रहे हैं ?

या" म उसे इरयावही क्रिया करने की याद आवे और वह इरियावही करने लगे परन्तु मुँहपत्ति कान मे घाले बिना अर्थात कानों द्वारा बांधे बिना हाथ में रखकर इरयावही करे तो उसे मिच्छामि दुक्कड का दण्ड आता है। और कहीं प्रमादवश वह साधु सोचले कि चलो अब खोरी हुई मुँहपत्ति कौन बांधे, या ही इरयावही करलें। वह सर्वथा मुहपत्ति अलग रखकर इरयावही करे तो उसे उस प्रमाद के कारण पुरिमार्ध—दोप्रहर भूखों मरने का दण्ड आता है। ये दो तरह के दण्ड दो बातों के लिये हैं। एक के लिये नहीं। बस दण्डीजी! अब आपकी बुद्धि कुछ इस पर विचार करेगी? अफसोस है कि ऐसी स्पष्ट आज्ञा को भी दण्डी लोग न मानकर भगवान के वचनों के विरुद्ध जाने का साहस कर रहे हैं। पाठकों! उपरोक्त दण्ड विधान से तो स्पष्ट सिद्ध और न्याय सगत यही बात दीखती है कि साधु हमेशा मुह पर मुहपत्ति बांधे।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ १२ में लिखते हैं—

"ढूँढिये अर्थ करते हैं इससे तो यही सिद्ध हुआ कि जब साधु गौचरी गया था तब उसके मुँह पर मुँहपत्ति बांधी हुई नहीं थी। यदि पहिले से ही मुहपत्ति बांधी हुई होती तो उपाश्रय म आये बाद इरयावही करने के लिये काना में मुँहपत्ति डालने का कभी नहीं कह सकते।

दण्डीजी! ठीक है, बात मानते हैं कि साधु गौचरी जाकर उपाश्रय में आया और भोजन करने बैठा। उस समय कन्नेट्ठियाए का पाठ है और यह पाठ आप भी अपने लेख मे स्वीकार कर रहे हो, जिससे आप मानते हो कि प्रथम ही मुँहपत्ति बँधी होती तो उपाश्रय मे आये बाद मुँहपत्ति बांधने का नहीं कहते। इस पर कुछ सोचो। भोजन तो मुँहपत्ति अलग रखकर ही किया जाता है। भोजन के समय मुँहपत्ति बँधी हो तो भोजन करना नहीं हो सकता। जब साधु गौचरी गया और भोजन लेकर उपाश्रय मे आया और मुँहपत्ति खोल बिना इरयावही किये

देखो ! कैसी चाल लेता है ? मूल में मुँह के "आगे आड़ी डालकर" इस अर्थ का द्योतक कोई शब्द ही नहीं है फिर "आगे आडी डालकर" किस मूल शब्द का अर्थ किया है ? यह अर्थ दण्डीजी के सम्मूर्च्छिम पंडित होने की साक्षी दे रहा है। हां, मूल में "मुहणंतगेण" के स्थान पर "मुहुए तग्गेए" ऐसा शब्द होता तो दण्डीजी का किया हुआ अर्थ 'मुँह के आगे' सही समझा जाता। फिर 'डालकर' इसका भी मूल में कोई शब्द नहीं है तो फिर "डालकर कहा से लाये ?

दण्डीजी ! जरा सोचो, मनमाना अर्थ कौन मान सक्ता है ? कोई नहीं, अर्थ करना विद्वानों से सीखो और निम्नोक्त अर्थ को सोच निम्नोक्त प्रमाण से मुह पर मुंहपत्ति हमेशा बाधे रहो।

"कन्नेट्ठियाए वा मुहणंतगेण वा विणा
इरियं पडिक्कम्मे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढंच ॥

महानिशीथ सूत्र अध्याय ७

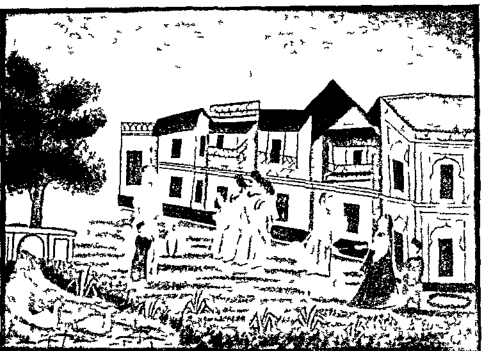
कर्णेस्थितया मुखानान्तकेन विना इर्या पूति क्रमेत् 'तदातस्य' मिथ्या दुष्कृत च पुरिमार्धं 'प्रायश्चित' भवति।

अर्थात —कान में घाली हुई मुहपत्ति के बिना और सर्वथा मुँह-पत्ति मुह पर बाधे विना इरयावही क्रिया करने पर साधु को मिच्छामि दुक्कड का और डेढ़ प्रहरसी का दण्ड आता है।

यदि दण्डीजी यह तर्क करें कि मूल में एकही मूल पर दो तरह के दण्ड क्यों ?

दण्डीजी ! साधु के गोचरी से आये बाद उपाश्रय में गमनागमन की इरयावही करने का नियम है। पर भोजन करने की आतुरता से ... करना भूलकर वह भोजन करने को मुँहपत्ति खोल ले और

चित्र परिचय के लिये



(१) गौतम स्वामी पौलासपुरी नगरी में गौचरी के लिये जा रहे हैं और एवता कुमार ने गौतम स्वामी के हाथ की अगुली पकड रखी है।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,

अर्थात् मार्ग में चलने की वजह से जिन जीवों की विराधना हुई हो उनसे बिना माफी मांगे भोजन करने बैठ गया। फिर उसे इरयावही करने की याद आवे तो कहिये दण्डीजी! वह मुँहपत्ति बाधकर इरयावही करे या यूं ही करले। अगर यूं ही मुहपत्ति मुँह आगे रखकर वह इरयावही करेगा और कानों में न बाधेगा तो उसे मिच्छामि दुक्कड का दण्ड लगेगा। और बिलकुल मुँहपत्ति को वहीं छोड कर इरयावही कर लेगा तो दो प्रहर की तपस्या का दण्ड लगेगा।

अब कहिये दण्डीजी! यह सबूत- आपको मुँहपत्ति बाधने में दृढ होने को कहता है या नहीं ?-मुँहपत्ति बाँधने के इतने प्रबल सुदृढ साधक को आप बाधक समझ रहे हो यह त्रिकाल में भी नहीं हो सक्ता।

पाठको! कितनी कठोर और ठोस आज्ञा है कि मुख वस्त्रिका मुँह पर बाधे बिना जैन साधु एक पद भी नहीं चल सक्ता और यदि चले तो कड़ी सजा। आश्चर्य है कि ऐसे स्पष्ट और वज्र गम्भीर शब्दों को सुनकर भी जो बहिरे बन एक ओर चले जाते हैं और व्यर्थ ही वाद-विवाद बढा धर्म का खून करते हैं क्या यह अच्छे विचारों का सबूत है ? कभी नही।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ पर लिखते हैं—

"गौतम स्वामी गौचरी को पौलासपुर में गए थे तब एयवन्ता-कुमार ने अगुली पकडी। उस वक्त गौतम स्वामी के मुह पर मुँहपत्ति बँधी हुई थी, ढूंढियो का ऐसा कहना प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी! जब एक हाथ की अगुली पकड महलो में लेगए और दूसरे हाथ में झोली थी, रास्ते मे खडे रह कर किसी से धर्म सम्बन्धी बातचीत भी की होगी क्योंकि गौतम स्वामी जब शहर में गए तो धर्मानुरागी उन्हे वन्दना भी करते होंगे और कुछ श्रावको ने आहारादि लेने

की प्रार्थना भी की होगी, उस समय गौतम स्वामी ने उनको कुछ जवाब भी दिया होगा। अब कहिये, यदि गौतम स्वामी के मुँह पर मुँहपत्ति नहीं बँधी हुई होती तो उत्तर खुले मुँह कैसे देते ? जब कि एक हाथ मे पात्र था और दूसरा अमवन्ता ने ग्रहण कर रखा था। हा ! यह साधु का मार्ग है कि राह चलते उत्तर न दें, परन्तु खडे होकर तो दे सक्ते हैं ? इससे यह सिद्ध होता है कि गौतम-स्वामी के मुह पर मुहपत्ति बँधी हुई थी।

दण्डीजी ! श्वे० स्थानकवासी।जैनसाधु कोई भी यह नहीं कहता है कि मार्ग में चलते हुए गौतम स्वामी बोले। व्यर्थ ही झूठ लिखकर तुम अपने सिर पाप का भार क्या बढाते हो ! हम यह नहीं चाहते कि झूठ लिख लिखकर तुम्हारे जैसा एक पोथा बनावें

दण्डीजी ! यह बात तो तुम भी स्वीकार करते हो कि अगर मार्ग में चलते हुए कोई जरूरी बाते करना आवश्यक हो तो खडे रह कर कर सक्ते हैं। तब कहिये दण्डीजी ! गौतम स्वामी खुले मुह खास जरूरी बाते कैसे कर सक्ते हैं ? इससे स्वय सिद्ध है कि गौतम स्वामी के मुह पर अवश्य मुहपत्ति बँधी हुई थी।

यदि दण्डीजी ! तुम कहोगे कि वार्तालाप के साथ हमने यह भी कहा कि "चद्दरादि अन्य वस्त्र से अथवा जिस तरह कई गृहस्थी लोग मुह के आगे दुपट्टे कन्धे पर से आडा डालकर बाते करते है, वैसे ही साधु के बाये कन्धे पर जो कम्बली रहती है उसको मुँह के आगे दहिने कन्धे पर डालकर मुँह की यत्ना करके गौतम स्वामी बाते कर सक्ते थे।"

दण्डीजी ! ठीक है, जब तो साधु को मुँहपत्ति रखने की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि जब २ बोलने का काम पडेगा, तब तब गृहस्थी ज्यो चद्दर, कम्बल आडी देकर बोल सकेंगे। यदि ऐसा ही था तो भगवान ने व्यर्थ ही मुँहपत्ति का उपकरण बढाया। दण्डीजी ! मुँहपत्ति

पत्ति बँधी हुई थी। जिससे पल्ला, चद्दर आदि मुँह के आगे लगाने की आवश्यकता न थी।

दण्डीजी एक बात पर और ध्यान दें। भगवान की आज्ञा है कि मुँहपत्ति आठ तह वाली हो। चार या छः तह की मुँहपत्ति से यत्ना बराबर नहीं हो सक्ती और ऐसा करना भगवान की आज्ञा के विरुद्ध है। यह तो तुम और हम सब ही मानते हैं तब दण्डीजी! मुँह के आगे चद्दर डाल कर कोई कैसे बोल सक्त है? क्योंकि बिना हाथ लगाये चद्दर के आठ पट नहीं हो सक्ते। और गौतम स्वामी के तो दोनों हाथ रुके हुए थे। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि गौतम स्वामी के मुँह पर मुँहपत्ति बँधी थी, जिससे गौतम स्वामी दोनों हाथों के रुके रहने पर भी मार्ग में खड़े रहकर उत्तर दे सक्ते थे।

दण्डीजी आगे पृष्ठ १३ में लिखते हैं कि—"ढूंढिये कहते हैं कि मुँह पर बांधे सो मुँहपत्ति, और हाथ में रक्खे सो हाथपत्ति। ऐसी २ कुयुक्तिए लगाकर भोले जीवों को भ्रम में डालते हैं। सो भी उत्सूत्र प्ररूपण ही है, क्योंकि देखो रज को दूर करने के काम मे आने वाले को रजोहरण कहते हैं, उसको बगल मे रक्खे तो भी रजोहरण ही कहेंगे परन्तु बगल पुच्छ कभी नहीं कह सक्ते।"

दण्डीजी! श्वे० स्थानकवासी जैन साधु ऐसा कहते हैं कि मुँह पर बांधे सो मुँहपत्ति और हाथ में रक्खे सो हत्थपत्ति है, यह बिलकुल सही है। क्योंकि काम से नामकरण की प्रथा आज से नहीं, सृष्टि के आदि-काल से चली आरही है। जैसे राजा को राजा इसलिये कहते हैं कि वह प्रजा को रंजन करता है और भूपाल इसलिये कहते हैं कि वह पृथ्वी को पालता है। अँगरखी का काम अङ्ग की रक्षा करना और चोड़लपट्ट नाम इसलिये दिया गया कि वह चोले (शरीर) को ढँकता है। ऐसे ही मुँह पर वस्त्र बाधने से उस वस्त्र को मुहपत्ति कहते हैं।

को त्याग चद्दर मुँह के आगे देने की कुतर्क लगा भगवद् आज्ञा के विरो-धक न बने और उत्सूत्र प्ररूपणा न करें।

अस्तु, थोडी देर के लिये मान लिया जाय कि चद्दर से मुँह ढका तो उस समय एक हाथ अयवन्ता पकड़े थे, दूसरे में पात्रादि थे, फिर बिना हाथ की सहायता के कम्बली मुँह के आगे कैसे दी? अगर यह कहोगे कि अँगुली थोडी देर के लिये अयवन्ता से छुडा लिया होगा, तो यह कहना भी तुम्हारा निर्मूल है। क्योंकि महलों में जाते हुए थोडी देर के लिये अँगुली छुडाई ऐसा मूल सूत्र मे कहीं नहीं है।

यदि ऐसा कहोगे कि झोली वाले हाथ मे चद्दर कम्बलादि मुँह आगे दिये थे, क्योंकि झोली मे भोजनादि नहीं आये थे तो ऐसा कहना भी निम्नोक्त पाठ से मिथ्या ठहरता है, देखिये मूल पाठ —

"ततेणं भगवं गोयमे पोलासपुरे नयरे उच्चनीय जाव अडमाणे इदट्ठाणस्स अदूरसामंतेणं वीतिवयति।"

अन्तकृत सूत्र वर्ग ५ अध्याय, १५

अर्थात्—भगवद्गौतम स्वामी पौलासपुर नगर मे आहार के लिये "उच्चनीय" धनाढ्यों एवम् गरीबों के घरों मे गौचरी करते हुए इन्द्रस्थान (जो न ज्यादा दूर और न अति निकट) जहां अयवन्ता कुमार खेल रहे थे। अब कहिये, ढूंढकजी! जब वे अन्य घरो मे गौचरी जाते हुए आरहे थे तो क्या उनके पात्रो मे भोजन नहीं आया था? जिससे उन्होंने झोली वाले हाथ मे मुँह के आगे चद्दर का पल्ला दे दिया? कभी नहीं, ऐसी मान्यता ढूंढक लोगों की निर्मूल है। गौतम स्वामी अन्य घरो मे गौचरी करते हुए आरहे थे जिससे उनके पात्र में भोजन अवश्य आया होगा, तब भोजन के पात्र जिस हाथ मे थे उसमे मुँह आगे चद्दर का पल्ला कैसे दिया होगा? इससे सिद्ध है कि गौतमस्वामी के मुँह पर मुँह

लिया जाता है उसी के अनुसार उसका नामकरण भी होता है। यह तो नहीं हो सक्ता कि नाम और और काम कुछ और ही करें। यदि ऐसा नाम रक्खा भी जाता है तो वह संसार का घृणाधार बनता है। जैसे अगरखी, मुख्यत अंग में पहिनी जाती है, चाहे वह स्नान आदि कार्य के समय अंग से निकाल कर रखनी जाय, तथापि उसको अगरखी ही कहेंगे। और जब अगरखी नाम देकर हमेशा सिर पर ही धारण करे तो उसे अगरखी कौन कहेगा? ऐसेही हमेशा हाथ में रहने वाली को मुँहपत्ति नहीं कह सक्ते, मुँहपत्ति जब ही कहलायगी जब मुँह पर बांधी जायगी।

इस पर दण्डी लोग कहते हैं कि रजोहरण को बगल पुच्छ क्यों न कहा जाय? क्योंकि वह बगल में रहता है। ऐसा कहना दण्डियों का व्यर्थ प्रलाप है। क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि कार्य की विशेषता एवम् मुख्यता से नामकरण होता है। रजोहरण रज दूर करता है इसी विशेषता से उसे गणधरों ने भी रजोहरण कहा। बगल में रहना रजोहरण का मुख्य काम नहीं, गौण काम है। इसलिये इसका नाम बगलपुच्छ नहीं हो सक्ता। इसी तरह मुँह पर बांधने की मुख्यता और विशेषता के कारण ही मुखवस्त्रिका नाम दिया गया है। पर जब आठों प्रहर मुख्यत हाथ में रखी जाती है तो सृष्टि के नियम विरुद्ध गौण काम से मुँहपत्ति नाम कैसे दे सक्ते हैं। उसे तो हाथपत्ती ही कहना पडेगा।

यदि तुम कहोगे कि "नैगमादि नय की अपेक्षा से जब मुँहपत्ति के लिये वस्त्र याचा जाता है तो उसे भी मुँहपत्ति कहने का उल्लेख है।"

दण्डीजी, यह सही है पर सातवीं नयवाला तो जब ही उसे मुँहपत्ति कहेगा, [illegible] पर [illegible] जावेगी। वरना वह तो वस्त्र का टुकड़ा हो [illegible] मानते? जैन धर्म

हां ! इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं कि भोजन करने के समय या जल पीने के समय मुहपत्ति को मुह से खोलकर अलग रखनेपर भी उसको मुहपत्ति ही कहेंगे, परन्तु जो भोजन, जल, खाने, पीने के सिवाय अन्य समय में भी मुँह पर नहीं बाधते उस वस्त्र को मुहपत्ति कैसे कह सक्ते हैं ?

दण्डीजी इस युक्ति को काटने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि "रज को दूर करने वाले को रजोहरण कहते हैं पर बगल में रखने से बगल पुन्छ नहीं कह सक्ते।"

दण्डीजी ! यही कथन हमारा भी है। जब वह रज को दूर करता है तो उसके काम से उसका नाम रजोहरण हुआ, अगर वह रज दूर न करता तो रजोहरण नाम कैसे होता ? वह बगल में तो जबही रक्खा जाता है जब चलने फिरने का काम पड़ता है। शेष समय तो आवश्यक्ता पड़ते ही उससे रज निकालने का काम ही लिया जाता है। रात को सोते समय बगल में नहीं रक्खा जाता। दिन में स्वाध्याय आदि करते समय रजोहरण पृथ्वी पर पड़ा रहता है तब कहिये दण्डीजी उसे बगल-पुच्छ कैसे कह सक्ते हैं ? उसके मुख्य काम रज दूर करने के कारण ही उसका नाम रजोहरण पड़ा। इसी तरह मुहपत्ति का मुख्य काम मुँहपर बाधना है, जिससे जीव रक्षा हो। सिर्फ खान पान के समय को छोड़कर उसके नाम से स्पष्ट झलकता है कि वह मुह पर बांधी जानी चाहिये। यदि इसमें यह भाव होते कि मुहपत्ति मुख्य हाथ में रहे तो गणधर व कोष वाले इसे हाथ पत्ति ही कहते क्योंकि मुह के आगे तो वह सिर्फ बोलने के समय ही आती, उसका मुख्य काम हाथ में रहना रहता। हाथ में रहने के कारण मुँहपत्ति नाम शोभा नहीं देता। जैसे अग रक्षिका, अग में ही पहनते हैं इसी विशेषता के कारण उसका नाम अग रक्षिका है।

संसार का यह अटल नियम है कि प्राय जिस वस्तु से जो कार्य

दण्डीजी ! तनिक स्वार्थ के लिये सूत्र की उत्सूत्र प्ररूपणा करते नहीं डरते हो ! जिसमे कितने चिकने कर्मों का बध होता होगा । सिर्फ लोगों को भ्रम मे डालने के लिये ऊटपटांग लेख लिख हास्यास्पद के भागी बनते हो इसकी भी कुछ परवाह है ? दण्डीजी ! ध्यान मे रजोहरण भी कुछ काम नहीं देता परन्तु उसका पास रहना इसी प्रकार मुँहपत्ति चाहे ध्यान के समय कुछ उपयोग मे न आती हो परन्तु उसका मुह पर बँधे रहना नितान्त आवश्यक है । भगवान के फरमाये मुताबिक रजोहरण और मुँहपत्ति साधु के चिन्ह होनाही जरूरी है इसके बिना पहचान होगी भी कैसे ?

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं —

"कोई २ ढूंटिये ऐसा भी कुतर्क करते हैं कि सूत्रो मे मुँहपत्ति चली है परन्तु बांधने का नहीं लिखा वैसे ही हाथ में रखना भी नहीं लिखा यह भी कहना ढूंटियों का प्रत्यक्ष झूठ है ।"

दण्डीजी ! जो मुँहपर मुँहपत्ति बाध रहे है क्या वे ऐसा कह सक्ते हैं कि बाधना नहीं लिखा ? क्या कोई भोजन कर रहा हो वह कह सक्ता है कि मैं भोजन नहीं करता ? फिर मुह पर मुँहपत्ति बाधने वाले स्था० जैन साधु ऐसा कभी नहीं कहसके कि "शास्त्र मे मुहपत्ति चली है परन्तु बांधना नहीं लिखा" यह तो दण्डी लोगो की मायावी चाल है और भोले लोगो को बहकाने का साधन है ।

आगे चलकर दण्डीजी ने पृष्ठ १४ मे भगवती सूत्र और शकेन्द्र का अधिकार बताकर हाथ मे मुहपत्ति रखने की सिद्धि के लिये फिर भी चेष्टा की है इसका उत्तर हम पहिले लिख चुके हैं । हम उसी विषय पर बार २ पिष्ट पेषण करना और पाठकों का व्यर्थ समय लेना ठीक नहीं समझते ।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते है —

"आचारग सूत्र मे साधु को खासी, उवासी, छींक करते समय

तो सात ही नय मानते हैं एक नय नहीं और जो एक नय मानता है वह मिथ्यात्वी समझा जाता है। अगर दण्डी लोग एक नय में ही काम चला सके हों तो बात ही दूसरी है नहीं तो सिर्फ नैगम नय पकड़ बैठना अज्ञान दशा है।

आगे दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं कि—

"जब साधु दिन मे या रात्रि में मौन प्रन्ने काउस्सग ध्यान करे अथवा महीना दो महीना वर्ष छ महीना काउस्सग ध्यान में खड़ा रहे उस वक्त बोलने का सर्वथा त्याग होता है तब भी हमेशा मुँहपत्ति बांधी रखने का ढूँढिये कहते हैं सो निष्फल क्रिया की प्ररूपणा करते हैं।"

दण्डीजी ! यह लिखना भी आपका सरासर भूल है, क्योंकि जिस प्रकार आप ध्यान के समय मुँहपत्ति को बेकार समझते हो वैसे ही रजोहरण, चोलपट्टा आदि को समझते होंगे क्योंकि वे वस्तुए भी तो ध्यान के समय काम नहीं आतीं ? अगर ध्यान के समय इन वस्तुओं का पास मे रहना आवश्यक है तो मुँहपत्ति का मुँहपर बँधी रहना भी अत्यावश्यक है। क्या दण्डी लोगों में ध्यान के समय चोलपट्टा, रजोहरण आदि रखने का नियम नहीं है ? अगर है, तो मुँहपत्ति भी बांधने का नियम होना चाहिये और वे ऐसा नहीं करते इसलिये स्वयं निष्फल क्रिया के करने वाले हैं।

दण्डीजी ! लिखते समय अपने हो भाइयो से तो पूछ लेते कि वे ध्यान मे काम नहीं आने वाली वस्तुओं को पास में रखे रहने से क्रिया निष्फल हुई मानते हैं या नहीं ? अगर मुँहपत्ति बांधे रहने से ध्यान की क्रिया निष्फल होती हो तो रजहरणादि ध्यान के समय काम मे न आने वाली वस्तुओं से भी क्रिया निष्फल हुई मानना पडेगा। इस प्रकार आपने अपनी क्रिया पर भी पानी फेर दिया।

तो क्या जिस प्रकार मुँह खुला मानते हो वैसा गुदा द्वार भी खुला मानोगे ? तो फिर दण्डी जी पीत वस्त्र धारियों को हमेशा नग्न ही रहना चाहिये। क्यों के तुम्हारी मान्यतानुसार खुले मुँह होने से आडा हाथ लगाने को कहा तो "वायगिसग्गेण" के समय चोलपट्टा (अधोपट) भी न पहने होने के कारण आडा हाथ लगाने को कहा होगा।

दण्डीजी ! गुरु गम्यता से प्रथम सूत्र पढ़कर बाद अर्थ करने बैठें। मन-गढन्त विचारों को विद्वानों के समक्ष प्रकट करना दण्डी लोगों की बडी अज्ञानता है। दण्डीजी ! उपरोक्त सूत्र से साफ प्रकट है कि जिस प्रकार चोलपट्टा होने पर भी गुदा द्वार से वायु निकलने पर आडा हाथ दिया जाता है वैसे ही मुँहपत्ति बँधी रहने पर भी यत्ना के लिये आड़ा हाथ मुँह के आगे लगाना सूत्रकार ने फरमाया है।

सिर्फ प्रश्न यह रहा कि आडा हाथ क्यों लगाया जाता है ? उत्तर स्पष्ट है कि जब उबासी, छींक, खासी आदि चलती है तब मुख कोप इतना बड़ा हो जाता है कि मुँहपत्ति से बराबर यत्ना नहीं हो सक्ती, इसीलिये सूत्रकार ने छींक, खासी, उवासी आदि करते समय पूर्ण यत्ना करने वास्ते मुँहपत्ति के बँधे रहने पर भी मुँह पर आडा हाथ देने का फरमाया। इसी प्रकार गुदा द्वार पर चोलपट्टा होते भी जब वायु निकलती है तब इतने जोर से निकलती है कि केवल चोलपट्टा उस वायु से वायुकाय के जीवों की रक्षा नहीं कर सक्ता। भगवान सूत्रकार इसीलिये आड़ा हाथ लगाने को फरमा गए हैं।

यदि दण्डीजी कहेंगे कि नाक किस द्वारा ढाके ? दण्डीजी ! यह बाल तर्क है। दोनों हाथों से क्या मुँह और नाक नहीं ढँक सक्ता है ? दण्डीजी ! छींक, उवासी के समय दोनो हाथो से अच्छी तरह मुँह और नाक ढँक कर यत्ना कर सक्ते हैं।

अपना मुख ढांक लेने को कहा है। इसीसे मुहपत्ति भी हाथ मे रखना ठहरता है। यदि मुँहत्ति बाधी हुई होवे तो खासी छाकादि करते समय मुख ढँकने को सूत्रकार कभी नहीं कहते।"

दण्डीजी ! आपका कथन अक्षरश सत्य है, हम भी मानते हैं कि आचारग सूत्र में खासी, उवासी, छींक के समय हाथ द्वारा यत्ना करना लिखा है परन्तु साथ में यह भी तो लिखा है कि "वायनीसग्गेण" जब अपान द्वार (गुदा) से वायु निकले उस समय भी भगवान ने अपान द्वार के ऊपर आडा हाथ लगाकर यत्ना करने का कहा है। देखो आचारग सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन के तीसरे उद्देशे में —

"जे भिक्खु वा भिक्खुणी वा ऊसासमाणे वा णीसासमाणे वा क समाणे वा छीयमाणे वा जम्भायमाणे वा उड्डोएण वा **वायणिसग्गेण** वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसय वा पाणिणा परिपिहित्ता त ओ संजयामेव ऊससेज्ज वा जाव वायणिसगं वा करेज्जा।"

अर्थात्—साधु, साध्वी, श्वास, निश्वास, खास, छींक, उवासी, डकार आदि लेते हुए एवम् अपान द्वार (गुदा) से वायु छूटने समय पहिले ही हाथों द्वारा यत्ना करके बाद उश्वास, निश्वास, डकार लेवे और अपान द्वार पर हाथ लगाकर वायु निकाले।

दण्डीजी ! जरा अपना लेख तो देखो जिससे तुम्हे अपनी अज्ञानता का भान हो जाय, क्योंकि जब मुहपत्ति का निषेध करते हो तो चोलपट्टे का भी निषेध करना पड़ेगा। जैसे मुह पर मुहपत्ति न होने के कारण आडा हाथ देने का सूत्रकार ने कहा, वैसेही "वायणिसग्गेण" अपान द्वार से वायु निकलते समय भी आडा हाथ लगाने को कहा है

क्या है ? उन्हें यह भी भान नहीं रहता कि यह लेख हमारे ही लिये पैरों कुल्हाड़ी का काम कर रहा है। भला ! हमेशा मुँहपत्ति बाँधने से कहीं अधूरी क्रिया हो सक्ती है ? नहीं, अधूरी क्रिया तो यह है कि "मुँहपत्ति न बाँधकर खुले मुँह बोलते रहना।" और ऐसा दण्डी लोग अक्सर किया करते हैं। हमें स्वयं अनुभव है कि दण्डी लोग मुंह पर मुँहपत्ति न बाँधकर खुले मुँह बातें करने लग जाते हैं, और जो उनसे परिचित हैं वे भी जानते ही होंगे कि पीत वस्त्रधारी दण्डी खुले मुंह बोलते प्रभु आज्ञा का विचार नहीं रखते। देखो, स० १८७९ के साल में इन्दौर शहर के पीलिये खाल की सड़क पर दण्डी मणिसागरजी के गुरुभाई मगनसागर जी से पूछा गया था कि तुम्हारी मुँहपत्ति कहा है ? तो चट उन्होंने कमर से निकाल कर दिखादी। हमें बड़ी हँसी आई और हमने कहा कि क्या बाँधना छोड़ने के साथ २ हाथ में रखना त्याग कमर में लटका रखने का कोई नया सिद्धान्त निकाला है ? उसी समय ज्ञानसागरजी से पूछा कि आपकी मुँहपत्ति कहां है तो आपने फरमाया कि जहां हम ठहरे हैं वहीं वह पड़ी है। ऐसे एक नहीं अनेकों ज्वलन्त उदाहरण दण्डी लोगों के खुले मुँह बोलने के प्रस्तुत हैं, फिर कहिये अधूरी क्रिया वाले दण्डी रहे या श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु ? इससे स्पष्ट है कि जो मुँहपत्ति कमर में, उपाश्रय में एवम हाथ में रखते हैं उन्हीं की अधूरी क्रिया है और वे इनके दोषी हैं।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में तथा पन्द्रहवे पृष्ठ में लिखते हैं —

"छींकादि करते समय या दुर्गन्धी की जगह नाक मुंह दानों की यत्ना हो सकती है। और मुँह पर से सचित रज वगैरह की प्रमार्जना भी हो सक्ती है, अगर बांधी हुई होवे तो यह सब कार्य नहीं बन सके।

दण्डीजी ! मुँहपत्ति न बाँधकर उससे अन्य कार्य लेने की उद्घोषणा कौन से सूत्र के न्याय से की ? जब तो यह भी मानना पड़ेगा कि दण्डी

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं,—

"रजोहरण और मुँहपत्ति यह दोनों उपकरण जीवों की रक्षा करने के लिये ही साधु रखते हैं इस बात से ही हाथ में रखना स्वय सिद्ध है।

दण्डीजी ! कुछ सोचिये ! साधु के ये दोनो उपकरण जीव रक्षा के है तो अन्य उपकरण क्या हिंसा के हैं ? सूत्र मे प्रतिपादन किया है कि साधु के पास जितने भी उपकरण हैं वह जीव रक्षा वास्ते हैं। उनमे हिंसा कभी नहीं हो सक्ती। केवल दो ही उपकरण जीव रक्षा के निमित्त मानना दण्डी लोगों की गहरी अज्ञानता है। दण्डीजी ! रजोहरण के साथ मुँहपत्ति की समानता कर हाथ में रखना सिद्ध फरमाते हो सो क्या पोपाबाई का राज्य है ? कि खर और गुड़ एक भाव बिके ? हां, दोनों उपकरणों के कार्य एक से होते तो दण्डीजी का कहना यथार्थ समझा जाता। किन्तु ऐसा है नहीं। रजोहरण तो पृथ्वी पर मार्जन करने वास्ते है। अगर मुँहपत्ति भी रज दूर करने के उपयोग मे आती होती तो एकसा कार्य समझ कर हाथ मे रखना सिद्ध होजाता। परन्तु मुँहपत्ति से ऐसा तो कोई कार्य नहीं होता तो फिर मुँहपत्ति हाथ में रखना कैसे सिद्ध हो सक्ता है ?

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते है —

"हमेशा मुँहपत्ति बाधी रखने से सर्वज्ञ शासन मे अधूरी क्रिया करने का दोष आता है।"

दण्डीजी ! स्वे० स्थानकवासी जैन साधु हमेशा मुँहपत्ति बाँधते हैं और तुम दण्डी लोग व्याख्यान आदि के समय मुहपत्ति बाधते हो तो क्या तुम भी अपने ही कथनानुसार अधूरी क्रिया करने के दोषी न हुए ?

प्रिय पाठको ! दण्डीजी लिखने बैठते क्या हैं ? और लिखा जाता

क्या है ? उन्हें यह भी भान नहीं रहता कि यह लेख हमारे ही लिये पैनी कटार का काम कर रहा है। भला ! हमेशा मुहपत्ति बांधने ने कहीं अधूरी क्रिया हो सकती है ? नहीं, अधूरी क्रिया तो यह है कि "मुंहपत्ति न बांधकर खुले मुह बोलते रहना।" और ऐसा दण्डी लोग अक्सर किया करते हैं। हमें खब अनुभव है कि दण्डी लोग मुह पर मुहपत्ति न बांधकर खुले मुह बातें करने लग जाते हैं, और जो उनमें परिचित हैं वे भी जानते ही होंगे कि पीत वस्त्रधारी दण्डी खुले मुह बोलते प्रभु आज्ञा का विचार नहीं रखते। देखो, स० १८७९ के साल में इन्दौर शहर के पीपलिये पाल की सड़क पर दण्डी मणिसागरजी के गुरुभाई मंगलसागर जी से पूछा गया था कि तुम्हारी मुँहपत्ति कहा है ? तो चट उन्होंने कमर से निकाल कर दिखादी। हमे यहीं हँसी आई और हमने कहा कि क्या बांधना छोड़ने के साथ २ हाथ में रखना त्याग कमर मे लटका रखने का कोई नया सिद्धान्त निकाला है ? उसी समय ज्ञानसागरजी से पूछा कि आपकी मुँहपत्ति कहा है तो आपने फरमाया कि जहा हम ठहरे हैं वहीं वह पड़ी है। ऐसे एक नहीं अनेको ज्वलन्त उदाहरण दण्डी लोगो के खुले मुँह बोलने के प्रस्तुत हैं, फिर कहिये अधूरी क्रिया वाले दण्डी रहे या श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु ? इससे स्पष्ट है कि जो मुँहपत्ति कमर में, उपाश्रय मे एवम् हाथ में रखते हैं उन्हीं की अधूरी क्रिया है और वे इसके दोषी हैं।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे तथा पन्द्रहवे पृष्ठ मे लिखते हैं —

"छींकादि करते समय या दुर्गन्धी की जगह नाक मुह दोनो की यतना हो सक्ती है। और मुँह पर से सचित्त रज वगैरह की प्रमार्जना भी हो सक्ती है, अगर बांधी हुई होवे तो यह सब कार्य नहीं बन सक्ते।

दण्डीजी ! मुँहपत्ति न बांधकर उससे अन्य कार्य लेने की उद्घोषणा कौन से सूत्र के न्याय से की ? जब तो यह भी मानना पड़ेगा कि दण्डी

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं —

"रजोहरण और मुँहपत्ति यह दोनों उपकरण जीवों की रक्षा करने के लिये ही साधु रखते हैं इस बात से ही हाथ में रखना स्वय सिद्ध है।

दण्डीजी ! कुछ सोचिये ! साधु के ये दोनों उपकरण जीव रक्षा के है तो अन्य उपकरण क्या हिंसा के हैं ? सूत्र मे प्रतिपादन किया है कि साधु के पास जितने भी उपकरण हैं वह जीव रक्षा वास्ते हैं। उनसे हिंसा कभी नहीं हो सकती। केवल दो ही उपकरण जीव रक्षा के निमित्त मानना दण्डी लोगों की गहरी अज्ञानता है। दण्डीजी ! रजोहरण के साथ मुँहपत्ति की समानता कर हाथ में रखना सिद्ध फरमाते हो सो क्या पोपाबाई का राज्य है ? कि खर और गुड़ एक भाव बिके ? हा, दोनो उपकरणो के कार्य एक से होते तो दण्डीजी का कहना यथार्थ समझा जाता। किन्तु ऐसा है नहीं। रजोहरण तो पृथ्वी पर मार्जन करने वास्ते है। अगर मुँहपत्ति भी रज दूर करने के उपयोग मे आती होती तो एकसा कार्य समझ कर हाथ में रखना सिद्ध होजाता। परन्तु मुँहपत्ति से ऐसा तो कोई कार्य नहीं होता तो फिर मुहपत्ति हाथ में रखना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते है —

"हमेशा मुँहपत्ति बाधी रखने से सर्वज्ञ शासन मे अधूरी क्रिया करने का दोष आता है।"

दण्डीजी ! श्वे० स्थानकवासी जैन साधु हमेशा मुँहपत्ति बाँधते हैं और तुम दण्डी लोग व्याख्यान आदि के समय मुहपत्ति बाधते हो तो क्या तुम भी अपने ही कथनानुसार अधूरी क्रिया करने के दोषी न हुए ?

प्रिय पाठको ! दण्डीजी लिखने बैठते क्या हैं ? और लिखा जाता

दण्डीजी ! इस प्रकार लिखकर तो यही बताता थी है । क्योंकि जब दण्डीजी के कथनानुसार प्राचीन ग्रन्थो में लिखा होता तो मुँहपत्ति मुँह पर बाधने वाले साधु उन ग्रन्थों का प्रमाण कभी नहीं रखते । भला, ऐसा कौन है कि जो अपना विरोधी प्रमाणित होते हुए उन्हींको प्रमाणरूप समझकर सिद्धि चाहता हो॥ जल में से मक्खन नहीं निकल सकता । मक्खन निकलेगा तो दूध से ही । इसी प्रकार उन ग्रन्थों में मुँहपत्ति मुँह पर बाधने का प्रमाण है तभी तो ये प्रमाण देते हैं ? यदि वे प्रमाण सिद्ध नहीं होते तो हम उन ग्रन्थों व प्रमाणों के नाम तक नहीं लेते ।

दण्डीजी ! क्या यह प्रमाण प्रमाण नहीं है ? क्या इसमें मुँहपत्ति मुँह पर बाधना सिद्ध नहीं होता ? जरा आखें खोलकर देखो तो 'देवसूरि' प्रणीत समाचारी ग्रन्थ में क्या लिखा है ?

"मुख वस्त्रिका प्रतिलेख्य मुखे बध्वा"

प्रिय पाठको ! मुँह पर मुँहपत्ति बाधने के प्रमाण में अब कौनसी त्रुटि रह गई ? देवसूरिजी ने समाचारी में स्पष्ट लिख दिया है कि— (मुख वस्त्रिका) मुख वस्त्रिका को (प्रतिलेख्य) देखकर (मुखे) मुँह पर (बध्वा) बाधकर ।

दण्डीजी ! सच बात कभी छिप नहीं सकती । चाहे सच्ची बात उसके विरोध में क्यों न आती हो परन्तु सच बात का उल्लेख हो ही जाता है । इसी प्रकार दण्डी लोग मुँहपत्ति बाधने के कट्टर विरोधी होने पर भी उनके मुँह से भी सच बात निकल जाती है । दण्डी जी उस सच बात को छिपाने के लिये नवीन संस्कृत टीका बनाकर उन प्रमाणो पर लीपा पोती करना चाहते हैं तो क्या सच बात छिप सकती है ? कभी नहीं, केवल झूठा प्रपंच रचकर भोले लोगो को भ्रम में डालने का जो आपने प्रयत्न किया है वह शास्त्र प्रतिकूल है । भोले लोग इन पंक्तियों

लोग जो दण्डा आकर्ण पर्य्यन्त रखते हैं उससे शरीर के अवलम्बन के साथ २ मार कूट का काम भी तो लेते होंगे। दण्डीजी! मुँहपत्ति तो मुह पर ही बाधी जाती है। अगर नाक आदि ढकने का कार्य करना हो तो चद्दर आदि से कर सक्ते हैं। अगर मुँह पर सचित रज आदि हो तो उसको (गुच्छग) छोटी सी प्रमार्जिनी रहती है उससे निकाल सक्ते हैं। अगर मुँहपत्ति से रज दूर करने का कार्य ले लोगे तो छोटी प्रमार्जिनी रखने की साधु को क्या आवश्यक्ता थी? भगवान स्वय फरमाते है कि छोटी प्रमार्जिनी अलग नहीं रखी जाय। अतएव सिद्ध है कि मुँहपत्ति मुह पर ही बाधी जानी चाहिये और जो ऐसा नहीं करते हैं वे अधूरी क्रिया के कर्त्ता हैं।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे प्रवचन सारोद्धार, ओघ-निर्युक्ति, यति दिनचर्या, योग शास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में और साधु-विधि प्रकाश में मुँह पर मुँहपत्ति बाधने का स्पष्ट आशय होते हुए भी खण्डन के लिये मूल मे न रहते हुए भी नवीन सस्कृत टीका बनाकर प्रमाण में रखते हैं तो बुद्धिमान उस मन-गढ़न्त नवीन सस्कृत टीका को प्रमाणित कैसे मान सक्ते हैं? जब मूल मे हाथ में रखने का पाठ ही नहीं है तो सस्कृत टीका मे हाथ में रखने का अर्थ कैसे आजायगा? क्या पिता के अभाव में पुत्र की उत्पत्ति हो सक्ती है? नहीं, ऐसे ही मूल के बिना सस्कृत बना देना भवसागर में गोते लगाने सा है। बुद्धिमान भव भ्रमण से डर ऐसा कदापि नहीं कर सक्ते। दण्डीजी को भव भ्रमण का कुछ भय नहीं होगा तभी ऐसी मन गढ़न्त सस्कृत टीका बनाकर प्रमाणाभाव मे रखदी। देखो आप लिखते है —

"भाषमाणोमुंख मुख वस्त्रिका दीयते तथा मुख वस्त्रिका कराग्रा मुखाग्र धृत्वा"

इत्यादि। "इस प्रकार मुँहपत्ति हाथ में रखना तथा बोलते समय मुह आगे रखकर बोलना।"

कपोल कल्पना से थूक में असंख्य मनुष्य उत्पन्न होना बतलाते है यह उनकी गहरी गलती हैं।

विचारशील पाठको ! जब दण्डीजी थूक में समय समय पर असंख्य मनुष्यों की उत्पत्ति बताते हैं तो फिर व्याख्यान देते समय ये मुँह पर मुँहपत्ति क्यों बांधते हैं ? और पूजा करते समय भी कई घण्टे कपडा लपेट रहते हैं और कुछ पुजेरे बोलते भी जाते हैं। तब दण्डीजी की मान्यता के अनुसार दण्डी लोग और पुजेरे सबही हिंसक ठहर जायँगे। यदि पीत वस्त्रधारी यह कहेंगे कि जो हम व्याख्यान के समय एवम् पूजा के समय मुह पर बांधते हैं तो नाक पर भी बांध लेते हैं इसलिये होठों से दूर रहने के कारण उस वस्त्र के थूक नहीं लगता। यह भी उन दण्डियों का कहना मिथ्या है। क्योंकि व्याख्यान एवम् पूजा के समय मुँह सहित नाक पर वस्त्र बांधने से भी थूक के जरे उडे बिना नहीं रह सक्ते। सिवाय यह भी आम बात सिद्ध है कि कभी २ थूक के बिन्दु एक एक हाथ दूर पर भी उड़ जाते हैं। तो फिर मुँह सहित नाक पर वस्त्र बांध लेने से क्या उस वस्त्र पर थूक के कण नहीं लगेंगे ? थूक लगेगा तो दण्डियों के कथनानुसार तो व्याख्यान व पूजा के समय थूक में समय २ पर असंख्य समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे। इसलिये दण्डी लोग थूक में जीवों की उत्पत्ति बताने के कारण असंख्य समूर्च्छिम मनुष्यों के घातक ठहर जायँगे।

विचारशील सज्जनो ! दण्डी लोग कैसे हठाग्रही हैं कि वे स्वयं मुँहपर मुँहपत्ति बांधते है और हमेशा बांधने वाले पर दोषारोपण करते हैं। अगर थूक में जीवोत्पत्ति होती तो तुम व तुम्हारे अनुयायी पूजा व व्याख्यान के समय मुँह पर मुहपत्ति या वस्त्र क्यों बांधते ? इधर उधर ढूंढने कुछ न मिला तो यह ही एक गप्प लिख मारी। लेख लिखते समय अपने घर की तलाश तो करलेनी थी। परन्तु दण्डी मणिसागरजी लिखते

की "मुख वस्त्रिका कराभ्या मुखामे धृत्वा" नवीन संस्कृत टीका में न फँसकर मूल पाठ देखें।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं—

"हमेशा मुँहपत्ती बाधी रखने से बोलते समय मुँहपत्ति के थूक लगता है, मुँहपत्ती गीली होती है, उसमें समय २ असख्य पंचेन्द्रिय समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। यह पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का दोष हमेशा मुँहपत्ति बाधने वाले ढूढिया को लगता है।"

दण्डीजी! इस प्रकार लिखकर तो तुमने बड़ी ही मूर्खता प्रकट की है क्योंकि थूक में असख्य समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं ऐसा विधायक प्रमाण किसी भी सूत्र मे नहीं आया है। हा, पन्नवणाजी सूत्र मे समूर्च्छिम उत्पन्न होने के १४ स्थान बतलाए हैं। जरा उस पाठ को देखिये—

"उच्चारेसु वा पासवणेसुवा खेलेसु वा सिंघाणएसु वा वंतेसु वा पीत्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गल परिसाडेसु वा विगय जीव कलेवरेसु वा थीपुरस संजोएसुवा, णगर निद्धमणे सुवा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणे सु वा एत्थणं समुच्छिम मणुसा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखेज्जइ भाग मेताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छ दिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जतीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति।"

अर्थात्—विष्टा, पेशाब, खुरखार, सेड़ा, वमन, पित्त, पीप, खून, वीर्य, वीर्य सूखने पर फिर गीला हो वह वीर्य, मुर्दा, मैथुन, गटर और उपरोक्त एक दूसरे से समिश्रण होने पर इनमें असख्य जीवोत्पत्ति होती। परन्तु थूक का पन्द्रहवा स्थान नहीं बतलाया है तो भी पीत-वस्त्र

कपोल कल्पना से थूक मे असख्य मनुष्य उत्पन्न होना बतलाते है यह उनकी गहरी गलती हैं।

विचारशील पाठको ! जब दण्डीजी थूक में समय समय पर असख्य मनुष्यों की उत्पत्ति बताते हैं तो फिर व्याख्यान देते समय ये मुँह पर मुँहपत्ति क्यों बाधते हैं ? और पूजा करते समय भी कई घण्टे कपडा लपेटे रहते हैं और कुछ पुजेरे बोलते भी जाते हैं। तब दण्डीजी की मान्यता के अनुसार दण्डी लोग और पुजेरे सबही हिंसक ठहर जायँगे। यदि पीत वस्त्रधारी यह कहेंगे कि जो हम व्याख्यान के समय एवम् पूजा के समय मुह पर बाधते हैं तो नाक पर भी बाध लेते हैं इसलिये होठो से दूर रहने के कारण उस वस्त्र के थूक नहीं लगता। यह भी उन दण्डियो का कहना मिथ्या है। क्योंकि व्याख्यान एवम् पूजाके समय मुँह सहित नाक पर वस्त्र बाधने से भी थूक के जरें उडे बिना नहीं रह सक्ते। सिवाय यह भी आम बात सिद्ध है कि कभी २ थूक के बिन्दु एक एक हाथ दूर पर भी उड जाते है। तो फिर मुँह सहित नाक पर वस्त्र बाध लेने से क्या उस वस्त्र पर थूक के कण न ी लगेंगे ? थूक लगेगा तो दण्डियो के कथनानुसार तो व्याख्यान व पूजा के समय थूक मे समय २ पर असख्य समूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे। इसलिये दण्डी लाग थूक मे जीवो की उत्पत्ति बताने के कारण असख्य समूर्च्छिम मनुष्यो के घातक ठहर जायँगे।

विचारशील सज्जनो ! दण्डी लोग कैसे हठाग्रही हैं कि वे स्वय मुँहपर मुँहपत्ति बाधते हैं और हमेशा बाधने वाले पर दोषारोपण करते है। अगर थूक मे जीवोत्पत्ति होती तो तुम व तुम्हारे अनुयायी पूजा व व्याख्यान के समय मुँह पर मुहपत्ति या वस्त्र क्यों बाधते ? इधर उधर ढूढत कुछ न मिला तो यह ही एक गप लिख मारी। लेख लिखते समय अपने घर की तलाश तो करलेनी थी ! परन्तु दण्डी मणिसागरजी लिखते

समय भग की तरंग में लहरें लने लगे होंगे कि जिससे वे अपना बचाव भी न कर सके। अस्तु, पाठक सत्य बात और झूठ बात का निष्कर्ष निकाल लें।

यदि दण्डीजी कहें कि पूजा के समय पुजेरे नहीं बोलते हैं तो यह कहना भी उनका मृषा है। अगर मानलें कि पूजेरे पूजा के समय नहीं बोलते हैं तो क्या खास, श्वास और छींक के समय थूक के कण मुँह पर बँधे हुए वस्त्र को नहीं लगेंगे? गृहस्थ भी छींकते समय मुँह के आगे आड़ा हाथ दे देते हैं या मुँह फेर लेते हैं कि जिससे थूक के छींटे औरों पर न गिरें। इस प्रकार पूजा के समय थूक के छींटे मुँह पर बँधे हुए वस्त्र पर अवश्य लगेंगे और दण्डियों की मान्यतानुसार थूक में असंख्य सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे।

थूक में असंख्य जीवों की उत्पत्ति मानना ही शास्त्र प्रमाण के प्रतिकूल है परन्तु फिर भी उनकी यह मान्यता उन्हीं को बाधा देती है। अतएव थूक अमी में जीवोत्पत्ति मानना भूल है।

आगे चलकर उसी पृष्ठ में दण्डीजी लिखते हैं —

"जीवों की उत्पत्ति के १४ स्थान बतलाये हैं उसमें थूक का १५ वा स्थान नहीं बतलाया, इसलिये थूक में जीवों की उत्पत्ति नहीं होती यह भी ढूंढियों का कहना सर्वथा सूत्र विरुद्ध है। क्योंकि देखो १४ स्थानों में मुख के मैल में तथा सर्व अशुचि पदार्थों में जीवों की उत्पत्ति होना बतलाया है सो थूक मुख का मेल है और अशुचि पदार्थ भी है।"

दण्डीजी! सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति के १४ स्थान ही सूत्र में शास्त्रकारों ने लिखे हैं। पन्द्रहवा नहीं, यदि १४ से अधिक होते तो

"जाव सव्वेसु असुइ ठाणेसु" कह देते, परन्तु ऐसा नहीं कहा। इससे सिद्ध है कि पन्द्रहवा स्थान थूक का जीवो की उत्पत्ति का नहीं है।

अगर थूक मे जीवो की उत्पत्ति होती तो सूत्रकार खेलेसु वा पीत्तेसुवा वंतेसुवा के साथ २ थूक का भी नाम ले लेते। इस पर दण्डीजी कहते हैं कि "सव्वेसु असुइठाणेसु" में थूक सम्मिलित है। परन्तु ऐसा मानना दण्डियों की अज्ञानता है। क्योंकि जब थूक "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" में शामिल हो सक्ता है तो सूत्रकार को "खेलेसुवा, वंतेसुवा" आदि पृथक कहने की क्या आवश्यक्ता थी ? सब अशुचि स्थान में तो श्लेश्म, वमन, पित्त आदि सभी शामिल हो सक्ते हैं क्योंकि ये सब अशुचि के घर एवम् अपवित्र है।

प्रिय महानुभावो ! जब सूत्रकार ने सूत्र में श्लेष्म, वमन, पित्त को पृथक २ समझ उल्लेख किया है तो वे थूक मे जीवोत्पत्ति समझ उसे भी उनके साथ नहीं कह देते ? परन्तु थूक मे जीवोत्पत्ति नही होती है। इसी लिये सूत्रकार ने श्लेष्मादि के साथ थूक का नाम नहीं लिया है। श्लेष्म के समान थूक मे जीवोत्पत्ति मानना दण्डी लोगों की गहरी अज्ञानता है।

यदि दण्डीजी यह कहेंगे कि सब असुचि स्थान मे किसे गिनोगे ?

दण्डीजी आपका यह प्रश्न ठीक है, इसका उत्तर भी लीजिये। सब अशुचि स्थान मे वे ही स्थान आते हैं जो जीवोत्पत्ति के शास्त्रकारों ने फरमाये हैं। उनमें एक दूसरे के मिश्रण से भी जीवोत्पत्ति होती है, जैसे खून और पित्त। ये पृथक रहेंगे तो भी जीवोत्पत्ति के स्थान है और खून और पित्त मिश्रित हो जायँगे तो भी जीवोत्पत्ति मे अन्तर न पड़ेगा।

इस प्रकार "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" १४ स्थान के लिये ही समझिये किन्तु "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" का यह अर्थ नहीं होता कि इन १४ स्थानों

के अतिरिक्त और भी अन्य स्थानों मे सम्मुर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते है। देखो पन्नवणाजी के ३ रे पद मे इस प्रकार उल्लेख है कि —

"एएसिणं भंते । सइंदियाणं एगिंदियाणं वेइंदियाण तेइंदियाणं, चउरिंदियाण पंचिदियाणं अणिं दियाणं कयरे २ हिंतो अप्पा वा बहुआवा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया, विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, अणिदिया अणंत गुणा, एगदिया अणंत गुणा; सइंदिया विसेसाहिया ।"

अर्थात्—गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया कि हे भगवान ! इन्द्रिय वाले, एकन्द्रीवाले, वेइन्द्रीवाले तेंद्रीवाले, चौरिन्द्री वाले, पंचेन्द्रिय वाले और बिना इन्द्रिय वाले इनमे परस्पर कौन न्यूनाधिक है ? इस पर भगवान ने उत्तर दिया कि हे गौतम ! सबसे थोडे पचेन्द्री वाले, इसमे कुछ विशेष चौरिन्द्री वाले, इससे विशेष तेंद्रीवाले, और इससे विशेष दो इन्द्रीवाले, बिना इन्द्रिय वाले अर्थात् बारहवे, तेरहवें और चौदहवे गुण-स्थान के और सिद्ध भगवान दो इन्द्री वाले से अनन्त गुणे हैं। इनसे अनन्त गुणे एकन्द्री वाले और इनसे सइन्द्रिय वाले अनन्त गुणे हैं।

अब यहां यह देखना है कि एकन्द्रिय से सइन्दिया वाले अनन्त-गुणे बतलाए हैं तो क्या पचेन्द्री और अणिन्द्री से स इन्द्री वाले भिन्न हैं ? यदि भिन्न हैं तो वे जीव कौन से ? इस पर से यही कहना पडता है कि सइन्द्री वाले जीव इन्हीं मे हैं, पृथक नहीं। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध भगवान से एकन्द्रिय के जीव अनन्तगुणे बतलाए इससे भी सइन्द्रियवाले अर्थात् एकन्द्री, वेइन्द्री आदि पाच ही इन्द्रिय वाले मिलाते जिनको कि सइन्दी भी कहते हैं तो वे अनन्त गुणे

हैं। पर सइन्द्री कोई पृथक जीव जाति नहीं है। इसी तरह सम्मूर्च्छिम के १४ वें स्थान में "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" कहा है वह पृथक नहीं है। इन तेरहों में एक दूसरे के संमिश्रण होने पर उसमें जो जीवोत्पत्ति होती है वही "सव्वेसु असुइ ठाणेसु" का अर्थ है पर १४ स्थानों से अधिक सम्मूर्च्छिम पैदा होने के स्थान कहना अपनी अज्ञानता का दिग्दर्शन कराना है।

फिर भी देखिये! जब दण्डी लोग थूक में जीव मानेंगे तब उन्हीं के मन्तव्य के अनुसार दण्डी लोग भोजन करते समय असंख्य सम्मूर्च्छिम मनुष्य के भी भक्षक ठहरेंगे। क्योंकि भोजन का केवल-ग्रास मुख में रखते समय या पतली शाक को पीते समय मुँह में अँगुली अवश्य देते ही हैं उस समय अँगुलियों पर थूक लगना अवश्य सम्भवनीय है, जब थूक लगेगा तो दण्डियों की मान्यता के अनुसार समय २ में असंख्य सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे। इसी तरह से थूक लगी हुई वे ही अँगुलियें शाक या हलवे के ग्रास के लगावेंगे उसमें भी समय २ पर सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होंगे और मरेंगे। जिसकी हत्या उन्हीं दण्डियों पर है जो थूक में जीवोत्पत्ति मानते हैं।

विचारशीलो! दण्डियों की यह कितनी भूल है कि वे श्लेष्म के समान थूक को समझकर उसमें जीवोत्पत्ति मान बैठे हैं। यह तो वही कहावत हुई कि कोई किसी से पूछे कि तुम्हारे घर में कितनी स्त्रियां हैं? और वह उत्तर दे कि पांच, माता, बहिन, बेटी, भुआ और मेरी स्त्री, तो क्या पांच स्त्रियां कहने से उन सबके साथ उसका एकसा व्यवहार करना माना जायगा? जो ऐसा मान लगे वे मानने वाले स्वयं महान पापी एवं मूर्ख कहे जायँगे। इसी तरह श्लेष्म के समान थूक में भी जीवोत्पत्ति मान लेना मूर्खता नहीं तो क्या है?

दण्डीजी! तुमने थूक (अमी) को मुख का मैल कहा सो यह तो तुम्हारे मुँह में भरा ही रहता है यदि यह सूख जाय तो तुम दण्डी लोग

जिन्दे भी नहीं रह सकते हो। इस थूक (श्मी) के बिना तो दण्डियों को स्मशान का मार्ग ही ढूंढना पड़ेगा, दण्डियो ! कहने के पहिले कुछ सोचाकरो और बात लिखने का साहस कियाकरो। नहीं तो लोग तुम्हारा उपहास करेंगे व मूर्खता प्रकट होगी।

दण्डीजी ! तुमने थूक (श्मी) को अशुचि पदार्थ लिखा, तो क्या तुम्हारा मुँह दिन रात अशुचि पदार्थ से भरा ही रहता है ? और इस अपवित्र पदार्थ भरे मुँह से जप, स्वाध्याय, ईश्वरकीर्तन आदि करते हो ? यह तुम्हारी कितनी धृष्टता है ? क्योंकि उस परम पवित्र परमात्मा का नाम स्मरण थूक अशुचि भरे हुए मुँह से करते हो यह विचारणीय बात है।

विचारिये ! दण्डियों की कितनी अज्ञानता है कि जो बात कभी हो ही नहीं सक्ती उसे सिद्ध करने के लिये मन-गढन्त कई झूठे विचार व तर्क पैदा कर लेते हैं। पर क्या ऐसी थोथी बाते सिद्ध हो सक्ती हैं ? कभी नहीं, थूक में जब जीवोत्पत्ति ही नहीं होती तो फिर उत्पत्ति सिद्ध कैसे हो सक्ती है ?

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ १६ में लिखते हैं,—

"तपस्वी लब्धि वाले मुनि का थूक लगाने से कुष्टादि रोग चले जाते हैं, यह बात जैन समाज में प्रसिद्ध है और उववाई आदि मूल आगमों में 'खेलासही पत्ताए' इस पाठ की व्याख्या में प्रकटपने कही है"

दण्डीजी ! तुम्हारे ऐसा लिखने से क्या जीवोत्पत्ति सिद्ध होगई ? उववाई आदि मूल का प्रमाण थूक में जीवोत्पत्ति मानने के विषय का है, थूक लगाने से कुष्टादि रोग चले जाते हैं इससे थूक में जीवोत्पत्ति होती है क्या यह सिद्ध होता है ? दोनों में कितना अन्तर है पाठक स्वयं सोचें, सूत्रों में थूक ही नहीं परन्तु लब्धधारी मुनियों के श्लेष्म, जल, म्हाग आदि सबही पदार्थ औषधि में बदकर हितप्रद हैं जरा उसी सूत्र के मूल पाठ को देखिये —

"सव्वसोही पत्ताए"

अर्थात्—सबही औषधि के समान हैं। लब्धीधारी मुनि को स्पर्श की हुई हवा तक रोगी के रोग दूर करने में काम आसक्ती है, तो दण्डीजी

की मान्यता इसमें भी समूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति कहेगी ? दण्डीजी! सूत्र के प्रबल विरोधी मत बनिये और थूक, श्लेश्म एक न समझिये।

यदि दण्डी लोग यह कहेंगे कि "खेलोसही पत्ताण" का अर्थ थूक उववाईजी सूत्र में फरमाया है यह भी समझ गलत है। क्योंकि कोषों एवम् सूत्रों में "खेलोसही पत्ताण' का अर्थ जगह २ श्लेष्म ही किया है। चाहे जिस प्रकार पंडित से पूछा जाय वह श्लेष्म को थूक कभी नहीं कहेगा। तो तुम श्लेष्म को थूक कैसे मानते हो ? अगर तुम कहोगे कि लब्धीधारी मुनि का थूक सब रोगों को हरता है तो थूक किस शब्द का अर्थ है ? दण्डीजी! थूक ही क्या, नाक का सेड़ा, नाक का जल, श्लेष्म, मुख की लार, मुख का जल, थूथ, झाग, कफ आदि "सव्व-सोही पत्ताण" सब लब्धि धारी मुनियों का औषधि रूप में काम देता है केवल थूक ही को ले बैठना दण्डियों की गहरी अज्ञानता है।

फिर भी देखिये! जैसे पेशाब और वीर्य एक रस्ते से निकलने पर भी इनमें जीवोत्पत्ति होती है तो सूत्रकार ने "पासवणेसुवा सुक्केसुवा" दोनों का उल्लेख कर दिया है। यदि 'पासवणेसुवा' पेशाब का ही उल्लेख करते तो उससे ही क्या वीर्य अर्थ नहीं निकाल सक्ते थे ? फिर सूत्रकार ने "सुक्केसुवा" वीर्य का क्यों अलग उल्लेख किया ? इसी प्रकार अगर थूक में भी जीवोत्पत्ति होती तो सूत्रकार श्लेष्म के साथ २ थूक का भी उल्लेख कर देते जैसा कि वीर्य और पेशाब का पृथक २ किया है। अत

---

†इसीही प्रकार सस्कृत-हिन्दी कोष वाले उल्लेख करते हैं पढिये पृष्ठ २०६ का० २ में "कफ (पु) शरीर के तीन दोषों में से एक, श्लेष्म बलगम अन्य दो दोष वात और पित्त होते हैं।" पुन इसही प्रकार "सचित्र अर्द्ध मागधी कोष" भा० २ पृष्ठ ५७६ का० पर "खेल पु० [श्लेष्म] नाक और मुँह से चिकना कफ निकलता है वह कफ।" तथा ऐसेही "जैनतत्वादर्श" दण्डी आत्माराम लिखित गुर्जर भाषा का पृष्ठ ३९४ वें पर नव कारण स्वप्न आने के बतलाए जिसमें के प्रथम के छ कारणों से स्वप्न आवे तो निरर्थक और पिछले तीन कारणों से स्वप्न आवे तो सत्य होता है। प्रथम के छ कारणों में चौथा एक यह भी कारण दिखलाया है कि "ई वात, पित्त अने कफना विकारथी, स्वप्न आवे ता ते निरथक छे" उक्त लक्ष में कफ, पित्त और वात का विकार से बतलाया किन्तु थूक के विकार में

लिखा है। जब यह घृणास्पद बात जाहिर हुई तो द्वितीयावृत्ति में यह विषय निकाल कर पुस्तक मुद्रित हुई। क्या ऐसा करने से प्रमाण प्रमाण नहीं कहे जा सकते ? और दण्डी लोग उन प्रमाणों को नहीं मान सकते ? अवश्य मानने ही पड़ेंगे । इसी प्रकार "सम्यक्त्व बारह व्रत की टीप" नाम की पुस्तक में लिखे अनुसार मुँह पर मुँहपत्ति बांधने का प्रमाण उन्हें मानना ही पड़ेगा।

दण्डीजी ! साहस तो खूब किया। स्थानकवासी श्रावकों पर प्रूफ बदलने का दोष तो खूब लगाया। खैर हुआ सो हुआ परन्तु ग्रन्थ बदलते प्रूफ बदलते ? स्थानकवासी दण्डियों में घुसकर दण्डियों को ही न बदल दें। जब ग्रन्थों के प्रमाण तक बदल दिये जाते हैं तो दण्डियों की बुद्धि बदलते में क्या देर लगेगी ? सावधान ! अन्य ग्रन्थों पर खूब चौकस ध्यान रहे और आगे से इस बात पर पूरा ध्यान रहे कि किसी ग्रन्थ में स्थानकवासियों का कई प्रमाण न आजावे।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं "प्रश्न व्याकरण, महानिशीथ, ओघनिर्युक्ति" आदि प्राचीन शास्त्रों मे "मुहणतगेण" शब्द देखकर मुँहपत्ति का 'दोरा' ऐसा गमारी अर्थ करके महानिशीथ, ओघ-निर्युक्ति की चूर्णी आदि शास्त्रों के नाम से दोरा डालकर मुँहपत्ति बाधने का समझ बैठे हैं सो निष्केवल भ्रम में पडकर भूलते हैं।

दण्डीजी ! यह लिखना तो सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधु "मुहण तगेण" का अर्थ मुँहपत्ति का दोरा ऐसा कभी नहीं करते। और न कहीं ऐसा प्रकाशित ही है। फिर मन कल्पना से ऐसा अर्थ कर क्यो जन्म मरण बढ़ाते हो ? कुछ तो परभव का भय रक्खो। जब मूल में ही जो बात नहीं उसका श्वेताम्बर स्थानकवासियों का झूठा नाम लेकर उल्टा अर्थ कर लेते हो यह कितनी शरम की बात है ? यदि किसी श्वेताम्बर स्थानकवासियों के माननीय ग्रन्थ मे "मुहण तगेण"

का मुँहपत्ति का दौरा ऐसा अर्थ लिखा हो तो उसका प्रमाण देना था। विना प्रमाण के लिख देना दण्डियों की कपटता का द्योतक है।

दण्डीजी! "मुहणं तगेणं" का अर्थ तो सीधा और स्पष्ट मुखवस्त्रिका ही होता है। इसका उलटा अर्थ धागा (दौरा) कौन विचारहीन करता है? दण्डीजी तुमने ही "मुहणं तगेणं" का उल्टा अर्थ लगाया और "मुहणं तगेणं" का अर्थ "जब बोलने का काम पडे तब मुँह आगे मुँहपत्ति रखकर बोलना" किया।

विद्वजनो! 'मुहणं तगेणं' का अर्थ तो मुँहपत्ति ही है परन्तु मुखवस्त्रिका शब्द मे से "बोलने का काम पडे तब मुह आगे मुँहपत्ति रखकर बोलना" इतना अर्थ इन अपढ दण्डियों को किसने सिखाया? यदि दण्डीजी कहेंगे कि अर्थ तो मुखवस्त्रिका ही है पर भावार्थ यह है तो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु इसका भावार्थ यही करते हैं कि "मुखवस्त्रिका मुख पर बाधना चाहिये।" यह भी कोई न्याय है कि दण्डी लोग अघटित भावार्थ लगावे उसे ससार माने और कोई घटित भावार्थ लगावे तो उसे नहीं माने। यह एक हठाग्रह नहीं तो और क्या है? आत्मार्थी भव भीरू तो मुँहपत्ति हाथ में रखने का हठ त्याग मुँहपर ही बाधेंगे क्योकि इसका यौगिक नाम ही मुख वस्त्रिका है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे "भुवन भानु केवली" के रास मे हमेशा मुँहपत्ति बाधने का जो स्पष्ट प्रमाण है उसका खण्डन करते हैं? सो क्या खडन हो सक्ता है? कभी नहीं क्योंकि हेमचन्द्राचार्य के रचनानुसार उदयरत्नजी ने "भुवन भानु केवली" के रास की रचना की है। यह रास दण्डी लोगो के माननीय ग्रन्थो मे है। उसकी ६६ वी ढाल में मुँहपति बाधने का इस प्रकार उल्लेख है कि—"एक सार्थवाही के रोहिणी नाम का लड़की थी, वह हित शिक्षा देने वाले पर भी बडी नाराज रहती

लिखा है। जब यह घृणास्पद बात जाहिर हुई तो द्वितीयावृत्ति में यह विषय निकाल कर पुस्तक मुद्रित हुई। क्या ऐसा करने से प्रमाण प्रमाण नहीं कहे जा सक्ते ? और दण्डी लोग उन प्रमाणो को नहीं मान सक्ते ? अवश्य मानने ही पड़ेंगे। इसी प्रकार "सम्यक्त्व बारह व्रत की टीप" नाम की पुस्तक मे लिखे अनुसार मुँह पर मुँहपत्ति बांधने का प्रमाण उन्हें मानना ही पड़ेगा।

दण्डीजी ! साहस तो खूब किया। स्थानकवासी श्रावको पर प्रूफ बदलने का दोष तो खूब लगाया। खैर हुआ सो हुआ परन्तु ग्रन्थ बदलते प्रूफ बदलते २ स्थानकवासी दण्डियों में घुसकर दण्डियों को ही न बदल दे। जब ग्रन्थों के प्रमाण तक बदल दिये जाते हैं तो दण्डियों की बुद्धि बदलते मे क्या देर लगेगी ? सावधान ! अन्य ग्रन्थों पर खूब चौकस ध्यान रहे और आगे से इस बात पर पूरा ध्यान रहे कि किसी ग्रन्थ में स्थानकवासियों का कई प्रमाण न आजावे।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं "प्रश्न व्याकरण, महानिशीथ, ओघनिर्युक्ति" आदि प्राचीन शास्त्रों में "मुहणंतगेण" शब्द देखकर मुँहपत्ति का 'दोरा' ऐसा गमारी अर्थ करके महानिशीथ, ओघ-निर्युक्ति की चूर्णी आदि शास्त्रों के नाम से दोरा डालकर मुँहपत्ति बाधने का समझ बैठे हैं सो निष्केवल भ्रम में पडकर भूलते हैं।

दण्डीजी ! यह लिखना तो सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधु "मुहणं तगेणं" का अर्थ मुँहपत्ति का दोरा ऐसा कभी नहीं करते। और न कही ऐसा प्रकाशित ही है। फिर मन कल्पना से ऐसा अर्थ कर क्यो जन्म मरण बढ़ाते हो ? कुछ तो परभव का भय रक्खो। जब मूल मे ही जो बात नहीं उसका श्वेताम्बर स्थानकवासियों का झूठा नाम लेकर उल्टा अर्थ कर लेते हो यह कितनी शरम की बात है ? यदि किसी श्वेताम्बर स्थानकवासियो के माननीय ग्रन्थ मे "मुहणं तगेणं"

का मुँहपत्ति का दोरा ऐसा अर्थ लिखा हो तो उसका प्रमाण देना था। बिना प्रमाण के लिख देना दण्डियो की कपटता का द्योतक है।

दण्डीजी! "मुहणं तगेण" का अर्थ तो सीधा और स्पष्ट मुख-वस्त्रिका ही होता है। इसका उलटा अर्थ धागा (दोरा) कौन विचारहीन करता है? दण्डीजी तुमने ही "मुहणं तगेण" का उल्टा अर्थ लगाया और "मुहणं तगेण" का अर्थ "जब बोलने का काम पडे तब मुँह आगे मुँहपत्ति रखकर बोलना" किया।

विद्वजनो! 'मुहणं तगेण' का अर्थ तो मुँहपत्ति ही है परन्तु मुख-वस्त्रिका शब्द में से "बोलने का काम पडे तब मुह आगे मुँहपत्ति रखकर बोलना" इतना अर्थ इन अपढ दण्डियों को किसने सिखाया? यदि दण्डीजी कहेंगे कि अर्थ तो मुखवस्त्रिका ही हे पर भावार्थ यह है तो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु इसका भावार्थ यही करते हैं कि "मुखवस्त्रिका मुख पर बाधना चाहिये।" यह भी कोई न्याय है कि दण्डी लोग अघटित भावार्थ लगावे उसे ससार माने और कोई घटित भावार्थ लगावे तो उसे नहीं मानें। यह एक हठाग्रह नहीं तो और क्या है? आत्मार्थी भव भीरू तो मुँहपत्ति हाथ मे रखने का हठ त्याग मुँहपर ही बाधेंगे क्योंकि इसका यौगिक नाम ही मुख वस्त्रिका है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में "भुवन भानु केवली" के रास मे हमेशा मुँहपत्ति बाधने का जो स्पष्ट प्रमाण है उसका खण्डन करते हैं? सो क्या खडन हो सक्ता है? कभी नहीं क्योंकि हेमचन्द्राचार्य के रचना-नुसार उदयरत्नजी ने "भुवन भानु केवली" के रास की रचना की है। यह रास दण्डी लोगों के माननीय ग्रन्थों मे है। उसकी ६६ वीं ढाल मे मुँहपत्ति बाधन का इस प्रकार उल्लेख है कि—"एक सार्थवाही के रोहिणी नाम का लडकी थी, वह हित शिक्षा देनेवाले पर भी बडी नाराज रहती

थी। कभी धर्म स्थानक मे जाती थी तो वहा पर भी धार्मिक क्रिया नहीं करती थी। तब साध्वीजी ने उस लड़की को कहा कि 'बाई जब धार्मिक स्थान में आना होवे वहा पर सासारिक उलट पुलट बातें न करके धार्मिक क्रिया करना चाहिये, इतना साध्वीजी के कहने ही पर तमक कर रोहिणी जी उस साध्वीजी को कहने लगी।

ढाल छियासठवीं [६६]

तज—जोसीयडो जाणे जोस विचार। –

मुह मरडी तब ते कहेरे साधवीजी सुणो बात।
साधुजने पण सर्वथा रे, विकथा न वरजी जात ॥ १ ॥
गुरुणीजी मिल मिल करो न मांड ॥ टेक ॥
न गमे मने पाखण्ड ॥ गु ॥ न तजाये अनर्थ दण्ड
तो जीभ थाय शत खण्ड ॥ गु ॥ २ ॥
मुहपत्ति मुख बांधी नेरे, तुम वेसो छो जेम ॥ गु ॥
तीम मुखे डुचो देइनेरे बीजे नेसाये केम ॥ गु ॥ ३ ॥

अर्थात्—हे गुरुणीजी ! आप ससार को छोडकर मुँहपत्ति मुख पर बाधकर धर्म क्रिया करने को बैठ गई हो जैसे हमसे मुँहपर मुँहपत्ति बाध कर धर्म क्रिया नहीं बन सक्ती।

प्रिय महोदयो ! उक्त रास में मुँहपर मुँहपत्ति बाधने का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी दण्डी लोगों की कैसी अनसमझ है कि इसको निर्मूल समझते हैं ? यह उनकी अह का नमूना है। जब ल्पिटियों के ही माननीय ग्रन्थों का प्रमाण देने लगे तब इनकी आखें खुलीं और तुच्छ

स्वार्थ के लिये "मुह पत्तिए मुख बांधिनेर' इसका उलटा अर्थ करने लगे। पाठक उनके अर्थ को अवलोकन करे, वे ढूंढी लोग पृष्ठ १८ वे में लिखते हैं कि —

"मुँहपत्तिए मुख बांधीनरे" यहा मुँहपत्ति बांधने का अर्थ नहीं है किन्तु मौन रखने का अर्थ होता है। देखो मूल चरित्र मे ऐसा पाठ है 'बद्ध मुख मत्र तिष्ठत न कांचित्पश्याम "

दण्डीजी का यह लिखना नितान्त विरुद्ध है। क्योंकि रासकर्त्ता को मुँहपत्ति बांधने का अर्थ अभीष्ट नहीं होता और मौन रखने का भाव ही रास में ग्रथित करना होता तो "मुँहपत्तिए मुख बांधिनेरे" इस जगह 'मुँहपत्तिए' ऐसा शब्द कभी उल्लेख नहीं करते केवल यों कह देते कि "गुरुणीजी मुख बांधिनेरे जब तो दण्डियों का मौन अर्थ करना सिद्ध होजाता। जैसा कि लोग भी प्रयोग करते हैं कि आप मौन करके बैठ गए हो वैसे हमसे मुख बांधकर अर्थात् मुख ढूंचा देकर नहीं बैठा जाता। परन्तु रासकर्त्ता को यह अर्थ अभीष्ट नहीं था, तबही "मुँहपत्तिए' शब्द का "मुखनाबांधीनेरे" के साथ प्रयोग किया। इसलिये इसका अर्थ यही युक्ति सगत घटित होता है कि "मुँहपत्ति मुख पर बांधकर" इसके सिवाय और अर्थ करना दंडियों के आचार्यों से भी विरुद्ध है।

यदि - दंडीजी यह कहने लगें कि मूल चरित्र मे ' बद्ध मुख मत्र तिष्ठत न कांचित्पश्याम. ' इसमें मुखपत्ति शब्द नहीं है। दण्डीजी इसको बनाने वाले भी तुम्हारे ही माननीय थे और रास बनाने वाले भी तुम्हारे ही पूज्य थे। अब तुम्हारी इच्छा हो उसे झूठा कहिये। क्योंकि मूल चरित्र में मुँहपत्ति नहीं तो रास वाले कहा से लाए ? यदि दोनों को सही मानोगे तो तुमने मुँहपत्ति शब्द उसमें से निकाल दिया यह साबित होगा, इसलिये इस विषय में तुम्हारी मायावी चाल नहीं चल सकती। जो

उदयरत्नजी ने रास वनाया है वह मूल चरित्र पर से ही बनाया है। जब मूल मे 'मुँहपत्ति' होगा तबही रास में उन्होंने लिया है। यदि मूल में नहीं होता तो वे रास मे नहीं रखते ।।इससे सिद्ध होता है कि मूल में भी मुँहपत्ति शब्द अवश्य होगा. केवल भोले लोगों को भ्रम मे डालने के वास्ते तुम दण्डियों ने भले हो मुँहपत्ति शब्द निकाल दिया हो किन्तु रासवाले ने मुहपत्ति शब्द के साथ बाधने का प्रयोग किया इससे यही अर्थ होता है कि "मुँहपत्ति मुख पर बाधकर" अतएव दण्डी लोगो को भी इस अर्थ को मान मुँहपत्ति हाथ म रखने की झूठी प्रणाली त्याग देना चाहिये।

आगे चलकर उसी पृष्ठ मे दण्डीजी कहते हैं कि —"रास वनाने वाले का पूरा पाठ छोडकर थोडे से अधूरे वाक्य को लिखकर अर्थ का अनर्थ कर डाला।"

दण्डीजी ! पूरे पाठ से क्या तुम्हारा मतलब सारे ग्रन्थ के लिखने का है ? प्रमाण में तो वही पाठ रक्खा जाता है जिसकी आवश्यकता होवे। प्रमाणाभाव मे सारा ग्रन्थ थोडे ही लिख देते हैं। जैसे गीता, भागवत आदि का प्रमाण देना हो तो क्या सारी गीता लिखना चाहिये ? नहीं ! सिर्फ अध्याय सख्या दे देने से बुद्धिमान समझ सक्ते हैं या उस ग्रन्थ को देखकर निश्चय कर लेते हैं। अतएव हमने भी ६६ वीं ढाल का प्रमाण दिया तो क्या बुरा किया ? यदि आपके नेत्र हैं तो आप देख सक्ते हो, सम्पूर्ण रास लिखने की हमें तो कोई आवश्यक्ता नहीं दीखती।

आगे चलकर उसी पृष्ठ में हरिबल मच्छी के रास मे जो मुहपत्ति मुह पर बाधने का प्रमाण है, उसको भी दण्डीजी ने झूठा ठहराया है, यह दण्डियों की अविवेक्ता है। क्योंकि हरिबल मच्छी के रास के दूसरे उल्लास की ७ वा ढाल मे इस प्रकार उल्लेख है कि—

"सुल्लभबोधी जीवडा, माँडे निज खट कर्म।
साधुजन मुख मोपती; बाधी हे जिन धर्म॥"

प्रिय वाचको ! ढाल में प्रात काल का वर्णन है। उसमें उपरोक्त कविता दी है कि सूर्य उदय होते ही 'सुल्लभ बोधी जीवड़ा' सम्यक्त्वधारी धार्मिक सज्जन 'साढे रिज खट कम' निराकार देवोपासना, गुरु भक्ति, दान, सयम, तप, स्वाध्याय इन छ कर्त्तव्यों के पालन में अग्रेसर होवे। और 'साधुजन मुख मोपती' मुनिराज ने सर्वथा ससार त्याग मुँहपत्ति मुँह पर बाधी है यह एक जैनधर्म का सिद्धान्त है। क्योंकि जैन धर्म में एकतो श्रावक, श्राविका होते हैं जो नियमित त्यागों को पालने में तत्पर रहते हैं और साधु साध्वी होते हैं वे सर्वथा ही ससार का परित्याग कर सयम पालने के लिये मुँह पर मुँहपत्ति बाध विचरते हैं वे प्रात काल जिन धर्म का स्वरूप लोगों को बता रहे हैं कि ये २ जैनधर्म के नियम हैं। इस राम मे भी मुँहपत्ति बाधने का प्रमाण उलटा छपगया ऐसा दण्डीजी कहते हैं सो यह कहना उनका कहा तक ठीक है पाठक स्वय सोचले।

प्रिय महोदयो ! सम्यक्त्व बारह व्रत की टीप में और इस पुस्तक मे भूल से छपगया ऐसा कहने के सिवाय अब दण्डी लोगों के पास कुछ चारा ही नहीं रहा। क्योंकि जब उनके ही माननीय ग्रन्थों के प्रमाण निकलने लगे तो और कहे ही क्या ? पर यह सब उनकी अज्ञान दशा का कारण है कि वे अपने प्रमाणित ग्रन्थों के प्रमाण भी नहीं मानते। जैसे कोई मूर्ख अपने पैदा करने वाले बाप को न माने और बाप को जिसके योग मे वह पैदा हुआ है लाकर सामन भी खड़ा करदें तो भी वह कहता है कि 'मैं नहीं मानता कि यही मेरा पिता है।' इसी प्रकार दण्डी अपने ही ग्रन्थो क प्रमाण भी मानने में आनाकानी करते हैं। अब कहिये इन अभिनिवेषिक मिथ्यात्व में फँसे हुए अज्ञानी दण्डियो को कैसे समझाया जाय।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ ८९ मे लिखते हैं कि—अमारी घोषणा के प्रसग पर मिथ्यात्व का हेतु हमेशा मुँहपत्ति बाधने का कभी नहीं लिखा जासक्ता।

दंडीजी ! ठीक है। हम भी मानते हैं कि जीव दया के प्रसग पर हिंसा का उल्लेख कभी नहीं होसक्ता। वैसेही जीव दया के निमित्त मुँह पत्ति बाधने के स्थल पर खुले मुँह रहने का विवरण कभी नहीं लिखा जा सक्ता। अब विचार करिये कि दंडीजी जब मुँहपत्ति बाधना मिथ्यात्व ठहराते हैं तो फिर ये मुँह पर क्यों बाँधते हैं ? यदि कहेंगे कि हम तो थोड़ी देर के लिये बाधते हैं तो हम भी यही पूछते हैं कि आप थोड़ी देर भी बाधते तो हो न ?

अब पाठक इससे तत्व निकालें कि जिस प्रकार थोड़ी देर बाँधने में मिथ्यात्व नहीं प्रत्युत धर्म है, उसी प्रकार हमेशा मुहपत्ति बाधे रहने में मिथ्यात्व का कारण कैसे पैदा हो सक्ता है ? हरगिज नहीं, उसमे अवश्य विशेष धर्म ही होगा।

फिर भी देखिये। जैसे किसीने एक दिन एक गौ के प्राण बचाये तो दया हुई और एक हमेशा नित प्रति गौ के प्राण बचाता है तो क्या हमेशा बचाने वाले को हिंसा लगेगी ? कभी नहीं !! ऐसेही जीव दया के निमित्त थोड़ी देर मुँह पर मुँहपत्ति बाधने से विशेष जीव दया का लाभ नहीं मिलेगा ? अवश्य, थोड़ी देर बाधने से जो लाभ प्राप्त होगा उससे कई गुना लाभ हमेशा मुँहपत्ति मुह पर बाधने वाले को होगा। अतएव दंडी लोगों के लिये मुँहपत्ति हाथ में रखना छोड़ मुँह पर बाधना विशेष लाभप्रद है।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते हैं कि —

"रासकर्ता ने अतिशयोक्ति मे लिखा है पर बाधी कहे की जगह 'बाधो है' किसी ढढक ने (क) निकाल कर 'हे' की जगह 'है' कर दिया है।

दण्डीजी ! बाल चेष्टावत क्या खेल कर रहे हो ? बुद्धिमान तुम्हारी बुद्धि पर तरस खायेंगे और उपहास भी करेंगे। क्योंकि पहिले तो लिख दिया कि भूल से ऐसा लिखा है और अब लिखते हो 'हे' की जगह 'है' कर दिया है। तो क्या सब ग्रन्थों के प्रूफ स्थानकवासी ने बदल दिये ? सब जगह स्थानकवासी का बोल बाला ही था ? क्या तुम्हारे अनुयायियो ने स्थानकवासी घुसा कर ऐसे प्रमाण अपने ग्रन्थों में लिखवा लिये जो तुम्हें अब तक शल्य से दुख देरहे हैं ? दण्डीजी तुमने पहिले तो उसी वाक्य को अतिशयोक्ति में लिखा कहा बाद वक्रोक्ति कहा। अतएव निराक्षर भट्टाचार्य दण्डीजी ! पहिले यह तो समझलो कि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति किसे कहते हैं ? फिर लिखने का साहस करो। नहीं तो विद्वानों और समाज में तुम्हारे लेख घृणा की दृष्टि से देखे जायेंगे। दण्डीजी ! तुम्हारा हठ तो तुम्हारे ही माननीय ग्रन्थ और तुम्हारे ही अनुयायी समय आने पर तुमसे छुडावेंगे तब तुम छोडोगे इससे तो बेहतर यह है कि हरिबल मच्छी के रास मे जो हमेशा मुहपर मुँहपत्ति बांधने का अकाट्य प्रमाण है उसे ही देखकर अभी मे हठ छोड़ सीधी राह पकड़लो।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में हित शिक्षा के प्रमाण को भी झूठा ठहराते हैं, यह एक दण्डीजी की चालबाजी है। क्योंकि दण्डियों के माननीय श्रावकों की श्रेणी में से अग्रगण्य श्रीमान ऋषभदासजी ने 'हित शिक्षा नो रास' निर्माण किया है उसमें मुँहपत्ति मुँहपर बांधने का ज्वाजल्यमान प्रमाण है उसे पाठक देखें।

"मौन करी मुख बांधिये,
आठ पड मुख कोशोरे"

भावार्थ—मौन धारण कर मुख कोश आठ पड़ वाली मुँहपत्ति से (मुख बांधिए) मुख पर बांधना चाहिये।

प्रिय महोदयो ! अब मुँह पर बाँधने के विषय मे क्या शेष रहा। स्पष्ट लिखा है कि आठ पड वाली मुँहपत्ति मुँह पर बाँधना चाहिये। फिर भी यहीं तक लिखकर वे चुप न रहे हैं वे आगे उसी ग्रन्थकी द्वितीयावृत्ति में लिखते हैं कि—

"मुखे बांधी ते मुंहपत्ति, हेटे पाटो धारी ।
अति हेठी दाढी थई, जोतर गलें निवारी ॥ ३ ॥
एक कन्ने धज सम कही, खंभे पछेडी ठाम ।
केडी खोशी कोथली, नावे पुण्य ने काम ॥ ४ ॥

अर्थात्—"मुखे बाधी ते मुँहपत्ति" मुखवस्त्रिका तो वही है जो मुँह पर बाधी जाय। यदि वह मुखवस्त्रिका मुख के नीचे रहती है तो पाटे के समान होजाती है और ज्यादह नीचे लटकती हो तो दाडी के समान दीखने लगती है और गले म हो तो 'जोत' सी दीखती है। एक कान में लटकाते हैं तो वह ध्वजा के सदृश होजाती है, कन्धे पर रक्खी जाय तो वह पछेवड़ी सी दिखाई देती है और यदि कमर मे खोसी जाय तो वह कोथली कहलाती है। इसी तरह अन्य स्थाना में रखने से अर्थात मुँह पर न बाधने से उसका पुण्य-लाभ प्राप्त नहीं होगा।

पाठको ! ऋषभदासजी ने इस जटिल प्रश्न को कितना स्पष्ट कर दिया है। हमारा सारे लेख की इस प्रमाण पर इति होजाती है। मालूम होता है कि ऋषभदासजी कोई सज्जन और विचारशील व्यक्ति थ नहीं तो वे अपनी सम्प्रदाय के विरोध मे ऐसा कभी नहीं लिखते। 'मुखे बाधी ते मुँहपत्ति" यह वाक्य दण्डी लोगो के हाथ मे रखने की प्रणाली को छुडाने के लिये कैसा अच्छा शस्त्र है। भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो अपनी सम्प्रदाय को उखाड़ने का मसाला तैयार करेगा। किन्तु कितने ही सज्जन सत्य के लिय आज भी प्राण देने कटिबद्ध हैं। इसलिय ऋषभदासजी ने

न्याय के आगे सम्प्रदाय की कुछ परवाह न की और बेधड़क "सच्ची बात" लिखी। उनके लेख से स्पष्ट सिद्ध है कि "मुखे बांधी ते मुँहपत्ति" मुँह पर हमेशा बाँधी जाती है तभी उसे मुँहपत्ति कहते हैं।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं—

"ढूंढिये जल पीने के लिये या कफ आदि थूकने के लिये नाटक के पात्र की तरह मुँहपत्ति को किसी समय नीचे के होठ पर हटा लेते हैं कभी दाढ़ी पर खींच लेते हैं।

दण्डीजी! जब खाद्य जल आदि पान का काम पड़ता है तब मुँहपत्ति को मुँह से अलग कर ही पीना पड़ता है। और जो आप नाटक का उदाहरण देते हैं वह हम पर नहीं बल्कि आप पर ही घटित होता है क्योंकि मुँह के आगे बार २ मुहपत्ति लगाना यही एक नाटक के फार्म सा है। व्याख्यान के समय आप त्रिकोणी करके मुँह पर बांधते हो तो वह प्रायश्य लटकती रहती है, सो हित शिक्षा के अनुसार बकरे दाढी या भूत के समान दीखती है। कभी दण्डी लोग मुँहपत्ति को कन्धे पर रख लेते हैं तो कभी कमर में लटका लेते हैं यह हम अपने अनुभव से कहते हैं उस समय तो दण्डी लोगों की मुँहपत्ति हित शिक्षा के अनुसार चहर सी व छूकरों की चिलम तमाखू की कोथलीसी दृष्टिगत होती है। इसलिये हित शिक्षा के कर्त्ता ने ठीक ही सा मानधारा किया है कि "मुँहपर बांधने से मुँहपत्ति कहलाती है" फल, दाढी, कोथली आदि उपमाएँ तुम्हारी मुँहपत्ति को शोभा नहीं देतीं। अतः मुँहपत्ति को हाथ में रखना त्याग मुहपर बांधना अपना कर्त्तव्य समझो।

आगे चलकर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं—

हित शिक्षा के रास के लेखक ने ढूंढियों का मुँहपत्ति की ऐसी विडम्बना करने के लिये उदाहरण के वाक्य लिखे हैं।

ढूण्ढीजी ! हृदय पर हाथ रखकर कहो कि "मुखे बाधे ते मुहपत्ति
क्या यह वाक्य उपहास का है ? नहीं, यदि लेखक को उपहास ही कर
था तो अपनी रचना में वे यों लिखते कि "हाथे राखे ते मुंहपत्ति
मुखे पाटो बांधी । अति हेठी डाढी थई जोतर गले निवारी
किन्तु लेखक ने अपनी रचना में तो ऐसा नहीं लिखा । इससे भली प्रकार
सिद्ध है कि लेखक उपहास नहीं करना चाहते थे, केवल मुहपत्ति कि
करते हैं ? यही बात अपनी रचना में प्रकट करना चाहते थे तभी उन
'मुखे बाधे ते मुंहपत्ति लिखा । इससे ढूण्ढी लोगों को चाहिये कि वे भ्र
में न पडकर हाथ में मुँहपत्ति रखना छोड़दें "भूले ताहि बिसार के आ
की सुधि लेय" के अनुसार अब भी मुँहपत्ति मुँह पर बाधना प्रारम्भ
करदे तो जन्म सुधर जावेगा और सम्यक्त्व रत्न हाथ लग जायगा ।

आगे चलकर ढूण्ढीजी पृष्ठ २० मे लिखते हैं कि —"ढूंढिये कहते
है कि शिव पुराण में 'हस्तेपात्र दधानश्च, तुण्ड वस्त्रस्य धारका'" इस
वाक्य में हमेशा मुँहपत्ति बाधना लिखा है ऐसा कहते हैं सो भी झूठ है"

ढूण्ढीजी ! यह लेख तुम्हारा नितान्त मिथ्या है । क्योंकि शिव
पुराण के ज्ञानसंहिता के इक्कीसवें अध्याय के २५ वे श्लोक में मुँह पर
मुँहपत्ति धारण करने वाले ही को जैन मुनि कहा है । जरा देखें—

हस्ते पात्रं दधानाश्च तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येव वासांसि धारयन्तोऽल्पभाषिणः ॥

शिवपुराण अ० २१ श्लोक २५

अर्थात् —हाथ में पात्र धारण करने वाले, मुँह पर वस्त्र को
धारण करने वाले याने बांधनेवाले, मलिन वस्त्र धारण करने वाले
और अल्प बोलने वाले वे ही जैन साधु हैं । इस श्लोक
में मुँह पर मुँहपत्ति हमेशा बांधने का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी ढूण्ढियों

विद्वान से भी इस श्लोक का अर्थ पूछा जायगा तो वे भी यही अर्थ करेंगे। यदि शिव पुराण के रचयिता को जैनमुनि मुँह पर मुँहपत्ति न बांधते हों यह मालूम होता तो वे इस श्लोक में [illegible] का प्रयोग कभी नहीं करते। और इसके बदले [illegible] अर्थात् हस्त वस्त्रधारका" ऐसा वाक्य रखते किन्तु इस श्लोक में ऐसा नहीं होने से हमेशा मुँहपर मुँहपत्ति बांधने की प्रणाली अति प्राचीन [illegible] शास्त्रों से यह सिद्ध होता है। और यह भी सिद्ध होता है कि [illegible]। [illegible] वही कहलाता है जो मुँहपर मुँहपत्ति बांधता है।

आगे चलकर स्वामीजी इसी पृष्ठ में लिखते हैं कि —

'हाथ में पात्र पकड़ने से आठों ही प्रहर रात्रि दिन हमेशा हाथ में पात्र नहीं लिया जाता किन्तु जब आहार आदि लाने जाते तब इस पात्र को उनके लिये लिया जाता है। वैसे ही मुँह पर मुँहपत्ति रखने से जब बोलने का कार्य हो तब मुँह पर मुँहपत्ति रखना समझना चाहिए। परन्तु हमेशा बांधकर रखना नहीं कहा।

स्वामीजी! यह लिख कर तो तुमने बिलकुल [illegible] ही है। क्योंकि जब पात्र हाथ में रखने का नियम हमेशा नहीं रखना चाहिए इसी प्रकार इस न्याय से लज्जा के लिये मलीन वस्त्र भी धारण करना कहा तो क्या अपनी मान्यता मुनिराज वस्त्र भी हमेशा पहनना सिद्ध नहीं होगा? वस्त्र भी तभी धारण करना होगा जब आहारादि लाने का काम हो।

स्वामीजी! मुँहपत्ति की सिद्धि न मानने में नग्न रहना सिद्ध होगा काम पड़ने पर जिस प्रकार मुँहपत्ति लगाने की सिद्धि का प्रयत्न कर रहे हो उसी प्रकार लज्जा के लिये भी काम पड़ने पर वस्त्र धारण करने की नई प्रणाली चलाना पड़ेगी इसलिये स्वामीजी! कुछ बुद्धि लड़ाओ। जिस प्रकार लज्जा के लिये हमेशा वस्त्र पहनना आवश्यक है वैसे ही जैन मुनि होने के कारण हमेशा मुँह पर मुँहपत्ति बांधना आव

दण्डीजी ! हृदय पर हाथ रखकर कहे कि "मुखे बांधे ते मुहपत्ति" क्या यह वाक्य उपहास का है ? नहीं, यदि लेखक को उपहास ही करना था तो अपनी रचना में व या लिखते कि "हाथे राखे ते मुहपत्ति मुखे पाटो यागी । अति हेठो डाढी थई जोतर गले निवारी" किन्तु लेखक ने अपनी रचना में तो ऐसा नहीं लिखा । इससे भली प्रकार सिद्ध है कि लेखक उपहास नहीं करना चाहते थे, केवल मुहपत्ति किसे कहते हैं ? यही बात अपनी रचना में प्रकट करना चाहते थे तभी उनने मुखे बांधे ते मुँहपत्ति लिखा । इससे दण्डी लोगों को चाहिये कि वे भ्रम में न पडकर हाथ में मुँहपत्ति रखना छोडदे "भूले ताहि बिसार के आगे की सुधि लेय" के अनुसार अब भी मुँहपत्ति मुँह पर बांधना प्रारम्भ करदे तो जन्म सुधर जायगा और सम्यक्त्व रत्न हाथ लग जायगा ।

आगे चलकर दण्डीजी पृष्ठ ७० में लिखते हैं कि —"ढूंढिये कहते हैं कि शिव पुराण में "हस्तेपात्र दधानश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारका" इस वाक्य में हमेशा मुँहपत्ति बांधना लिखा है ऐसा कहते है सो भी झूठ है"

दण्डीजी ! यह लेख तुम्हारा नितान्त मिथ्या है । क्योंकि शिव-पुराण के ज्ञानसंहिता के इक्कीसवे अध्याय के २५ वें श्लोक में मुँह पर मुँहपत्ति धारण करने वाले ही को जैन मुनि कहा है । जरा देखे —

> हस्ते पात्र दधानाश्च तुण्डे वस्त्रस्य धारका ।
> मलिनान्येव वासांसि, धारयन्ताऽल्प भाषिणः ॥

शिवपुराण अ० २१ श्लोक २५

अर्थात् —हाथ में पात्र धारण करने वाले, मुँह पर वस्त्र का धारण करने वाले यानि बांधनेवाले, मलिन वस्त्र धारण करने वाले और अल्प बोलने वाले वे ही जैन साधु हैं । इस श्लोक में मुँह पर मुँहपत्ति हमेशा बांधने का स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी दण्डिया जी मनमाना कहा आता यह उनकी पूरी अज्ञानता है । अगर सामान्य

विद्वान से भी इस श्लोक का अर्थ पूछा जावेगा तो वे भी यही अर्थ करेंगे। यदि शिव पुराण के रचयिता को जैनमुनि मुंह पर मुंहपत्ति न बांध कर हाथ में रखते हैं यह मालूम होता तो वे श्लोक में 'मुखे' शब्द का प्रयोग कभी नहीं करते। और उसके बदले 'हस्ते' अर्थात् "हस्त वस्त्रस्य धारका" ऐसा वाक्य रचते किन्तु इस श्लोक में ऐसा नहीं होने से हमेशा मुंहपर मुंहपत्ति बांधने की प्रणाली अति प्राचीन काल से चली आरही है यह सिद्ध होता है। और यह भी सिद्ध होता है कि जैन साधु वही कहलाता है जो मुंहपर मुंहपत्ति बांधता है।

आगे चलकर लाडीजी इसी पृष्ठ में लिखते हैं कि —

'हाथ में पात्र रखने में आठों ही प्रहर रात्रि दिन हमेशा हाथ में पात्र नहीं लिया जाता किन्तु जब आहार पानी कार्य होवे तब उस प्रयोजन के लिये लिया जाता है। ऐसे ही मुंह पर मुंहपत्ति रखने में जब बोलने का कार्य होवे तब मुंह पर मुंहपत्ति रखना माना है परन्तु हमेशा बांधने का नहीं कहा।'

लाडीजी! यह लिख कर तो तुमने निराधार बात चलाई ही है। क्योंकि जब पात्र हाथ में रखने का कहा पर हमेशा नहीं रखना चाहिये इसी प्रकार इस श्लोक में लज्जा के लिये मलीन वस्त्र भी धारण करना कहा तो क्या आपकी मान्यता मुजिब वस्त्र भी हमेशा पहनना सिद्ध नहीं होगा? वस्त्र भी तभी धारण करना होंगे जब आहारादि लाने का काम हो।

लाडीजी! मुंहपत्ति की सिद्धि न मानने में नग्न रहना सिद्ध होगा काम पड़ने पर जिस प्रकार मुंहपत्ति लगाने की सिद्धि का प्रयत्न कर रहे हो उसी प्रकार लज्जा के लिये भी काम पड़ने पर वस्त्र धारण करने की नई प्रणाली चलाना पड़ेगी इसलिये लाडीजी! कुछ बुद्धि दौड़ाओ। जिस प्रकार लज्जा के लिये हमेशा वस्त्र पहनना आवश्यक है वैसे ही जैन मुनि होने के कारण हमेशा मुंह पर मुंहपत्ति बांधना आव-

श्यक है। अतएव हाथ मे मुँहपत्ति रखना छोड़ हमेशा मुँहपत्ति मुँह
बाधो या सोते, बैठते, सूत्र पढ़ते लटना वस्त्र भी परित्यागो।

आगे चल कर इसी पृष्ठ के हैडिंग मे दण्डीजी लिखते हैं कि
"नाभा मे ढूंढिये हार गये" दण्डीजी का यह लिखना सरासर झूठ
क्योंकि स्वयं नाभा नरेश ने जिस शास्त्र चर्चा खतम हुई उसी रात गु
मुखी भाषा मे फैसला दिया था और फैसला छपवा कर फार्म बांट
थे जिसमे यह लिखा था कि —

'हमारी राय मे जो भेष और चिन्ह जैनियो के शिवपुराण
लिखे हैं वो सब वो ही है जो इस वक्त ढूंढिये साधु रखते हैं पस ढूंढि
और पूजेरो के बारे मे हमारी राय मुन्दरजे बाला व इतफाक (बाक
शिव पुराण के है मिन जानिब सरकार मुश्तहरे बाला श्री १०८ श्रीयु
महाराज नाभा पति जी की आज्ञानुसार हुक्म प्रेस नाभा रेड्ड तमाम
भार्ग प्रेस मसिह तबाअ शुद "अष्ट सुदी ५ फगण सवत १९६४

दण्डीजो! स्वयं नाभापति महाराज और पण्डितों के मेम्ब
उपरोक्त फैसले मे लिख चुके हैं कि जो ढूंढिये भेष अर्थात चद्दर चोल
पट्ट पहिनते हैं और जो चिन्ह मुँहपत्ति मुँह पर बांधते हैं वह शिवपुरा
के लेखानुसार सही मालूम होता है और जैनियों का यही चिन्ह मुंहप
मुँह पर बांधने का शिव पुराण मे लिखा है। अब कहिये प्रिय महोदयो
इस प्रकार फैसला नाभापति की ओर से मिलने पर किसकी विजय हुई
क्या दण्डियों की? कभी नहीं नाभे मे श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसम्प्र
दाय की ही विजय हुई है। दण्डीजी ने जो हेडिंग मे लिखा है वह नितान्त
मिथ्या है।

आगे चल कर इसी पृष्ठ मे दण्डीजी ने फैसले का नाम लेक
अपनी विजयिता की डींग मारते हुए कुछ पण्डितो के वाक्य उद्धृ
किए हैं वह सर्वथा अमाननीय है। क्योंकि दण्डीजी के लिखे हुए ये वा

पण्डितो की ओर से चर्चा होने के बाद करीब एक साल के पीछे के लिखे हुए हैं अर्थात श्वे० स्थानकवासियों को फैसला मिला संवत् १९६१ ज्येष्ठ सुदी ५ करीब्र को और दण्डीजी को कुछ पण्डितों के वाक्य मिले हैं वे १८ पौष संवत् १९६२ में। इसमें पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि चर्चा खतम होने के निकट ही जो फैसला मिलता है वह सही समझा जाता है या बाद कितने ही अर्से के अर्थात् चर्चा होनेके बाद एक वर्ष के पीछे जो वाक्य उन पण्डितों की ओर से प्राप्त। तो इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी प्रकार से पर्याप्त कर उन पण्डितों से लिखवा लिया इसमें क्या? हर एक व्यक्ति अपनी विजयता का दावा लिखवा सकता है किन्तु सही तो वही समझा जाता है कि चर्चा होने के बाद में सभापति और मेम्बरों की राय से प्रथम ही जो फैसला प्रकाशित हो उसी को प्रमाणित समझा जाता है। बाद इसके फैसलों में कई रूपान्तर उसमें समावेश हो जाते हैं यह पाठक भली प्रकार जानते ही हैं। इसलिए जो नाभापति महाराज ने उसी रोज फैसला गुरुमुखी भाषा में छपवा कर दिया था उससे स्वयं सिद्ध होता है कि नाभा में श्वे० स्था० सम्प्रदाय की विजय हुई और मुँहपत्ति मुँह पर हमेशा बांधना सिद्ध हुआ। इसका विशेष खुलासा फिर आगे देखिए।

आगे चल कर दण्डीजी पृष्ठ २१में लिखते हैं कि —

"संवेगियों को दण्डी ? कहा करते हैं"

दण्डीजी! हम संवेगियों को अवश्य दण्डी कहते हैं क्योंकि वे दण्ड धारण करते हैं। देखो अनुयोग द्वार सूत्र में भगवान महावीर स्वामी ने "दण्डेण दण्डी" कहा है और दण्डी आकर्ण पर्यंत दण्डा रखते भी हैं इसलिये दण्डीजी को दण्डी कहना अनुचित नहीं है।

यदि दण्डीजी कहेंगे कि 'अस्तु, दण्ड रखने से हमें दण्डी कहते हो तो हम दण्डा तो हमेशा नहीं रखते। इसी प्रकार मुख पर बोलते

श्यक है। अतएव हाथ मे मुँहपत्ति रखना छोड हमेशा मुँहपत्ति मुह पर बाधो या सोते, बैठते, सूत्र पढते लज्जा वस्त्र भी परित्यागो।

आगे चल कर उसी पृष्ठ के हेडिंग मे दण्डीजी लिखते हैं कि—"नाभा मे ढूढिये हार गये" दण्डीजी का यह लिखना सरासर झूठ है। क्योंकि स्वयं नाभा नरेश ने जिस रोज चर्चा खतम हुई उसी रोज गुरुमुखी भाषा मे फैसला लिखा था और फैसला छपवा कर फार्म बांट गये थे जिसमे यह लिखा था कि —

'हमारी राय मे भी भेष और चिन्ह जैनियों के शिवपुराण मे लिखे हैं जो सब वो ही है जो इस वक्त ढूढिया मे धु रखते हैं पस ढूंढियों और पुजेरों के बारे मे हमारी राय मुनने वाला व इत्तफाक (बाक) शिव पुराण के हैं मिन जानिब मेम्बरान मुनने वाला श्री १०८ श्रीयुत महाराज नाभा पति जी की आज्ञानुसार दुर्गा प्रस नाभा रेहर तमाम माई मसिह नानासु र ज्येष्ठ सुदी ५ फरे प्र सम्वत १९६८'

दण्डीजी! स्वयं नाभापति महाराज और कमेटी के मेम्बर उपरोक्त फैसले मे लिख चुके हैं कि जो ढूंढिये भेष अर्थात् चद्दर चोल पट्ट पहिनते हैं और जो चिन्ह मुँहपत्ति मुँह पर बांधते हैं वह शिवपुराण के लेखानुसार सही मालूम होता है और जैनियों का यही चिन्ह मुँपत्ति मुँह पर बाधने का शिव पुराण मे लिखा है। अब कहिए प्रिय महोदयो! इस प्रकार फैसला नाभापति की ओर से मिलने पर किनकी विजय हुई? क्या दण्डियों को? कभी नहीं नाभे मे श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनसम्प्रदाय की ही विजय हुई है। दण्डीजी ने जो हेडिंग मे लिखा है वह नितान्त मिथ्या है।

आगे चल कर उसी पृष्ठ मे दण्डीजी ने फैसले का नाम लेकर अपनी विजयिता की डींग मारते हुए कुछ पण्डितों के वाक्य उद्धृत किए हैं वह सर्वथा अमाननीय है। क्योंकि दण्डीजी के लिखे हुए वे वाक्य

कि मुँहपत्ति बांधने वाले दण्ड तो नहीं रखते है ? फिर यह श्लोक प्रमाण भूत मे कैसे माना जा सक्ता है ? ठीक है। भगवान का हुक्म सब को डंडा रखने का नहीं है। सिर्फ वृद्ध, तपस्वी, बीमार ही दण्डा रख सकते हैं ऐसा व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देश मे फरमाया है। उस मुताबिक मुंह पर वस्त्र बांधने वाले वृद्ध, तपस्वी, बीमार दण्ड रखते ही है। इसलिये मुंह पर वस्त्र धारण करने वाले स्थे० स्थानकवासी साधु हैं और उन्हीं के प्रमाण मे यह श्लोक है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ में लिखते हैं —

"अवतार चरित्र में भी मुंहपत्ति शब्द का पर्याय मुखपट्टी नाम मात्र लिखा है उसको बन्ध कर हमेशा बांधने का ठहराना बडी भूल है।"

दण्डी जी! यह लिखकर तो तुमने एक मायाचारी का सा काम किया है क्योंकि मुखपत्ती के साथ बांधने का जो शब्द था उसको उडा कर जनता के सामने सच्चा होने का दावा पेश कर दिया। पर सत्य खोजी सज्जन पुरुष अब तुम्हारी ढोल की पोल में घुसने वाले नहीं है। वे सत्य ही ढूंढने वाले हैं।

दण्डियो जरा आखे खोल कर देखो तो सही 'अवतार चरित्र" मे स्पष्ट क्या लिखा है ?

छन्द पद्धरि

नित कथा यज्ञ घातक निदान, धरि नयन मूं दि अरिहंत ध्यान।
सब श्रावक पोषादि व्रत साधि मुखपट्टि रुद्ध, आरम्भ उपाधि॥

अर्थात —प्रतिदिन यज्ञ खण्डक कथा करने वाले और नेत्रो को बन्द कर अरिहन्त का ध्यान धरने वाले, पोषधादि व्रत श्रावको को कराने वाले और मुखपट्टि (मुखवस्त्रिका) "रुद्ध" बांधने वाले 'आरम्भ' पचार

समय मुख वस्त्रिका रखने से क्या मुह पर वस्त्र धारण करने वाले नहीं कहलायगे ?

स्वामीजी ! जब हाथ में डण्डा रखते हैं तभी दण्डी कहलाते हैं। इसी प्रकार मुह पर मुँहपत्ति बांधोगे तो मुख पर वस्त्र धारण करने वाले कहे जायेंगे। अब रहा यह प्रश्न कि डण्डा हमेशा हाथ में नहीं रहता। इसका समाधान सीधा और सरल यह है कि मुह पर वस्त्र बांधने वाले भी हर समय मुहपत्ति कहां बांधे रहते हैं, वे आहार-करते पानी पीते खाते, थूकते, मुहपत्ति धोते व सुखाते समय मुहपत्ति मुह से दूर रखते ही हैं फिर भी मुह पर वस्त्र बांधने वाले मुख पर वस्त्र धारण करने वाले कहे जाते हैं। हाथ में वस्त्र रखने वाले, मुह पर मुहपत्ति बांधने वाले नहीं कहे जा सकते। यदि ऐसा मानोगे तो बहुत से हाथ में रूमाल रखते हैं और बहुत से मुसलमान भी नमाज के लिये मुखपत्ति पास में रखा करते हैं वे भी तुम्हारे कथनानुसार मुह पर मुहपत्ति रखने वाले कहे जायेंगे। इससे बड़ा भारी व्याघात पैदा होगा। अतएव मुह बांधने वाले ही मुख पर वस्त्र धारण करने वाले कहे जा सकते।

और इसी अभिप्राय से श्रीमाल पुराण के ७०वें अध्याय के ३२वें श्लोक में मुह पर वस्त्र धारण करना बताया गया है —

देखो —

मुखे दधाना मुखवस्त्रं पाणौ दण्डकं करे।
शिरसा मुण्डनं कृत्वा कक्षायां रजोहरणं दधन ॥

श्रीमाल पुराण अ० ७० श्लोक ३२

अर्थात्—मुह पर वस्त्र धारण करने वाले अर्थात् बांधने वाले हाथ में दण्ड धारण करने वाले, सिर के बालों का लोच करने वाले बगल में रजोहरण रखने वाले जैन मुनि कहलाते हैं यदि तुम कहोगे

चित्र परिचय के लिये



(७) तेतली प्रधान की स्त्री के सामने थाल में अगुलियें टाल कर सुव्रताजी की आर्या खड़ी हुई है और उनके किये प्रश्न का उत्तर दे रही है।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

पाचन अग्नि आदि आरम्भ से विरक्त 'उपाधि' अल्प उपाधि वाले जैन मुनि हैं।

पाठक गण! देखिये, इस में बाँधने का उल्लेख होते हुए भी दण्डी जी ने अपने लेख के शब्दों में उक्त शब्द लिया ही नहीं सिर्फ मुख-पट्टी नाम मात्र ही देकर भोले लोगों को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। यह उनकी कपटाई नहीं तो और क्या है? विचार शीलो! अन्तगड़ चरित्र में मुहपत्ति मुँह पर बांधना साफ जाहिर हो रहा है तो भी ये नहीं मानते। यह बाल हठ है। अतएव इन दण्डियों की मायाजाल में न फंस भव्यात्मा मुंह पर मुहपत्ति बांध कर ही विचरें।

आगे चल कर दण्डी जी उसी पृष्ठ पर लिखते हैं —

'ढूँढिये कहते हैं नाक की श्वास (हवा) से जीव नहीं मरते इस लिये नाक खुला रखते हैं यह भी झूठ है।"

दण्डी जी! अब तो झूठ की हद होगई। हम नाक में जीव नहीं मरते इसलिये नाक खुला रखते हैं, बांधते नहीं हैं ऐसा कदापि नहीं मानते। श्वे० स्थानकवासी जैन साधु सूत्र के अनुसार मुंह पर ही वस्त्र बांधते हैं। यदि मुहपत्ति से मुंह बांधने के साथ नाक बांधने का भी सूत्र में उल्लेख होता तो दण्डी जी का कहना ठीक था। किन्तु वे सत्य क्यों कहें। देखो भगवती सूत्र के १६ वे शतक के २ रे उद्देश में भगवान ने निर्वद्य भाषा वही कही है जो खुले मुंह नहीं कही गई हो। इस जगह मुंह ढकने की नाईं नाक ढकने का भगवान ने उपदेश दिया होता तो दण्डियों का कहना अवश्य सत्य समझा जाता। किन्तु मुंह के साथ नाक ढकने का कथन नहीं है, इसलिये दण्डीजी का कहना मिथ्या है।

फिर भी देखो। तुम्हारे ही माननीय हेमाचार्य विरचित योग शास्त्र के २४५ पृष्ठ पर मुख की उष्ण वायु से होने वाली हिन्सा को रोकने के लिये मुहपत्ति कही पर नाक से होने वाली हिन्सा को रोकने

के लिये मुँहपत्ति कही पर नाक से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये नहीं देखो मूल पाठ —

"मुख वस्त्र मिति संपातिम जीव रक्षणा दुष्ण मुख वात विराध्यमान बाह्य वायु काय जीव रक्षणान्मुखे धूल प्रवेश रक्षणाच्चोपयोगीति" योग शास्त्र पृष्ठ २६५। इसी मूल का अर्थ भाषा मे छपा हुआ पृष्ठ २६०-२६१ मे छपा है—"मुहपत्ति पण उडी ने मुख माँ पडता जीवो, तथा मुखना उष्ण श्वास थी बाहारना वायुकाय जीवोनी विराधना टालवा छे तेम मुख माँ पडती धूलने पण अटकाववा माटे छे"

दण्डीजी! यदि मुँहपत्ति नाक की हवा से होने वाली हिंसा को बचाने के लिये होती तो अवश्य इस योग शास्त्र मे इसी जगह उल्लेख मिलता कि 'मुँहपत्ति मुख नी उष्ण श्वास थी ओर नाक नी हवा थी बाहार ना वायु काय जीवोंनी विराधना टालवा माटे छे' परन्तु नाक की हवा का कथन नहीं है इसलिये मुँहपत्ति मुँह पर ही बांधी जाती है नाक पर नहीं।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते है —

"नाक के श्वासोश्वास के झपाटे से छोटे २ जीवो की हिंसा का कहना ही क्या परन्तु डास, मच्छर, मक्खी आदि भी नाक मे घुस जाते हैं और मर भी जाते है।"

दण्डीजी! ठीक है तभी तो भगवान ने छींकते समय आड़ा हाथ लगाने को कहा [illegible] छींकने समय नाक की हवा बहुत तेज होती

के लिये मुँहपत्ति कहीं पर नाक से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये नहीं देखो मूल पाठ —

"मुख वस्त्र मिति संपातिम जीव रक्षणा दुष्ण मुख वात विराध्यमान बाह्य वायु काय जीव रक्षणान्मुखे धूल प्रवेश रक्षणाच्चोपयोगीति" योग शास्त्र पृष्ठ २६१। इसी सूत्र का अर्थ भाषा मे छपा हुआ पृष्ठ २६०-२६१ मे छपा है—"मुहपत्ति पण उडी ने मुख मों पडता जीवो, तथा मुखना उष्ण श्वास थी बाहारना वायुकाय जीवोनी विराधना टालवा छे तेम मुख मों पडती धूलने पण अटकाववा माटे छे"

दण्डीनी ! यदि मुँहपत्ति नाक की हवा से होने वाली हिंसा को बचाने के लिय होती तो अवश्य इस योग शास्त्र म इसी जगह उल्लेख मिलता कि "मुँहपत्ति मुख की उष्ण श्वास थी और नाक नी हवा थी बाहार ना वायु काय जीवोंनी विराधना टालवा माटे छे" परन्तु नाक की हवा का कथन नहीं है इसलिये मुँहपत्ति मुँह पर ही बांधी जाती है नाक पर नहीं।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते ह —

"नाक के श्वासोश्वास के झपाटे स छोटे २ जीवों की हिंसा का कहना ही क्या परन्तु डास, मच्छर, मक्खी आदि भी नाक मे घुस जाते है और मर भी जात ह।"

दण्डीजी ! ठीक है तभी तो भगवान ने छींकते समय आडा हाथ लगाने को कहा है। क्योंकि छींकने समय नाक की हवा बहुत तेज होती

हैं जिसके कपाट में आ त्रस जीव नाक में घुस जा सकते हैं पर तुम्हारे कहे अनुसार यदि नाक में त्रस जीव घुस जाते हैं इसलिये नाक पर मुँहपत्ति बाधी जाय तो कान में भी तो त्रस जीव घुस जा सकते हैं। फिर मुँहपत्ति कान पर भी बाधना होगी।

दण्डीजी! खूब ही बढिया तर्क निकाली। कल तो आप कान पर भी बाधने को लिख देंगे पर क्या विद्वान् तुम्हारी इन अघटित युक्तियों पर नहीं हँसेंगे? क्या वे तुम्हे चडूल की गप्प गाथा करने वाले नहीं मानेंगे? अस्तु! आपकी यह तर्क मिथ्या है और शास्त्रकारों ने कान, नाक पर नहीं लेकिन मुँह पर ही मुँहपत्ति बाधना फरमाया है।

फिर भी सोचो तो सही कि मुँहपत्तिमुख्य वायु काय के जीवों की विराधना न हो इसीलिये बाधना फरमाई है जो भी अपनी ओर से क्रिया करने पर हवा पैदा होती है। उससे होने वाली हिंसा के बचाव के लिये भगवान ने मुँहपत्ति बाधना फरमाया न कि स्वाभाविक हवा के बचाव के लिये और ऐसा कह भी नहीं सकते, क्योंकि उसका बचाव हो ही नहीं सकता। भगवान ने फरमाया कि मक्खी के पैर एव पख तक हिलने से हिंसा होती है पर शरीर के रोमाच, आख के भ्रू, सिर के बाल जो प्राकृतिक वायु उत्पन्न होने से हिलते हैं, इनके हिलने की किंचित हिंसा इरियावही की क्रिया तेरहवें गुणस्थान तक लगती है। इसका सर्वथा बचाव चौदहवें गुण स्थान वाले कर सकते है। इसलिये मुँहपत्ति नाक पर न बाध कर मुँह पर बाधना ही युक्ति सगत है और शास्त्राधारों से भी यही प्रमाणित होता है कि मुँहपत्ति मुँह पर ही बाधी जाती है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ में यों लिखते हैं कि —

मुँह की श्वास बाहर निकलते ही फैल कर जल्दी ठंडी हो जाती है और नाक की श्वास १०–१५ अंगुल तक जोर से धमनी की तरह गरम २ चली जाती है।"

दण्डीजी! आपका यह कथन भी नितान्त मिथ्या है क्योंकि मुँह की हवा की समानता नाक की हवा कभी नहीं कर सकती और इसका अनुभव पाठकों को भी होगा ही कि नाक की हवा दूर जाती है या मुँह की? सामान्य बुद्धिमन्द भी नाक की हवा मुँह की हवा की समानता नहीं कर सकती यही उत्तर देगा फिर दण्डीजी किस कल्पना से नाक की हवा तेज कह बैठे?

यह दण्डीजी का सफेद झूठ है। श्वे० स्था० जैन साधु तो सभी दया करने के लिये ही मुँहपत्ति मुँह पर बांधते हैं। आप अपने दिल से पूछ देखो कि मुँहपत्ति मुँह पर बांधने से मुँह की वायु से होने वाली हिंसा रुकती है या हाथ में मुँहपत्ति रखने से? इसका निष्पक्ष श्रावक और आपका सच्चा दिल व आपके ही अनुयायी यही उत्तर देंगे कि हाथ में मुँहपत्ति रखने वाले से ठीक इस हिंसा का बचाव नहीं हो सकता क्योंकि खुले मुँह बहुत वक्त बोला जाना सम्भवनीय है। और बहुत वक्त खुले मुँह दण्डी लोग बोलते भी हैं।

हम अनुभव से कहते हैं कि कहां दण्डी लोग उनके अनुयायियों से खुले मुँह बातें करते हों और वहां श्वे० स्थानकवासी जैन साधु चला जाय तो वे दण्डी श्वे० स्थानकवासी जैन साधु को देख कर शीघ्र ही मुँह के आगे मुँहपत्ति दे लेंगे अगर पास में मुँहपत्ति न होगी तो चद्दर, कम्बल आदि का पल्ला ही लगा लेंगे। पर उनके सामने खुले मुँह न बोलने का ढोंग रचेंगे। अस्तु, इतना विचार है तो कभी रास्ते पर भी आ जाना सम्भव है। पाठक! उनकी क्रिया देख अवश्य ही सत्यान्वेषण करेंगे।

आगे चल कर दण्डीजी पृष्ठ ७७ के हेडिंग में लिखते हैं कि —

"मुँहपत्ति डोरा डाल कर बांधना नहीं लिखा।"

है जिसके कपाट में आ त्रस जीव नाक में घुस जा सकते हैं पर तुम्हारे कहे अनुसार यदि नाक मे त्रस जीव घुस जाते है इसलिये नाक पर मुँहपत्ति बाधी जाय तो कान में भी तो त्रस जीव घुस जा सकते हैं। फिर मुँहपत्ति कान पर भी बाधना होगी।

दण्डीजी! खूब ही बढिया तर्क निकाली। कल तो आप कान पर भी बाधने को लिख देंगे पर क्या विद्वान् तुम्हारी इन अघटित युक्तियों पर नहीं हँसेंगे? क्या वे तुम्हें चड्डूल की गप्प गाथा कहने वाले नहीं मानेंगे? अस्तु! आपकी यह तर्क मिथ्या है और शास्त्रकारों ने कान, नाक पर नहीं लेकिन मुँह पर ही मुँहपत्ति बाधना फरमाया है।

फिर भी सोचो तो सही कि मुँहपत्ति मुख्य वायु काय के जीवो की विराधना न हो इसीलिये बाधना फरमाई है जो भी अपनी ओर से क्रिया करने पर हवा पैदा होती है। उससे होने वाली हिंसा के बचाव के लिये भगवान ने मुँहपत्ति बाधना फरमाया न कि स्वाभाविक हवा के बचाव के लिये और ऐसा कह भी नहीं सकते, क्योंकि उसका बचाव हो ही नहीं सकता। भगवान ने फरमाया कि सयोगी के पैर एक पग तक हिलने में हिंसा होती है पर शरीर के रोमाच, आख के भ्रू, सिर के बाल जो प्राकृतिक वायु उत्पन्न होने से हिलते हैं, इनके हिलने की किंचित हिंसा इरियावही की क्रिया तेरहवे गुणस्थान तक लगती है। इसका सर्वथा बचाव चौदहवे गुण स्थान वाले कर सकते हैं। इसलिये मुँहपत्ति नाक पर न बाध कर मुँह पर बाधना ही युक्ति सगत है और शास्त्राधारों से भी यही प्रमाणित होता है कि मुँहपत्ति मुँह पर ही बाधी जाती है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे यों लिखते हैं कि —

मुँह की श्वास बाहर निकलते ही फैल कर जल्दी ठंडी हो जाती है और नाक की श्वास १०-१५ अगुल तक जोर से धमनी की तरह गरम २ चली जाती है।"

लक्षणा से इस प्रकार का अर्थ माननीय है ? और उसका प्रयोग कहाँ तक हो सकता है ? ऐसे प्रश्न तार्किकों के फिर भी हो सकते हैं ऐसी दशा में इसका उत्तर दे देना भी अनुचित नहीं होगा। इसलिये युक्तियों व उदाहरणों के साथ इस पर विचार करेंगे।

प्रिय पाठक ! इसे सारे विद्वान् मानते हैं कि लक्षणा साहित्य का एक मुख्य अंग है लक्षणा काव्य के भाव को पूर्ण बनाती है। उस काव्य का संसार में आदर नहीं होता जिसमें शब्दों की बाहुल्यता व अर्थ की अल्पता हो। उत्तम काव्य वे हैं जो थोड़े शब्दों में ज्यादह भाव व्यक्त कर सकें। और उसका तात्पर्यार्थ लिया जा सके। जो ऐसे काव्य होंगे उनमें और २ अंगों के साथ लक्षणा अवश्य होगी। ऐसी स्थिति में लक्षणा से अर्थ करना ठीक, व सही व सत्य है। जिसको थोड़ा सा भी साहित्य का ज्ञान है वह ऐसा मानने में आगा पीछा नहीं कर सकता।

अब यह देखना है कि इसका प्रयोग कहां तक होता है ? इसका प्रयोग प्रत्येक मनुष्य की जिह्वा द्वारा नित्य प्रति होता रहता है और उसमें तार्किकों की कोई गुजर नहीं।

देखिये ! कोई किसी से कहे कि पानी लाओ, अगर तार्किक इसमें तर्क करे कि लोटे में पानी भर कर लाना नहीं कहा, तो क्या पात्र बिना पानी भर कर आ सकता है ? नहीं, परन्तु लोटे के कहने की उतनी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार 'रोटी खाओ' इसमें यही अर्थ सिद्ध निकलता है कि हाथ में लेकर मुँह में रोटी खाओ दांतों से चबाओ। परन्तु जो नेत्र विहीन है जिनके हृदय पट पर विद्या की रूप रेखाएं खींची नहीं हैं वे चाहे इसे न मानें बाकी के इस थोड़े से वाक्य में बहुत ज्यादह समझ सकते हैं। रथी अगर अपने सारथी को रथ लाने की आज्ञा दे तो क्या यह कहने की आवश्यकता प्रतीत होगी कि घोड़े जोत कर लाओ। नहीं, वह स्वयं समझ कर घोड़े जोत कर ही लावेगा।

पाठक ! दण्डीजी की अज्ञानता इसी से सिद्ध हो जाती है कि जब मुँहपत्ति बाँधना लिखा है तो डोरा स्वयं सिद्ध हुआ फिर इसकी तर्क क्यों ? जो मूल सूत्र होते हैं उनके भाव व रहस्य बड़े गंभीर हैं उन के थोड़े शब्दों में लम्बा चौड़ा आशय भरा हुआ है यही क्यों 'सूत्र' शब्द की व्याख्या ही देखिये "सूत्रयन्ति वेष्टयंति अल्पाक्षरैर्बहून्यर्थाणि इति सूत्रम्" अर्थात् थोड़े अक्षरों में बहुत अर्थ हों उसे सूत्र कहते हैं।

दण्डीजी ! जरा आशय को भी समझा करो। केवल शब्दार्थ पर ही उतर पड़ोगे तो एक पद भी चलना कठिन होगा। देखो सूत्र को। "भायणाय वत्थायं पडिलेहइत्ता" इस वाक्यमें (भायणाए) भाजन अर्थात् पात्र और (वत्थाय) वस्त्र को (पडिलेहइत्ता) प्रति लेखणा करना। किन्तु आगे से प्रतिलेखणा करना ऐसा न होने पर भी अर्थ करने वाले आगे शब्द समझ ही लेते हैं। इसी तरह "भायणाय उगिण्हेइत्ता" इस वाक्य में भी 'हाथ' शब्द न होने पर भी हाथ में पात्र ग्रहण किये ऐसा अर्थ करना ही होगा। इसी प्रकार मुँहपत्ति में डोरा अर्थ के साथ है ही और व्याकरण भी यही कहता है कि— "येन विना यदनुपन्नं तत्तेनापि क्षिप्यते" अर्थात जिसके बिना जो अर्थ घटित नहीं होता है उसका आक्षेप हो जाता है। फिर मुँहपत्ति बाँधने में डोरा कहा में लाए ऐसी दण्डी लोगों की तर्कना अज्ञानता प्रकट करती है।

दण्डी लोगो ! सूत्रों के अर्थ में प्राय लक्षणा होती है। जैसे भारतवर्ष धार्मिक है। इसमें अभिधान के अनुसार भारतवर्ष एक देश का नाम है और देश धार्मिक नहीं हो सकता। परन्तु इस जगह लक्षणा से भारतवासी लोग धार्मिक हैं ऐसा अर्थ लिया जायगा। ठीक इसी प्रकार "मुख वस्त्रिका के बाँधने के साथ डोरा भी अर्थ में लिया जायगा" क्या

कि तुम्हारे मुँह और गुह्य स्थान एक ही होंगे। लोग चाहे सो कहे हम तो मानते हैं कि ससार के अटल नियमानुसार शोभनीय मुँह के साथ उनके लज्जनीय गुह्य स्थान भी अनन्य होता है। दोर के प्रमाण को काटने के लिये गुह्य स्थान का लिखना ही विद्वानों की दृष्टि मे घृणा के पात्र बनना है। तटस्थ विचार शील व्यक्ति समझ जायगे कि इन दुण्डियों की बडी चालबाजी है। सरल और साफ बात न समझ कर मुँहपत्ति हाथ मे रखने का नया ढोंग जनता मे चलाना सर्वथा अहित कर दुख-दायी है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ मे लिखते है कि —

"ढूढिये कहते है कि बोलते समय मुँह की यत्ना करने का कभी उपयोग न रहे तो दोष लगे जिसमे हमेशा बाधी रखना ही अच्छा है।" यह भी लिखना दण्डीजी का सरासर मिथ्या है। क्योंकि हम ऐसा नहीं कहते हैं कि उपयोग न रहने से हमेशा बाधते है पर यह तो दण्डीजी की कपोल कल्पित कल्पना है। सूत्रों मे व दण्डीजी के माननीय ग्रन्थो मे सिद्ध हो चुका है कि मुहपत्ति हमेशा मुँह पर बाधना ही चाहिये। दण्डीजी! कहते है कि साधुका धर्म ही उपयोग मे है इसे हमभी स्वीकार करते है कि उपयोग मे ही धर्म है। किन्तु क्या दण्डीजी तुम सायकाल को प्रतिक्रमण करते हो वह उपयोग का करते हो या अनुपयोग का? यदि कहोगे कि अनुपयोग का प्रतिक्रमण करते है तो,तुम उपयोग नहीं रखते हो यह साबित होगा और अगर कहोगे कि उपयोग का करते हैं तो उपयोग मे भूल तो तुम्हारे कथनानुसार होती ही नहीं तब प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है? इसलिये दण्डीजी कुछ लिखिये तो सोच कर लिखिये। और उपयोग त्याग अनुपयोग मे साधुता के विरुद्ध कोई कार्य न कर लीजिये। जब कभी लिखने बैठिये यह भली प्रकार सोच लीजिये कि यह मेरे ही विरुद्ध तो प्रमाणित नहीं होगी? आप उस

ऐसे सहस्रो शब्द हैं कि जिनके कहते ही लोग आशय समझ जाते हैं। वैसे ही शब्दों में मुख वस्त्रिका बांधन का समावेश है और इस का अर्थ भी लक्षणा से ये ही होता है कि मुख वस्त्रिका डोरे से बांधी जाती है। सूत्रकार के आशय से स्पष्ट सिद्ध है कि मुँहपत्ति के साथ डोरा शब्द भी गुप्त रीति से लगा हुआ है।

अफसोस है कि इतने प्रमाण होने भी दण्डी लोग अपना हठ नहीं त्यागते और डोरा शब्द कहा चला गया कह बैठते हैं। उन हठाग्रहियों से पूछते हैं कि साध्वी के साडे में डोरा बांधना सूत्रकार ने किसी सूत्र में नहीं कहा फिर भी सब साध्वियें डोरे से साडा-बांधती हैं तो वे ऐसा कौनसे सूत्र के आधार से करती हैं? यदि पीत वस्त्रधारी साध्वी साडे को डोरे से नहीं बांधती होती तो दण्डी लोगों का कहना कुछ अंश से ठीक भी कहा जाता। पर जब वे ही बांधती हैं तो तुम्हारे प्रश्न के साथ ? यह भी प्रश्न होता है कि वे साडे म डोरा किस सूत्र के न्याय से लगाती है? बस इसी उदाहरण को काटने के लिये आगे दण्डीजी लिखते हैं कि —

"गुह्य और लज्जनीय स्थान बांधने का दृष्टांत बतला कर जगत मे प्रकट और शोभनीय मुँह बांधने का डोरा साबित करना बड़ी भारी निर्विवेकता है।"

दण्डीजी! यह अविवेकता तो तुम्हारी ही मालूम होती है क्योंकि मुँहपत्ति बांधने के लिये डोरा तो स्वयं सिद्ध हो चुका केवल डोरे की पुन सिद्धि के लिये साडे का उदाहरण दे तुम्हे सावधान किया पर तुम गुह्य स्थान और मुँह का अन्तर बता इसे निर्मूल समझते हो तो तुम्हारी यह तर्क चल नहीं सकती। क्योंकि जिसके मुह है उसके गुह्य स्थान भी है। एक शरीर मे दोनों का रहना नितांत आवश्यक है। गुह्य स्थान शब्द लिख कर तो तुम स्वयं उपहास के पात्र हो गए। मगर हम नहीं मानते

पाठक इस बात का जरा निष्कर्ष निकालें। फिर साधुओं को तो, श्वेत वस्त्रों को धारण करने के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार के रंगीन वस्त्रों को कभी भी धारण न करना चाहिये। क्योंकि भगवान की ओर से भी इस काम के लिये उन्हें सख्त मनाई की गई है। इस विषय के प्रमाणों का उल्लेख, यथोचित रूप से, यथा स्थान, मैं पहले ही कर आया हूँ। परन्तु बेचारे दण्डी लोग तो भगवान की इस आज्ञा का सिर से पैर तक उल्लंघन करने ही में अपने दण्डीपन की मान मर्यादा समझ बैठे हैं और यही कारण है कि वे अपने पीले रंग वाले कपड़ों की मोह–ममता में दिन–रात, अधिकाधिक रूप से फंसे रहते हैं। इतना ही नहीं, दण्डी के नाते, वे अपने आपको जगत् में विद्वद्–शिरोमणि भी मानते हैं। हम उनकी विद्वता के सम्बन्ध में अपनी ओर से एक शब्द भी न कहकर इसके निर्णय का भार अपने विचारवान् पाठकों ही के ऊपर छोड़ देते हैं। पर इसके साथ हो प्रकृति–जगत् के दो एक उदाहरण भी हम यहां रक्खे देते हैं जिससे अपने आपको विद्वान मानने वाले इन दण्डियों की योग्यता का अनुमान, पाठक सहज ही में कुछ लगा सकेंगे, कि दर–असल में प्रकृति की पाठशाला में ये किस लियाकत के लोग हैं।

देखिये, (१) मनुष्यों के शरीर के बालों का रंग, अक्सर उनके बालक–पन में काला होता है। परन्तु जैसे जैसे उनकी आयु बढ़ती जाती है, जैसे जैसे वे अनुभवी बनते जाते हैं, उनकी प्रकृति स्वयं ही उनके बालों के काले रङ्ग को छोड़कर सफेदी को अपने सिर और फिर क्रमशः अपने सारे शरीर पर धारण करती जाती है। अर्थात् जहां प्रकृति की चाल रङ्गीन वाले की ओर से बिना रङ्ग वालों की ओर होती है, वहां हमारे इन दण्ड धारियों की दौड़ बेरङ्ग की ओर से रङ्गीन बनने की ओर होती जाती है। (२) साधारण दीपक का प्रकाश पाठक प्रायः धुँधला और पीला देखेंगे, परन्तु उसी प्रकाश को वे पहले से अधिकतर हवा के, यथोचित रूप में, मिलने पर, अधिक उन्नत चमकीला और श्वेत रंग में बदला देखेंगे। दीपक की उन्नतावस्था में यहां भी वही रफ्तार प्रकृति की पाठक

बालक के गेन्द क्यों दण्डी डाटा न लगाइये कि भीत पर फेकी गई गेंद वापस बालक पर ही आ पड़े।

फिर भी देखिये। दिन में प्राय पूजने की आवश्यकता न होने पर भी रजोहरण साथ ही रखा जाता है इसमें कोई दोषापत्ति नहीं आती यह बात दण्डीजी भी स्वीकार करते हैं। ऐसे ही बोलने की आवश्यकता हो या न हो मुहपत्ति हमेशा मुंह पर ही बाधना आवश्यक है। यही वीर आज्ञा है और इसमें कोई दोषापत्ति नहीं है। जो दोषापत्ति कहते हैं वे तुच्छ स्वार्थ सिद्धि के लिये गहरी अज्ञानता के वश ऐसा कहते है।

आगे चल कर दण्डीजी पृष्ठ ८३ पर लिखते हैं कि ——

"छींक करते समय नाक की यत्ना करने का उपयोग न रहे तो मुंह की तरह ढढियों को नाक भी हमेशा बांधा रखना चाहिये।"

दण्डीजी! ऐसा लिख कर पुनः पिष्ट पेषण कर रहे हो पाठक सोचेंगे कि दण्डीजी की बुद्धि को कहीं अजीर्ण तो न हो गया है?

पाठक! देखें कि उपयोग न रहने के कारण हम हमेशा मुंहपत्ति बाधते है जब हम ऐसा नहीं कहते तो इसी विषय को पुनः दुहराने की क्या आवश्यकता है? और नाक बांधने का उत्तर हम पहिले ही लिख चुके है। रही अब यह बात कि छींकते समय क्या किया जाय? तो इसके लिये भगवान आचारंग सूत्र में आडा हाथ देने की आज्ञा फरमा ही चुके हैं। अब कौनसी बात सिद्ध करना रही कि जिसके कारण दण्डीजी अपना हठाग्रह नहीं त्याग सकते।

दण्डीजी ने उसी पृष्ठ में श्वे० स्था० जैन साधुओं को-मरीची की उपमा दी है पर यह उपमा दण्डी लोगों पर घटती है या औरों पर,

इसी तरह मरीचि ने भी रंग वाले कपडों को पहन कर भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल ही काम किया है। अत: रंगीन कपड़ो को धारण करने वाले मरीचि की उपमा, रंगीले कपडो को पहनने वाले दण्डियों पर भले ही घटित होती है, परन्तु श्वे० स्था० जेन साधुओं के साथ मरीचि का मिलान करना, बिलकुल बेकार और कहने वाले की विवेक हीनता ही को दर्शाने वाला दीख पडता है क्योंकि, भगवान् की आज्ञाके अनुसार, ये लोग तो श्वेत वस्त्र ही को धारण करते हैं। यह वेश बदलने का सवाल तो दण्डियों ही के लिये लागू पड सकता है, जो सफेद कपडो को पहनना छोडकर, पीलों को पहनने के पीछे दौड पडे हैं। जब वेश बदलना इनका सिद्ध हो चुका, तो इससे यह भी सिद्ध हो गया, कि इसी भांति बेचारी मुहपत्ती को भी ये मुंह से घसीट कर, इधर उधर बांधने तथा हाथ में कमर में या उपाश्रय में रख देना ये सीख गये हैं। परन्तु दण्डियों को ऐसा करना किसी भी प्रकार उचित न तो था ही, और न है ही। श्री वीर भगवान् ने जेसा भी साधुओं के लिये फर्माया है, उसी के अनुसार शुद्ध संयम का पालन कर, मानव-जीवन को सफल बनाना इनका कर्तव्य था। "एक तो चोरी और फिर सरजोरी" के नाते, क्यों तब ये लोग माया ममता भरे लेख लिख कर भोली भाली जनता को बहकाने और पाप के गहरे और अंधेरे खड्डे में गिराने का प्रयत्न करने लगे, ज्ञात नहीं होता?

आगे चल कर, दण्डी जी फिर उसी पृष्ठ में यों लिखते हैं —

"ढूंढिये एक जगह लिखते हैं, कि भगवान् ने भगवती आदि आगमों में मुंहपत्ति बांधना कहा है।"

महाशयों! श्वेताम्बर स्थानकवासी जेन साधु तो भगवती आदि आगमों के प्रमाणों ही के आधार पर मुंहपत्ति को सदा सर्वदा मुख पर बांधे रहते हैं। दण्डियों का यह कथन राई रत्ति सत्य है पर उनका यह कथन कि "एक जगह लिखते हैं" निरा गफलत से भरा और गलत है। हमारा कहना तो यह है, कि अनेकों ग्रन्थों में इस का कथन अनेकों स्थलो पर आया है, हमने भी कई ग्रन्थों में यथा स्थान इसका कई बार प्रतिपादन किया है, करते हैं और कहते भी हैं।

देखेंगे, जैसा कि अभी ऊपर हम कह आये हैं। (३) दुनियां की किसी भी रंगीन वस्तु को लीजिये और तब उस पर धूप, वर्षा, ठण्डक आदि का कुछ दिन तक पूरा पूरा असर होने दीजिये। तब फिर देखिये, आपको वहां पहले के रंग रूप का कोई आभास भी न मिल सकेगा। इस बार आप उसे एकदम चमक-दमक हीन हलके रंग वाली और दौड़ते हुए सफेदी को ग्रहण करने वाली देख पावेंगे। (४) कोयला जो काला स्याह होता है जल जाने पर राख में बदल जाता है और यह राख सफेद रंग की होती है। (५) मनुष्यों की श्याम और रतनार आखें पलकों को उलटा कर देखने से मृत्यु के बाद सफेद दीख पड़ती है। और (६) अकसर देहाती बच्चे, रंगीन और मोटे कागज़ों पर काली स्याही से बड़े बड़े या, जैसे वे चाह उस आकार प्रकार के सुन्दर अक्षर लिखकर, उन्हें काजल से पोत देते हैं। इस काजल लगे कागज़ को अब वे किसी समथा और चिकने पत्थर पर औंधा पटक कर उसकी पीठ को पानी की ऐसी मार से मारते हैं, जिससे कागज़ पर ज़ोर तो लगे, पर कागज फटे नहीं। यों कुछ मिनिटों तक बच्चे उसे धोते रहते हैं। अन्त में, उसे वैसे ही गीले रूप में, अधर से उठाकर सुखा लेते हैं। कागज के सूख जाने पर, काले अक्षर अब उन्हें सफेद रूप में मिलते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं। हमारे इन सभी उदाहरणों से पाठकों ने भली भांति समझ लिया होगा, कि स्वयं इस जगत् की प्रकृति भी काले, पीले, नीले, हरे सभी प्रकार के रंगों के भेदाभेद को जड़-मूलसे मिटाकर, एकमात्र सफेदी, और केवल सफेदी को धारण करना चाहती है। परन्तु हमारे इन दण्डधारी दण्डियों की गति, प्रकृति की चाल से भी बिलकुल न्यारी ही दीख पड़ती है। ये बेचारे सात्विक और सर्वव्यापक सफेदी के एकाकार भाव को, साम्प्रदायिक संकुचित भावों के भेदाभेद के पीले रंग में रंग देना चाहते हैं। ये इसी में अपना कल्याण मानते हैं। पाठको! इनके भावे कुछ भी हो, पर जगत् के भाये तो, इनकी यह भेदाभेद की, रंगाई, आत्म-बोध और आत्म-कल्याण के मार्ग से इन्हें कोसों दूर ले जा पटकती है।

दण्डीजी का यह लिखना बिलकुल गैर वाजिब है। क्योंकि "जैन शास्त्रों में नहीं लिखा।" ऐसा किसी भी जगह न तो हमने लिखा ही है और न ऐसा हम कभी कहते ही हैं। किन्तु हाँ; मुंह पत्ति को हमेशा बांधे रहने के शास्त्रीय प्रमाणों को सिद्ध और पुष्ट करने के लिये, अब दर्शनिकों के शिव-पुराणादि ग्रन्थों का हवाला हम यत्र-तत्र दे-देते हैं।

दण्डीजी फिर उसी पृष्ठ पर, आगे लिखते हैं कि—"सोमिल तापस ने अपने मुंह पर काष्ट की पटडी बांधी थी। उसी तरह हम भी हमेशा मुंहपत्ति बांधते हैं।"

दण्डीजी का यह कथन भी अथ से इति तक अज्ञानता-सूचक-अज्ञानता-भरा है। क्योंकि जब सोमल तापस की तरह ही हम मुंहपत्ति को बांधते होते, तो काष्ट की पटड़ी ही को बांधते, वस्त्र की कभी नहीं। परन्तु जगत् को जाहिर है कि हम कभी ऐसा नहीं करते।

हम तो मुंह पर वस्त्र ही बांधते हैं, न कि काष्ट की पटड़ी। किन्तु हां, इस उदाहरण को हम लोग यत्र तत्र क्यों दिया करते हैं, इसका उत्तर हम यहां दिये देते हैं। सोमिल पहले जैन धर्म में रह चुका था। बाद सत्संग के अभाव में, पूर्व जन्म के घनघाती कर्मों के उदय होने पर मिथ्यात्वी हो गया था। तथापि, वह अपने मुंह पर काष्ठ की पटडी को बांधे रहता था। यद्यपि अन्य धर्मों में ऐसा करना कोई सैद्धान्तिक बात नहीं है। इससे, तो, प्रत्यक्ष भाव से यही प्रतीत होता है, कि सोमिल पहले अपने मुंह पर काष्ठ की नहीं पर वस्त्र ही की मुंहपत्ति को बांधा करता था। मिथ्यात्वी बन जाने पर भी उसने उसके उपयोग को नहीं छोड़ा। केवल उसके रूप रंग में उसने विकृति कर दी। हमारा तो उससे केवल इतना ही उद्देश्य है, कि मुंह पर काष्ठ की पटडी का प्रयोग करते रहने पर सोमिल का पहले जैन होना सिद्ध हो जाता है। इसके साथ ही, मुंह पर वस्त्र की मुंहपत्ति का होना भी जब अपने आप प्रमाणित हो ही जाता है। इसीलिये हम अक्सर सोमिल के उदाहरण को इधर उधर देते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी इसी पृष्ठ पर फिर भी यों लिखते हैं – "दूसरी जगह लिखते हैं, भगवान ने आगमों में बांधना नहीं कहा। परन्तु मन्देगिया के "आचार-दिनकर", "ओघ निर्युक्ति" आदि प्राचीन शास्त्रों में लिखा है।"

दण्डीजी आपका यह लिखना बिलकुल मिथ्या है। जान पडता है आप अपनी बेचारी अक्ल के पीछे डंडा लेकर ही दौडे फिरते हैं। हमने तो किसी भी स्थल पर ऐसा नहीं लिखा, कि "भगवान् ने आगमों में बांधना नहीं कहा।" दण्डीजी सत्य का इतना गला घोटा तो धकर्दम न कीजियेगा! दूसरों की नहीं लिखी हुई बात को मनोकल्पना से खुदबखुद लिख मारना और उसका दोष दूसरों के सिर मढना यही आपके माया का प्रत्यक्ष नमूना है। आप चाहे कुछ भी कीजिये, सत्य स्वयं प्रकाशमान है। वह किसी के छिपाये या छिप नहीं सकता। आपके द्वारा भोले भाले लोगों को अपनी माया जाल में फंसाने की काली करतूतें सत्यान्वेषक लोगों को सदा स्मरण रहेंगी। हां यह बात तो अवश्य है, कि आगमानुसार मुहपत्ति को हम लोग मुंह पर सदा बांधते हैं। इस शास्त्रीय विषय को पुष्ट करने के लिये, इन दण्डियों के माननीय ग्रन्थों के उनके प्रमाण हमने यथा स्थान दिये हैं। और जहां भी इनकी जरूरत होती है, समय २ पर भी उन्हें हम उद्धृत करते रहते हैं।

दण्डीजी तब पृष्ठ २५ पर यों लिखते हैं – "प्राचीन शास्त्रों में हमेशा बांधना नहीं लिखा।"

दण्डीजी का यह लिखना नितान्त मिथ्यात्व से भरा है। हमने कभी भी और कहीं भी ऐसा नहीं लिखा और न कभी हमने ऐसा कहा है और न कहते ही हैं। किन्तु हां, मुंहपत्ति को सदा मुंह ही पर बांधने के शास्त्रीय नियम को परिपुष्ट करने के लिये दण्डियों ही के द्वारा माननीय भुवन भानु, केवली आदि ग्रन्थों तथा रासों के प्रमाणों को हम यत्र-तत्र दे देते हैं।

फिर दण्डीजी उसी पृष्ठ पर और भी यों लिखते हैं, कि "जैन शास्त्रों में तो नहीं लिखा परन्तु अन्य दर्शनियों के शिव पुराणादि ग्रन्थों में तो लिखा है।"

पत्ति कहने की ज़रा भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी, तब तो विद्वान् लोग उसे हाथपत्ति, या रुमाल, आदि नामों से ही पुकारेंगे। परन्तु हा, आप जैसे दुराग्रहियों के समझाने के लिये यह कह दिया जाता है, कि जो वस्तु जहा रखने की होती है, उसी जगह वह शोभा को प्राप्त होती है। जैसे कि हाथ का भूषण पैरों में कभी नहीं शोभता। क्योंकि उसका नाम केयूर या कड़ा है। नाम के अनुसार उन्हें हाथों ही में पहना जायगा ठीक इस भाति यौगिक शब्द मुँहपत्ति के नामानुसार उसका मुँह पर ही बाधा जाना चाहिये और उचित है।

आगे इसके, दण्डीजी फिर कहते हैं कि, "ढूंढिये लिखते हैं, कि शास्त्र में हमेशा मुँहपत्ति को बाधे रखने का स्पष्ट लेख नहीं है। परन्तु मुँहपत्ति शब्द से उसे मुँह पर ही बाधना मानते हैं।"

दण्डीजी को इस बात का जरा भी भान नहीं रहता, कि कब और कहा वे अपने सोटे को उठा करके उसे उनकी अपनी बुद्धि की खुपड पर मार बैठेंगे, और उसका, स्वयं उन्हीं के जीवन के लिये, कैसा घातक परिणाम होगा। "शास्त्रों में हमेशा मुँहपत्ति बाधी रखने का स्पष्ट लेख नहीं है।" पाठको! श्वे० स्था० साधुओं ने न तो ऐसा कहीं कभी लिखा ही और न वे कभी भूल कर भी इन शब्दों का उपयोग ही कहीं करते हैं। निजू तुच्छ स्वार्थ के साधन के लिये, मनोकल्पना से झूठी सच्ची बातों का लिख देना, दण्डीजी की किस गूढ़ अज्ञानता का नमूना है। हां, दण्डीजी का ऐसा लिखना सही और प्रमाणित तो जगत् में तब समझा जाता, जब वे जिस ग्रन्थ में हम ऐसा लिखते हैं, उसका नाम तथा पृष्ठादि का पूरा पूरा पता दे कर अपने कथन की सचाई को संसार के सम्मुख रखते। इससे उनके एक ही साथ दो काम सध जाते। एक तो, उनका ग्रन्थ, विद्वत्समाज में आदर की आखोंसे देखा जाता। और दूसरा, उन के उस ग्रन्थ पर किसी की लेखनी भी यों कभी न उठती।

आगे चल कर, उसी पृष्ठ में, अभी तक दण्डीजी की कलम, कुछ न कुछ आड़ा टेढ़ा और गन्दा लेपन से भरा हुआ, कतर बोंत करती ही जाती है। जिसे यहां लिखकर, न तो हम पाठकों ही के

फिर पाठक यह तो आप भलीभांति जानते ही हैं कि प्रत्येक वस्तु अपने उचित स्थान ही पर शोभती है, तथा वहीं पर उसकी पवित्रता का निर्वाह और उचित उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। स्थान भ्रष्ट होने से, उसके उन सभी कामों में विकृति आ जाती है। उदाहरणार्थ रोशनाई, जब तक, वह दवात में रहती है, रोशनाई है उसकी लोगों को जरूरत रहती है, उसी समय तक दवात की तथा उसकी शोभा भी है और मोल भी उसका तभी तक है। परन्तु दवात से निकल पड़ने पर, उसी रोशनाई का न तो अब वह मोल ही रह जाता है, न शोभा ही। साथ ही यह भी मेली, बन जाती है, और जिस वस्तु पर वह गिरती है, उसे भी वह मैला बना देती है। फिर, किसी कार्य्य विशेष के लिये, किसी वस्तु ही की विशेष आवश्यकता होती है।

अन्य वस्तुएं वहां आवश्यक और अनुपयोगी ठहरती हैं। जैसे, ताप मापक यन्त्र में पारे के अतिरिक्त, अन्य सभी प्रकार के तरल पदार्थ निकम्मे और निरूपयोगी सिद्ध होते हैं। हमारे इन्हीं दोनों उदाहरणों की सहायता से पाठक, मुह के ऊपर, वस्त्र की मुहपत्ति के स्थान में काष्ट की पटड़ी की उपयोगिता तथा अनाव श्यकता का विचार स्वयमेव कर सकते हैं। तब, हमारा ख्याल है, कि वे अवश्य ही इस तत्व की तह तक पहुंच जायेंगे कि मुह पर काष्ट की पटड़ी, मुंहपत्ति की अन्यान्य आवश्यकताओं और उसके अनेकों उत्तम उत्तम उपयोगों अर्थात् धर्म, धन, और स्वास्थ्य की रक्षा करने वाले उपयोगों को पूरा करने की उसमें जरा भी गुन्जा-यश नहीं है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पृष्ठ पर हमारे कथन को यों दुहराते हैं, "पैरों का भूषण पैरों में शोभे वैसे ही हमारे मुह पर बाधी हुई मुहपत्ति शोभती है।

दण्डीजी! मुख वस्त्रिका के शब्दार्थ परसे ही, उसके स्थान, उद्देश्य और आवश्यकता का ज्ञान भलीभांति हो जाता है वह मुह पर बाधी जाती है, इसीलिये वह मुखवस्त्रिका कहलाती है यदि उसे मुह पर से उतार कर हाथ में ला पटकी जाय, तो फिर उसे मुह

पत्ति कहने की जरा भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी; तब तो विद्वान् लोग उसे हाथपत्ति, या रुमाल आदि नामों से ही पुकारेंगे। परन्तु हां, आप जैसे दुराग्रहियों के समझाने के लिये, यह कह दिया जाता है, कि जो वस्तु जहां रखने की होती है, उसी जगह वह शोभा को प्राप्त होती है। जैसे कि हाथ का भूषण पैरों में कभी नहीं शोभता। क्योंकि उसका नाम केयूर या कड़ा है। नाम के अनुसार उन्हें हाथों ही में पहना जायगा ठीक इस भांति यौगिक शब्द मुँहपत्ति के नामानुसार उसका मुँह पर ही बांधा जाना चाहिये और उचित है।

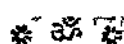
आगे इसके, दण्डीजी फिर कहते हैं कि "ढूंढिये लिखते हैं, कि शास्त्र में हमेशा मुँहपत्ति को बांधे रखने का स्पष्ट लेख नहीं है। परन्तु मुँहपत्ति शब्द से उसे मुँह पर ही बांधना मानते हैं।"

दण्डीजी को इस बात का जरा भी भान नहीं रहता, कि कब और कहां वे अपने सोटे को उठा करके उसे उनकी अपनी बुद्धि की कूबड पर मार बैठेंगे, और उसका, स्वयं उन्हीं के जीवन के लिये, कैसा घातक परिणाम होगा। "शास्त्रों में हमेशा मुँहपत्ति बांधी रखने का स्पष्ट लेख नहीं है।" पाठको! श्वे० स्था० साधुओं ने न तो ऐसा कहीं कभी लिखा ही और न वे कभी भूल कर भी इन शब्दों का उपयोग ही कहीं करते हैं। निजू तुच्छ स्वार्थ के साधन के लिये, मनोकल्पना से झूठी सच्ची बातों का लिख देना, दण्डीजी की किस गूढ़ अज्ञानता का नमूना है! हां, दण्डीजी का ऐसा लिखना सही और प्रमाणित तो जगत् में तब समझा जाता, जब वे जिस ग्रन्थ में हम ऐसा लिखते हैं, उसका नाम तथा पृष्ठादि का पूरा पूरा पता देकर अपने कथन की सचाई को संसार के सम्मुख रखते। इससे उनके एक ही साथ दो काम सध जाते। एक तो, उनका ग्रन्थ, विद्वत्समाज में आदर की आंखोंसे देखा जाता। और दूसरा, उन के उस ग्रन्थ पर किसी की लेखनी भी यों कभी न उठती।

आगे चल कर, उसी पृष्ठ में, अभी तक दण्डीजी की कलम, कुछ न कुछ आडा टेढ़ा और गन्दा लेपन से भरा हुआ, कतर बोंत करती ही जाती है। जिसे यहां लिखकर, न तो हम पाठकों ही के

श्रम, समय, सम्पत्ति और शक्तियों का दुरुपयोग करना चाहते हैं, और हम ही उसे कुछ मानते गिनते हैं। पर हाँ, यह कहे बिना भी हम से, अपने कर्तव्य के नाते, नहीं रहा जाता, कि दण्डीजी जो भी कुछ लिखते, उसकी नींव यदि वे सच्चाई, शिष्टता समाज हित सेवा के भावों की प्रेरणा और शास्त्र-सम्मत विवेक के पायों पर रखते, तो, उससे जहाँ एक और उनके और समाज के श्रम, समय, शक्तियों और सम्पत्ति का व्यर्थ नाश न होते हुए, सदुपयोग होता, वहाँ दूसरी ओर, वे स्वय कई घनघाती कर्मों के कर्त्तापन से बाल बाल बचे रहकर आत्म कल्याण के अनुयायी बन सकते थे। मुँह पत्ति को मुँह पर बाँधने का एक भांति ही मुख्य कारण को हम मानते और उसे यहाँ लिखे देते हैं। प्रथम तो मुख की उष्ण वायु से वायु काय जीवों की विराधना न हो फिर, उष्ण देश की गन्दली हवा रात-दिन रहने के कारण, इस कर्म योनि-शरीर का स्वास्थ्य भी न बिगड़ने पावे। इतने पर भी दण्डीजी बेचारे, कमाते हैं, कि "ढूंढिये, बिना पैंदे के लोटे की भांति एक जगह कुछ बात और दूसरी जगह कोई दूसरी बात और इसी तरह अन्य स्थल पर अन्य बात लिख मारते हैं।" यह दण्डीजी का निरामायाचार है और उनकी बुद्धि के अज्ञानता के महासागर में गोते लगाने का नमूना है। तथा, भोले भाले जीवों को बहकाने के लिए, ऐसी बे सिर पैर की बातें लिखकर उन्होंने जिन शासन में हाथ में मुँहपत्ति रखने रूप मिथ्यात्व को फैलाने का कार्य्य किया है। नम्बर एक की उद्घोषणा के दिये हुए इस संक्षिप्त उत्तर को, पाठक गण ध्यान पूर्वक और मनन करते हुये पढ़ने का प्रयत्न करें। भगवान् उनकी आत्मा को सत्य के ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करें।

॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥



॥ वन्दे जिनवरम् ॥

जाहिर उद्घोषणा नंबर २ का उत्तर।

सत्य का ग्रहण और झूंठ का त्याग।



प्रिय महोदयों! आगे चलकर दण्डीजी लिखते हैं कि—

"अपने से किसी कार्य में पूरा २ उपयोग न रहे कुछ भूल हो जावे, दोष लगे तो पश्चात्ताप करके प्रायश्चित्त लेने से शुद्ध होते हैं।"

दण्डीजी इस वाक्य में उपयोग न रहे यह स्वीकार करते हैं और उद्घोषणा नं० १ के पृष्ठ ७२ में ऐसा लिखते हैं कि "जिसको शुद्ध उपयोग नहीं है उससे शुद्ध संयम धर्म कभी नहीं पल सक्ता।

अब विचारिये और देखिये कि दण्डीजी की यह दुरंगी चाल कैसी अनोखी है। एक जगह तो शुद्ध उपयोग न रहने से साधु वृत्ति नहीं पल सक्ती ऐसा लिख आये हैं और दूसरी जगह उपयोग न रहे, कुछ भूल हो जावे तो शुद्ध हो जावे ऐसा लिखते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भूल से किसी दण्डी ने मुंह पर मुंहपत्ति न बांध कर बिना उपयोग के हाथ में लेली। उसी भूल का यह फल हुआ कि सब दण्डी लोग हाथ में रखने लग गए। हा, अच्छे, बुरे का फल सोचे बिना अगर किसी ने मुंहपत्ति हाथ में रखने की भूल करली तो क्या उसीका अनुकरण करते रहना सिर्फ अंध विश्वास नहीं है? परन्तु जिनमें सोचने की ताकत नहीं है

वे भूल करने वालों पर चिकते रहें तो इसमें दूसरों का क्या दोष ? इसी तरह मुखवस्त्रिका प्रमादवश मुंह पर अटपटी लगने से किसी ने हाथ में रखना शुरू किया होगा वही चाल चल गई और उसी पर आज सारे श्वेताम्बर देहरे वासी साधु व श्रावक चला दिये, परन्तु उन्हें यह पता नहीं कि उन लोगों में पहिले मुख वस्त्रिका मुंह पर बांधी जाती थी हाथ में नहीं रखी जाती थी।

देखिये! मानव धर्म किसी एक की भूल पर चिकने की सलाह नहीं देता। वह चाहे गुरु ही हो अगर भूल जाय और सत्य मार्ग त्याग कर विपरीत मार्ग पर चले तो शिष्यों को उचित नहीं है कि वे भी वैसा ही करें यद्यपि भ्रम में पड़ कर उनने वह लकीर पकड़ ली हो तो लकीर के फकीर की तरह घुसी हुई कुरुढ़ियां, शास्त्र के प्रतिकूल चली हुई चालें मिटाना चाहिये। चित्त हो जाने पर भी पहलवान ताल ठोंके और पहलवानों का लंगर पहिने रहे तो यह उसकी धृष्टता है। मनुष्यत्व तो इसी में है कि अपनी भूल सुधार ले। जैसे किसी स्थान पर कुत्ते के कान फड़फड़ाने से उसका एक गटड ('कीट विशेष') उछल कर कथा कहने वाले पंडित के मुंह में आ गिरा उसने शीघ्र ही थूक दिया जिसका अभिप्राय श्रोताओं ने यह लगाया कि कुत्ते के कान फड़फड़ाने पर थूकना चाहिये और उस कथा कहने वाले का सबने अनुकरण किया अर्थात् थूका। कथा भट्ट महा दम्भी था उसने किसी को थूकने का सच्चा कारण नहीं बताया तब से यह प्रथा प्रचलित हो गई कि कुत्ते के कान फड़फड़ाने पर लोग थूकते हैं आज उन्हें थूकने से मना करते हैं तो परम्परा के अन्ध भक्त नहीं मानते। इसी तरह इन दण्डी लोगों की अन्ध रूढ़ि मिटाने का प्रयत्न करते हैं शास्त्र प्रमाण दिखाते हैं पर ये हाथ में रखने कर खुले मुंह बोल दोष व पाप के भागी होना ही पसन्द करते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने पिसे हुए को पुन. पीस कर मुहपत्ति बांधने में ३६ दोष बतलाये हैं इनका उत्तर हम आगमानुसार नं० १ की उद्घोषणा के उत्तर मे लिख चुके हैं फिर भी दण्डीजी की मनसा मुवाफिक संक्षिप्त में ३६ दोष के यहाँ भी उत्तर दे देना अनुपयुक्त न होगा।

१—दण्डीजी! अनादिकाल से सब साधु मुहपत्ति मुह पर ही बांधते थे यह मुहपत्ति शब्द से ही प्रमाणित होता है यदि ऐसा नहीं होता तो मुहपत्ति शब्द के स्थान पर हाथ में रखने का उल्लेख होता और हथपत्ति नाम रखा होता।

२—हमेशा मुह पर मुहपत्ति बांधना आगमानुसार तो सिद्ध है ही, पर इन्हीं दण्डी लोगों के माननीय योग शास्त्र से हमेशा मुह पर मुहपत्ति बाँधना सिद्ध होता है—देखिये योग शास्त्र के पृष्ठ २६१ पर लिखा है कि 'मुहपत्ति मुख था उष्णश्वास थी वायुकाय जीवानी विराधना टालवा माटे छे' यह हमारा हमेशा बांधे रहना 'मुख की उष्ण श्वास थी' इस शब्द के सिद्ध हो चुका। क्योंकि श्वास तो रात दिन हर समय आता है और जब श्वास हर समय आता है तो उस श्वास से 'वायुकाय जीवानी विराधना टालवा माटे मुहपत्ति छे' ऐसा योग शास्त्र में खुले शब्दों में उल्लेख है तो फिर बाकी क्या रहा ?

३—भगवती सूत्र में इन्द्र के सम्बन्ध में भगवान ने वही निर्णय आपा कही कि जो मुह पर कपड़ा बांध कर या लपेट कर बोली जाय, इस प्रमाण से सिद्ध है कि मुहपत्ति मुह पर ही बांधना चाहिये।

४—निरयावली सूत्र में सोमल तापस ने मिथ्यात्व में काष्ट की पटड़ी मुह पर बांधी और जब वह सम्यक्त्वी थे तब उनने वस्त्र की मुहपत्ति मुह पर बांधी थी ऐसा पूर्व परिचय सम्बन्ध से साबित होता है तो इससे प्रमाणित होता है कि जैन धर्म में मुहपत्ति हमेशा मुह पर ही बांधते थे, और अब भी बांधते हैं।

वे भूल करने वालों पर बिकते रहें तो इसमें दूसरों का क्या दोष ? इसी तरह मुखवस्त्रिका प्रमादवश मुंह पर छटपटी लगने से किसी ने हाथ में रखना शुरू किया होगा वही चाल चल गई और उसी पर आज सारे श्वेताम्बर देहरे वासी साधु व श्रावक चल दिये, परन्तु उन्हें यह पता नहीं कि जिन लोगों में पहिले मुख वस्त्रिका मुंह पर बांधी जाती थी हाथ में नहीं रखी जाती थी।

देखिये ! मानव धर्म किसी एक की भूल पर चलने की सलाह नहीं देता। वह चाहे गुरु ही हो अगर भूल जाय और सत्य मार्ग त्याग कर विपरीत मार्ग पर चले तो शिष्यों को उचित नहीं है कि वे भी वैसा ही करें यद्यपि भ्रम में पड़ कर उनने वह लकीर पकड़ ली हो तो लकीर के फकीर की तरह घुसी हुई कुरुढ़ियां शास्त्र के प्रतिकूल चली हुई चालें मिटाना चाहिये। चित्त हो जाने पर भी पहलवान ताल ठोंके और पहलवानों का लंगर पहिने रहे तो यह उसकी धृष्टता है। मनुष्यत्व तो इसी में है कि अपनी भूल सुधार ले। जैसे किसी स्थान पर कुत्ते के कान फड़फड़ाने से उसका एक गटूंड (कीट विशेष) उछल कर कथा कहने वाले पंडित के मुंह में आ गिरा उसने शीघ्र ही थूक दिया जिसका अभिप्राय श्रोताओं ने यह लगाया कि कुत्ते के कान फड़फड़ाने पर थूकना चाहिये और उस कथा कहने वालों का सबने अनुकरण किया अर्थात् थूका। कथा भट्ट महा दम्भी था उसने किसी को थूकने का सच्चा कारण नहीं बताया तब से यह प्रथा प्रचलित हो गई कि कुत्ते के कान फड़फड़ाने पर लोग थूकते हैं आज उन्हें थूकने से मना करते हैं तो परम्परा के अंध भक्त नहीं मानते। इसी तरह इन दण्डी लोगों की अन्ध रूढ़ि मिटाने का प्रयत्न करते हैं शास्त्र प्रमाण दिखाते हैं पर ये हाथ में रख कर खुले मुंह बोल दोष व पाप के भागी होना ही पसन्द करते हैं।

लिखना दण्डीजी की अज्ञानता है। क्योंकि अव्वल तो दूसरी मुंहपत्ति रखते भी नहीं और यदि रक्खी भी जाय तो इसमें क्या हर्ज है? पर दण्डीजी थूक में असंख्य सम्मूर्च्छिम उत्पन्न होना मानोगे तो फिर प्रकृति वान दण्डी लोग जब रात्रि में शयन करते होंगे तब उनके मुंह से थाड़ी का पानी निकल कर बिछौने पर गिरता होगा और तुम्हारी आमनाय के अनुसार उसमें असंख्य जीव उत्पन्न होंगे फिर दण्डीजी के करवट बदलने में असंख्य जीवों की घात भी होती होगी तो क्या फिर प्रकृति वान दण्डी रात भर सोते होंगे या नहीं। अगर अपनी मान्यता पर दृढ़ प्रतिज्ञ होते तो बन्द रात भर जागरण कर रात व्यतीत करनी होगी।

९—दण्डीजी लिखते हैं कि मौन में मुंहपत्ति कुछ भी उपयोग में नहीं आती है। इस लिये मुंह पर बांधना निष्प्रयोजन क्रिया है यह भी कहना नितान्त मिथ्या है। क्योंकि ध्यान में रजोहरण का कुछ भी उपयोग न होने पर भी ध्यान के समय रजोहरण पास रखते हैं। ऐसे ही ध्यान में बोलने का कुछ भी काम न पड़ने पर भी मुंह पर मुंहपत्ति बंधी रखना मुनियों का कर्तव्य है।

१०—मुंहपत्ति तो हमेशा मुंह पर बांधने के ही काम आती है। नाक, कान, मस्तिक पर सचित रजादि या सूक्ष्म जीव हो तो छोटी प्रमार्जिनी जो हर एक साधु के पास रहती है उससे दूर कर देते हैं और इसीलिये भगवान ने छोटी प्रमार्जिनी रखने का हुक्म दिया है। छींकते समय नाक के आगे हाथ लगा लेना शास्त्रोक्त विधि है।

११—दण्डीजी कहते हैं कि 'दवाई लेने के समय या थूकने के समय वार २ मुंहपत्ति ऊंची नीची करके नाटक के परदे की तरह मुंहपत्ति की बड़ी विटम्बना करते हैं।

प्रिय पाठको! दवाई लेने या थूकने का ऐसा कोई लम्बा काम नहीं है पर दण्डी लोगों को तो जब जब बोलने का काम पड़े तब तब

५—दण्डीजी ने यह बिलकुल सफेद झूठ लिखा है कि १-२ रोज तक थूक की गीली मुहपत्ति नहीं सूखती दण्डीजी! प्रथम तो थूक से ऐसी गीली मुहपत्ति होती ही नहीं। और यदि कुछ बोलने से थूक के छोटे जर्रे लगे भी तो क्या दो रोज तक नहीं सूखेंगे? अफसोस! इतनी बडी झूठ बोलते भी दण्डीजी का हृदय कम्पित नहीं हुआ! हो भी कैसे? क्योंकि उन्हें तो इन्हीं थोथी बातों से पोथा भरना था? सामान्य समझ रखने वाला व्यक्ति भी यह कबूल नहीं करेगा कि मुहपत्ति दो रोज में सूखेगी तो भी दण्डीजी ने ऐसा लिख संसारको अपना पांडित्यपना दिखा ही दिया। फिर थूक में असख्य समुर्च्छिम उत्पन्न होवे हैं यह भी लिखना दण्डीजी का मिथ्या है। क्योंकि समुर्च्छिम उत्पन्न होने के १४ स्थानों मे थूक का नाम नहीं है अगर १५ वा स्थान थूक होता तो सूत्रकार क्या नहीं लिखते?

६—थूक से न तो एसी मुहपत्ति गीली होती है और न रात में दूसरी बाँध कर सोने व अलग रखने में नीलण फूलण हो उत्पन्न होती है। दण्डीजी ने मुहपत्ति में नीलण फूलण उत्पन्न होने का लिखा यह उनका सरासर झूठ है।

७—दण्डीजी लिखते हैं कि थूक की गीली मुहपत्ति बांधी रखने से मुह झूठा रहता है झूठे मुह से सूत्र पढते हैं।

यह भी लिखना दण्डीजी की बाल चेष्टा है क्योंकि थूक से ऐसी गीली मुहपत्ति नहीं रहती और अगर मान लें कि थूक के छोटे जर्रे लगते भी हैं तो क्या इससे मुह झूटा हो जायगा? यदि ऐसा ही हो तो मुह में थूक तो सभी के हमेशा भरा रहता है तब तो हाथ में मुंहपत्ति रख सूत्र पढ़ने वाले दण्डी लोग भी क्या झूठे मुह पढ़ने वाले नहीं कहलायगे? अर्थात् अवश्य कहलायेंगे।

८—बांदी वाले कोई दूसरी छोटी मुहपत्ति, रखना पडे यह भी

लिखना दंडीजी की अज्ञानता है। क्योंकि अव्वल तो दूसरी मुहपत्ति रखते भी नहीं और यदि रक्खी भी जाय तो इसमें क्या हर्ज है? पर दण्डीजी थूक में असंख्य संमुर्च्छिम उत्पन्न होना मानोगे तो पित्त प्रकृति वाले दण्डी लोग जब रात्रि में शयन करते होंगे तब उनके मुंह से वादी का पानी निकल कर बिछौने पर गिरता होगा और तुम्हारी आमनाय के अनुसार उसमें असंख्य जीव उत्पन्न होंगे फिर दण्डीजी के करवट बदलने में असंख्य जीवों की घात भी होती होगी सो क्या पित्त प्रकृति वाले दण्डी रात भर सोते होंगे या नहीं। अगर अपनी मान्यता पर दृढ प्रतिज्ञ होंगे तो उन्हें रात भर जागरण कर रात व्यतीत करनी होगी।

९—दण्डीजी लिखते हैं कि मौन में मुहपत्ति कुछ भी उपयोग में नहीं आती है। इसलिये मुंह पर बांधना निष्प्रयोजन क्रिया है यह भी कहना नितान्त मिथ्या है। क्योंकि ध्यान में रजोहरण का कुछ भी उपयोग न होने पर भी ध्यान के समय रजोहरण हो रखते हैं। ऐसे ही ध्यान में बोलने का कुछ भी काम न पड़ने पर भी मुंह पर मुहपत्ति बंधी रखना मुनियों का कर्तव्य है।

१०—मुहपत्ति तो हमेशा मुंह पर बांधने के ही काम आती है। नाक, कान, मस्तिक पर सचित रजादि या सूक्ष्म जीव हो तो छोटी प्रमार्जिनी जो हर एक साधु के पास रहती है उससे दूर कर लेते हैं और इसीलिये भगवान ने छोटी प्रमार्जिनी रखने का हुक्म दिया है। छींकते समय नाक के आगे हाथ लगा लेना शास्त्रोक्त विधि है।

११—दण्डीजी कहते हैं कि 'दवाई लेने के समय या थूकने के समय वार २ मुहपत्ति ऊंची नीची करके नाटक के परदे की तरह मुंह-पत्ति की बड़ी विटम्बना करते हैं।

प्रिय पाठको! दवाई लेने या थूकने का ऐसा कोई लम्बा काम नहीं है पर दण्डी लोगों को तो जब जब बोलने का काम पड़े तब तब

मुहपत्ति को मुह के आगे रखना पड़ता है। यह दवाई या थूकने के समय से भी अधिक विटम्बना कराने वाली हाथ में रही मुहपत्ति है। इसलिये मुह पर मुहपत्ति बांध लेने से ही ढूंढी लोगों को नाटक के पर्दे की तरह विटम्बना नहीं करनी पड़ेगी।

१२—दण्डीजी ! छींक, उबासी, डकार, खासी समय मुंहपत्ति मुंह के आगे रखते हो न ? जब मुंह के आगे रखते हो तो तुम्हारे ही कथनानुसार अशुद्ध पुद्गल छींक उबासी के साथ मुह में से निकले हुए पीछे मुंह में ही प्रविष्ट होते होंगे। जैसे भींत पर गेंद फेंकने से वह वापिस लौटकर आती है ऐसे ही वे अशुद्ध पुद्गल भी आते होंगे दण्डीजी प्रतिमा पूजते समय फिर तुम्हारे अनुयायी लोग मुंह क्यों बांधते हैं। उनके मुंह में से, छींक, डकार आदि के साथ जो अशुद्ध पुद्गल बाहर निकलेंगे वे ढाटा बंधे रहने से फिर मुह में चले जावेंगे तो पहिले उनको खबर तो लेते और उनसे पूजन के समय का ढाटा तो बांधना बन्द कराते। फिर दण्डीजी बिना सोचे समझे क्यों एसा लिख मारते हो ? भला मुहपत्ति बांधने से बीमारियां होतीं तो भगवान् उस का उल्लेख नहीं करते ? दण्डीजी ! डाक्टर और वैद्य भी मुह पर मुहपत्ति बांधने से फायदे बतलाते हैं। जरा आंख खोल कर देखो —

"A light of jain principles to the Public Health The principle of applying MulIapatti i e the covering over the mouth, is to protect the living germs that are present in the Atmosphere but as regards the medical point of view, the covering over the mouth is also the protect- oversclves from many diseases which are due to impurities of air

1 Effects of dust and solid impurities —

Dust consists principally of mineral particles of

formed or unformed organic matter of animal or vegetable origin e. g. Epithelia, fibres of wool or cotton or particles of animal or vegetable tissues. The effect depend on the amount inhaled and on the physical conditions of the particles, whether sharp-pointed or rough etc. They always injure health and the principle affections arising there from are Catarrh, Bronchitis, Fibroid pneumonia, Asthma, and Emphysema. The most important symptoms of Lung diseases produced by inhalation of dust are Dyspnea and Expetoration.

2. Effects of suspended Impurities —

Workers in rags and wool suffer similarly from dust. Dust from fleeces of wool has caused Anthrax. Mill-stone cutters, stone-masons, pearl cutters, sand-papermakers, knife-grinders, millers, hair-dressers, miners, furdyers, weavers, etc. all suffer from diseases of lungs caused by the inhalation of dust and other suspended matters. Brass-founders inhale fumes of oxide of zinc and suffer from Diarrhea, Cramp etc. Match-makers inhale fumes of Phosphorus and suffer from Necrosis of the lower jaw. Besides these infective matter from diseases like Typhoid fever, Measles, Small pox, Tuberculosis etc. are disseminated through the air probably always in the form of dust.

3. Effects of gases and volatile effluvia —

(a) Hydrochloric acid vapour causes irritation of Lungs and diseases of eye.

(b) Carbon disulphide vapours cause headache, muscular pain and depression of the nervous system

(c) Ammonia causing irritation of Conjuntiva.

(d) Carburated Hydrogen causing headache, Vomitting, convulsions etc When inhaled in larg quantity

(e) Carbon monoocide impartsa cherry red colour t the blood, and by interfering with oxgenation may cause diarrhea, headache, nausea, muscula and nervous depression

(f) Effluvia from Brick-fields, effluvia from of fensive trade, tanneries fat and tallow factories ge scraping, bone-boiling, paper-making etc Effects of gas from sewers and house-drains are diarrhea gastro-intestinal effects sure-throat dipheria, aneamia and constant illheath Disease like cholera, enteric fever, erysipelas, measle scarlet fever etc, are aggravited by sewer gas

4. Effects from decomposing oragnic carscases Cause out-breakes of diarrhea and dysentery.

Therefore gentlemen, pure air is absolutely necessary for heal thy life, and perfect heath can only be maintained, when in addition to other requirements there is an abundant supply of puro air Every one is aware that while starvation kills after days, depri vation of air-kills in a few minutes Heath and disease are in direct proportion to the jhurity br otherwise of ill-heath being largely due to impurities of the air Hence to apply Muhpati over the mouth h taught by three great authorities —

Nature, Jain Principles and Medical View.

(1) Nature teaches Human beings to avoid them selves from the direct attack of diseases i e for example whenever we pass by the side of discomposing carcas, at once our brain orders our hand to search out for a hand ker-chief and to apply over the mouth and nose so that bad nuisance may not injure the health

(2) Jain Principles teach us to apply Muhapati is already discussed in Shastras.

(3) Medical teaches us to avoid from all the diseases which can be acquired from air and dust is already discussed above

हिन्दी अनुवाद—

जैन सिद्धान्तों की दृष्टि से स्वास्थ रक्षा पर विचार—

मुहपति धारण करने का [मुहपर वस्त्र बांधने का] उद्देश यह है कि वायु में जो सजीव प्राणी रहते हैं उनकी रक्षा हो, और आयुर्वेद की दृष्टि से भी वायु में अनेक खराबियाँ रहने के कारण जो बीमारियां पैदा होती हैं उन बीमारियों से अपने शरीर को रक्षा इस मुख-वस्त्रिका के धारण करने से हो सकती है।

१—वायु में रहे रज [धूल] तथा दूसरे ठोस परिमाण से हानियां—

धूल में खनिज पदार्थों के टुकड़े व सजीव तथा वस्तु सम्बन्धी अनेक पदार्थ रहते हैं यथा—एकिथेलियां, ऊन या रुई के रेसे या सजीव प्राणियों के निर्जीव शव के टुकड़े वा सचित वस्तु के शरीर सम्बन्धी नसें व आंतें या हड्डियों के टुकड़े।

इन सब खराबियों का असर श्वासोच्छ्वास के न्यूनाधिक परिमाण पर व इन वस्तुओं की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है [अर्थात् ये वस्तुएं तीखे नोक वाली हैं या मोठे नोक वाली इत्यादि]—

ये सदा अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ देती हैं और इनसे मुख्य बीमारियां केटेरा, ब्रोन्कइटिस, फिबरोइड, निमोनिया, अस्थमा, एम्फिसिमा इत्यादि पैदा होती हैं।

रेणु मिश्र वायु सेवन से फेफड़े की बीमारियों के खास चिन्ह हिस्पिनया तथा एक्स पिटोरेशन हैं।

२—वायु आश्रित रही हुई अन्य खराबियों का असर—

इसी भांति चिथड़ों में वा ऊन में काम करने वाले रज से हानि उठाते हैं। ऊन के गुच्छों की धूल से एन्थ्रेक्स पैदा होता है। घट्टी टांचने या सिलावट, मोती काटने वाले, या रेजमाल कागज बनाने वाले, चाकू सुधारने वाले, चक्की चलाने वाले, बाल काटने वाले, खान खोदने वाले, ऊन रंगने वाले, कपड़ा बुनने वाले आदि सब रज मिश्रित दूसरे परमाणु युक्त वायु के सेवन से फेंफड़े सम्बन्धी अनेक बीमारियों से पीड़ित रहते हैं। उदाहरणार्थ—पौडर बनाने वाले जस्त [Zinc] आक्साइड [Oxide] के कण का श्वास लेते हैं और उनको डायरिया या क्रैम्प [Cramp] होजाता है। दियासलाई बनाने वाले फास्फरस की चिंगारियों का श्वास लेते हैं और उनके जबड़ों में 'नेक्रोसिस' होजाता है। इनके सिवाय चेपी रोग भी लागू हो जाते हैं। जैसे टाइफाइड, ज्वर, खसरा, माता, ट्यूबरकेसिस इत्यादि, जो कि हवा में हमेशा रजरूप में विस्तरित होते हैं।

३—हवा में गन्दगी व अन्य मैली हवाओं का असर—

[अ] हाइड्रोक्लोरिक एसिड की भाफ फेंफड़ों को बिगाड़ती है और नेत्रों के रोग पैदा करती है।

[ब] कारबन डायाक्साइड [Dioxide] की भोफ मस्तिष्क या नसों में दर्द व रगों में शिथिलता पैदा करती है।

[स] एमोनीया [कंजक्टाइवा] में दुर्विकार उत्पन्न करता है।

[द] कारब्यूरेटेड हाइड्रोजन, मस्तिष्क, वमन, ऐंठन, इत्यादि (जब ज्यादा परिमाण में सूंघ लिया जाये तो) पैदा करती है।

[ई] कारबन मोनोक्साइड खून का रंग हल्का लाल कर देता है और 'ऑक्सीजनेशन' के मिलने से डाइरिया, मस्तिष्क, नोसिस (उल्टी) नसों में तथा रगों में शिथिलता पैदा करता है।

ईंटों के अवांड़े की हवा, दुर्गन्ध पदार्थों के व्यापार की हवा, चर्बी की फैक्टरियो की हवा, आंतें साफ करने की हवा, हड्डियों को उबालने की हवा, कागज बनाने की हवा, नालों व गटर की हवा से डाइरिया, आंतों में दुर्विकार, कुष्ठरोग, डिफ्थेरिया, एनिमिया, और सदा कुस्वास्थ्य का रहना इत्यादि बीमारिया होती हैं। परनालों की तथा गटर की हवा से हैजा, पान्डिव, ज्वर, मसिस पिलस, मस, लालबुखार इत्यादि बीमारिया बढ जाती हैं।

४—प्राणियों के सड़ते हुए शरीरो की हवा से डाइरिया या डिसेन्टेरी पैदा हो जाती हैं।

अत सज्जनगण! स्वास्थ्य रक्षा के हेतु स्वच्छ व शुद्ध वायु अत्यावश्यक है। स्वास्थ्य अच्छा तबही रह सकता है जब अन्य पदार्थों के सिवाय शुद्ध हवा का परिपूर्ण भाग विद्यमान हो। यह बात हरएक को विदित है कि यदि भूखों मरना अपने अन्तिम जीवन को क्षय करना है परन्तु वायु से वंचित रहना तो थोड़े ही समय में तमाम काम (जीवन) खतम कर देता है।

अच्छा स्वास्थ्य शुद्ध हवा पर उतना ही अधिक निर्भर है जितनी अधिक गन्दगियों में बीमारियां पैदा होती हैं। अर्थात् जितनी ज्यादह

वायु में खराबिया रहती हैं उतनी अधिक बीमारियाँ भी पैदा होती हैं। इसलिये मुंह पर वस्त्र धारण करना इन तीन सिद्धान्तों से पुष्ट होता है प्राकृतिक, जैन, और वैद्यक।

[१] प्रकृति प्राणीमात्र को बीमारियों से रक्षा करना सिखाती है। जैसे—यदि हम कहीं एक सड़ती हुई लाश के पास से होकर गुजरें तो एकदम अपना दिमाग अपने हाथ को जेब में से रूमाल निकालने के लिये तथा उसको नाक से आड़ा लगाने के लिये प्रेरित करता है ताकि दुर्गन्धी हवा स्वास्थ्य को न बिगाड़दे।

[२] मुहपत्ति को धारण करने के विषय में, जैनशास्त्रों में परिपूर्ण रूप से व्याख्या तथा पुष्टि की गई है।

[३] वैद्यक शास्त्र भी हमको यही सिखाता है कि उपरोक्त वायु के आश्रित रेणु तथा दुर्गन्ध से जो बीमारिया पैदा होती हैं उनसे अपने आपको बचाओ।

कतिपय मित्र यह तर्क करेंगे कि मुहपत्ति को नाक पर क्यों नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि नाक भी तो वायु सेवन का द्वार है। उत्तर में इतना ही लिखना यथेष्ठ है कि प्रकृति ने नाक में बाल रखे हैं जिनसे बाहरी खराबियाँ रुक जाती हैं।

१३ दण्डीजी नम्बर १ की उद्घोषणा के पृष्ठ ९ वें पर लिख आये हैं कि "मुख बांधो ऐसा मूल पाठ होने पर भी नाक बांधने का कहना प्रत्यक्ष-झूंठ है" और यहां पर लिखते हैं कि "विपाक सूत्र में नाक-मुंह दोनों के ऊपर थोड़ी देर बांधने का कहा" देखिये दण्डीजी के लेख से ही दण्डीजी झूठे ठहर गए। जब उन्हें अपने पोथे पोथे की भी याद न रही कि पहिले मैं क्या लिख आया हूँ और अब क्या लिख रहा हूँ। सच है, जिन्हें झूठ का भेष

नहीं, वे झूठ लिखने से कभी क्यों हिचकिचायगे ? विपाकसूत्र में मृगा-राणी ने गौतम स्वामी को दुर्गन्ध से बचने के लिये मुख बांधने को कहा इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दुर्गन्ध से बचाव जब ही होगा जब नाक ढंकेगा, अन्यथा नहीं। अतः गौतम स्वामी के मुह पर नाक ढाकने के पहिले ही मुँहपत्ति बंधी थी।

१४—दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढिये एक कपड़े की-लम्बी चीरी लेकर लपेट कर बांधते हैं" यह भी दण्डीजी का लिखना सरासर झूठ है। क्योंकि १६ अंगुल चौड़ी और २० अंगुल लम्बी प्रायः हम मुहपत्ति बांधते हैं। लम्बी चीरी का कहना यह दण्डीजी की भूल मनसाहस ही है।

अब देखिये। दण्डीजी लिखते हैं और इनके माननीय ग्रंथों में भी लिखा है कि एक बेंत चार अंगुल सम चौरस मुहपत्ति को तिकोनी कर उससे नाक मुह दोनों को गुदी के पीछे गाँठ लगाकर बांधते। विचारशीलो, सोचो। सूत्रों में आठ प्रत वाली मुहपत्ति कही है और ठीक ऐसाही दण्डियों के माननीय ग्रन्थों में भी लिखा है। पर दण्डियों के कथनानुसार एक बेंत चार अंगुल सम चौरस कपड़े की मुँहपत्ति के आठ प्रत करने पर वह तिकोनी नहीं रहेगी और उसे तिकोनी करेंगे तो आठ प्रत नहीं रहेंगे। अतः मुहपत्ति को तिकोनी कर गुदी के पीछे गांठ लगाकर बांधना सूत्र विरुद्ध है। यदि कहोगे कि तिकोनी न कर उसकी आठ प्रत बना नाक और मुह दोनों बांध लेंगे तो यह भी कहना मूर्खता सिद्ध करेगा, क्योंकि एक बेंत चार अंगुल सम चौरस कपड़े से नाक और मुह दोनों बांध नहीं सकते। हाँ, नाक पर पट्टी तो अवश्य लग जायगी जैसी कि नकटे को बांधी जाती है। अगर कहोगे कि मुह प्रमाण कपड़े से बांध लेंगे तो तुम्हारे आचार्यों का एक बेंत चार अंगुल सम-

चौरस कपड़े का प्रमाण देना गलत ठहरेगा; उनको यही कहना था, कि शुद्ध प्रमाण कपड़ा लेकर उस कपड़े से मुहपत्ति बनालो।

१५—"मुहण वगेण" का अर्थ मुंहपत्ति होता है और मुंहपत्ति के साथ धागे का होना स्वतः सिद्ध है। देखो जब नाभा की राज्य सभा में शास्त्रार्थ हुआ तब सात मध्यस्थ नियत हुए थे उनमें भाई कानसिंह जी सब मध्यस्थों में अग्रसर थे, उन्होंने भी कहा था कि मुहपत्ति कहने से धागा स्वयं सिद्ध हो जाता है।

१६—धूप के दिनों मे २-३ मुंहपत्ति बदलने का जो दण्डीजी का लेख है वह नितान्त मिथ्या है। हम २-३ मुहपत्ति दिनमे नहीं बदलते हैं।

१७—छींकते समय नाक का मेल मुंहपत्ति पर लगना असम्भव होता तो भगवान् भगवती आदि सूत्रों में गौचरी जाते समय "मुंहपोत्तियं पडिलेहइत्ता" अर्थात् मुहपत्ति की प्रति लेखना या उसे देखकर गौचरी जाने का क्यों लिखते? इस लेख से स्पष्ट है कि मुहपत्ति पर कदाचित् श्लेष्मादि लगा हो तो उसे दूर कर फिर मुहपत्ति बाध साधु गौचरी जाँय।

ग्रन्थ की प्रस्तावना पृष्ठ ५४ से ५५ तक तुम्हीं को क्या कहा है जरा आखें खोलकर देखो।

"सत्य विजय १, कपूरविजय २, क्षमा विजय ३, जिनविजय ४, उत्तमविजय ५, पद्मविजय ६, रूपविजय ७, कीर्त्तिविजय ८, कस्तूरविजय ९, मणिविजय १०, मुक्तिविजय ११, बस लघुभ्राता आनन्दविजय। ओ सर्व पेढीयो श्रीच्छाचारि बोल पत्रक प्रमुख मन्थों ना अभिप्राय थी अने जिन लिंग थी विरुद्ध सिद्ध थाय छे, केम के ते मन्थों मा एलियाजर तथा पित प्रमुख रंगेला वस्त्र धारवो वालाने गुरु गच्छ आचार्य आज्ञा रहित जैन लिंग विरोधि कया छे ते-प्रथम एमनी पेढीमा श्रीसत्यविजयजी पन्यासे गुरु आज्ञा विना एलियाजर करया, ने त्यार पछी केटलिक पेढीवाला ओए काथीया करया ने पछे तो फटक रंगीला केशरिया करया ते वर्तमानमा वर्ते छे"

फिर भी देखिए! नृपेन्द्रचन्द्र विरचित "कदाग्रह दुर्मेहनो शान्ति-मत्र" नामक पुस्तक के पृष्ठ १२ पर—

"तम पीला कपड़ा वाला गुरु कह्या तेमा प्रथम पीला कपड़ा ओज जिन आणा विरुद्ध छे, तप गच्छना शास्त्रोनी समाचारी प्रमाणे तद्दन विरुद्ध छे"

और "जैन तत्वादर्श" के पृष्ठ ६०५ पर दण्डी आत्मारामजी ने "मरीचि" का वर्णन किया है कि उसकी आत्मा मलीन थी अत रंगीन कपड़े पहने"

फिर देखिए दण्डीजी! तुम्हारे ही रत्नविजयजी ने विनती शतक की ३१ वीं गाथा मे उल्लेख किया है, जरा आख खोलकर देखो।

"नहीं करीयो नेह। कर शके, न कुछ हो करणाने योग के।
पीला कपडा पहेर के, भला हसाया कलयुगीया लोक के ॥ १॥

दण्डी जी ! उपरोक्त प्रमाणों से पीले कपड़े पहनने वाले तुम दण्डी लोगों को बहुरूपिये और भाँड के जैसे कहें तो भी अत्युक्ति नहीं होगा क्योंकि तुम्हारे ही आचार्यों ने जैन साधुओं को श्वेत कपड़े पहनने की रीति जिन आज्ञा अनुकूल कही तो है फिर बहुरूपिये कौन हुए ? तुम ही सच कहो न।

दण्डीजी ! व्यर्थ अपनी पोल खुलाकर क्यों शिथिलाचारी सिद्ध होना चाहते हो, अन्य दर्शनी तो दूर रहे पर पहिले तुम्हारे घर के ही लोग पीले कपड़े पहिनने वालों की हँसी कर रहे हैं।

२०—दशवैकालिक सूत्र के 'जयं भु जतो भासंतो' से स्पष्ट सिद्ध है कि जब साधु को भोजन करते समय बोलने का काम पड़े तो यत्ना से गुरू से शाक, रोटी मांगले अर्थात् मुंह के आगे हाथ लगाकर बोले, क्योंकि भोजन के समय तो मुहपत्ति खोलना पड़ती है उस समय कुछ बोलने का काम हो तो खुले मुंह से न बोलकर मुंह के आगे आडा हाथ लगाकर यत्ना करके बोलने का भगवान का आदेश है। और भोजन करना तो "जयं भु जतो" यत्ना से करना, कुछ हाथ से गिरता जाय कुछ खाते जायें या भरड़ २ चाबते जाय ऐसी अयत्ना न करते भोजन करें। बस भगवान अयत्ना त्याग यत्ना से खाने का आदेश दे रहे हैं।

रखकर उपदेश देने वाले मुह की यत्ना पूरी नहीं कर सकते, इसलिये खुले मुह बोलने के दोष से दूषित दण्डी लोग ही ठहरे।

दण्डीजी! फिर भी देखिए समुस्थान सूत्र के पृष्ठ वीसरे पर मुंहपत्ति मुह पर हमेशा बाधने का स्पष्ट प्रमाण है।

"गोयमा सलिंगे मुहपत्ति मुहसद्ध बधे, मुहपत्तिए भते किं पमाणे? गोयमा मुहपमाणे मुहपत्ति मुहपत्तिए भते केण वत्थस्स कडे? गो० एग विसेय वत्थस्सए अट्ठपुडलाए मुहपत्ति करेह, कस्सट्ठे, मुहपत्तिए अट्ठपुडलाइ गो० अट्ठकम्म दहणट्ठे एगकन्नेण दुब्बे कन्नपमाए दोरे सद्धि मुहे बधेह मुहपत्तिण भ ते के अट्ठे गो० जपए मुहअ ते सइवट्टति से तेण ठेए मुहपत्ति कस्सट्ठे भते मुंहपत्ति मुहसद्धि बधे गो० मुहपत्ति बधे सलिंग वाउजीवरक्खणट्ठे जइण भते मुंहपत्ति वाउजीव रक्खणठाय ते किं सूहम वाउकायजीव रक्खणट्ठाय वा बायर० गो० णोनि सुहुम वाउकाए जीवरक्खणट्ठाय गो० बायर मुहसद्देण वाउकाय जीवरक्खट्ठेय नो तिअविसेस एव ते सव्वेवि अरिहता पवुच्च ति से केणट्ठेण भन्ते बायर वाउ जीवकायाण वि सुहुम णामधिज्जा गो० अदिस्सति म सचक्खूणा तेणट्ठेण णामा सलिगस्सए मुहपत्ति माइयाइ नाम धिज्जायाइ अन्नत्थ रय हरन जीवरक्खन उवगरन वि नो उवही ॥ गाहा ॥ मुहपत्ति मुहबधे वाउजीव सरक्खणट्ठे, तसट्ठे मुहपत्ति अरिहन्ता सलिंग भासइ ॥१॥ मुहपत्ति सलिंगे जाव विणय मूलधम्मरुय मुहसद्धि बधित्ता।

दण्डीजी! फिर भी देखिए तुम्हारे ही अनुयायी द्वारा विरचित जैन कथा रत्न कोष के सातवे भाग की पृष्ठ ४०५ पर मुहपर मुहपत्ति हमेशा बाधने का प्रबल प्रमाण है।

"वली ते मोहन, साधुना दोषो ने गवेषो ते दोषो ने केवल मन माज समजी बेसी रहे तो नथी, परन्तु ते सर्व श्रावको ने घेर घेर जइ

कहे तो फरे छे के हे श्रावको ! आ वखतमा कोई जैन साधु तो साधुना धर्म पालताज न.थी, तमे कहे शो के ते वातनी तमने केम मालम पडी। तो के साभलो हूँ पोषध तथा सामायिक करवा प्रति दिन उपाश्रयमा जाऊ छु तो त्या में ते साधुउमा प्रत्यक्ष रीतें दोषोज दीठा छे, तेमा कोइ पण साधुने सारी रीते परिपूर्ण रीतें चारित्र व्रत पालनारो दीठो नथी, ते तेना दोषो कहु, ते साभलो के ते उपाश्रय मां रहेतां साधु माहेला केटला एक साधुउतो मुहपत्ती बाध्या विनाज बोल्या करे छे, वली केटला एक साधु दडासन ने करमा लइने चाले छे, केटला एक साधु आखो दाडो सर्व,क्रिया छोडी ने उघ्याज करे छे। वली केटला एक साधु विकथाज करऱ्या करे छे कोई एक साधु तो पर्व दिवसना उपवास पण करता नथी। कोई एक साधु शुद्ध सूत्र पण वाची जाणता नथी, केटला एक साधु स्वाध्यायाध्यन पण करता न थी। माटे ते जोता तो मने एम लागे छे के सर्व साधु दोषना भरे लाज छे तेथी तेउने अन्न वगेरे वहोरावबु ते पण सर्व व्यर्थज छे।

२१ दण्डीजी ! मुख्य जीवों की रक्षा के लिये ही सूत्रकार ने मुंहपत्ति का कथन किया है फिर ,साधु पहिचान और मुह में धूल प्रवेश न हा ये तो गौण कारण हैं पर लाभ तो विशेष ही है इसे हम कब अस्वीकार करते हैं पर मुहपत्ति बाँधने से खास मतलब जीवों की रक्षा है।

२२ नाक पर मुहपत्ति बांध जीवों की रक्षा करना किसी सूत्र मे नहीं कहा। दण्डीजी ने मुहपत्ति से नाक ढँकना कहा यह सूत्र विरुद्ध है। क्योंकि खासी, छींक, लेते वक्त भगवान ने नाक के आड़ा हाथ लगाने का कथन किया है पर मुहपत्ति से हमेशा नाक बाँधे रखना नहीं कहा।

२३ निरोगी, बीमार या सथारा किये हुए सब साधुओं के लिये भगवान ने एक से महाव्रत पालने — है। किसी के लिये भी यहाँ तनिक छूट नहीं दी। र्द

भेष बदल लेना किसी सूत्र में नहीं कहा इसी प्रकार संथारा करने वाले साधु के लिये भी नियम है फिर भला अन्त समय मुहपत्ति मुह से दूर कैसे की जा सकती है ? जो कि जीव रक्षा का एक मात्र साधन है। हां, शायद दण्डियों ने ऐसा नियम बनाया हो तो हमें मालूम नहीं कि अन्त समय साधु का भेष बदल गृहस्थी का भेष पहन लेना और पास के मुह पत्ति और रजोहरण भी त्याग देना। अस्तु, अब रही बात यह कि गृहस्थियों से अन्त समय में मुंहपत्ति रखवाते हैं यह कहना दण्डियों का सफेद झूठ है क्योंकि जैन गृहस्थ के मरने पर किसी के मुंहपत्ति नहीं बंधी होती और न बंधवाते हैं यह बात तो सामान्य बुद्धि वाले भी जानते हैं।

२४ बड़े २ पढे लिखे बारिस्टर, बी० ए० एल, एल, बी०, एम०, एल० सी० दीवान बहादुर, रायबहादुर, रायसाहेब, आनरेरी मजिस्ट्रेट आदि पदवी धारी एवम् कोड़ाधिपति लक्षाधिपति प्रतिष्ठित सज्जन और नवयुवक सब ही बड़ी खुशी के साथ मुह पर मुहपत्ति बांधते हैं और अपना धर्म कार्य करते हैं। यदि यह बात साक्षात देखना हो तो पर्यूषण पर्वाधिराज में आकर दण्डी लोग स्वयं देखले।

२५ श्रावक जन अपने पोशाक सहित संवर या नमस्कारादि करें और उस समय मुह पर मुहपत्ति बांधे तो किसी भी सूत्र में इसकी मुमा नियत नहीं है। देखो जब श्रावक बहुमूल्य वाली पोशाक पहन कर भग वान को वंदने के लिये जाते थे उस समय उत्तरासग अर्थात् मुँह पर कपड़ा लपेट कर जाते थे और इसी प्रकार भगवान को नमस्कार करते थे।

२६—जैन सूत्रों में तुंगीया नगरी के श्रावक, सुदर्शन आनन्द जी आदि सब ही श्रावकों ने मुहपत्ति शब्द से ही मुँह पर मुहपत्ति बाँध कर धार्मिक क्रिया की थी किसी भी सूत्र में किसी भी श्रावक ने मुहपत्ति

हाथ में नहीं रक्खी । यदि हाथ में रक्खी होती तो दण्डीजी अवश्य ही कूद २ कर नाचते फिरते और यहा प्रमाण लिखने के लिये ५-१० पन्ने काले कर डालते पर कहीं सूत्र में हाथ में रखने की गध तक नहीं तो फिर दण्डीजी क्या लिखें ?

२७ समझदार श्राविकाएं मुंह पर मुंहपत्ति बांधने के लिये जो कपड़ा लाती हैं उस पर गोटा या मोती नहीं लगाती अगर कोई लगाती हैं वो हमारे उपदेश से नहीं यह उनकी भूल और छद्मस्थपना है। पर अफसोस इस बात का है कि जो भगवान आभूषण त्याग मोक्ष पधार गए हैं फिर उनकी स्थापना कर आभूषण पहना पुन उन्हें ससारी बनाना चाहते हैं यह दण्डीजी की कितनी कूट अज्ञानता है।

२८ यहां दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढियों की और तेरह पंथियों की मुंहपत्ति में लम्बाई, चौडाई, छोटी, मोटी आदि तरह २ की विचित्र प्रकार की भिन्नता है परन्तु एक प्रमाण नहीं है। यह भी प्रत्यक्ष शास्त्र विरुद्ध है।" और इसी उद्‌घोषणा के पृष्ठ २६ पर दण्डीजी यह लिख आये हैं कि—"अपने २ मुंह प्रमाणे मुंहपत्ति रखने की मर्यादा है" अब यहां सोचना चाहिये कि "अपने २ मुंह प्रमाणे" इस वाक्य से मुंहपत्ति की भिन्नता खुद दण्डी लोग ही बता रहे हैं क्योंकि किसी का मुंह छोटा है तो किसी का बडा है कोई बालक साधु है तो कोई वृद्ध साधु है किसी का न ज्यादह बडा है और न छोटा है अपने २ मुंह प्रमाणे मुंहपत्ति रक्खी जाती है। इसकी भिन्नता स्वय दण्डीजी कबूल करते हैं और दण्डियों के माननीय आचार्यों ने भी मुंहपत्ति की भिन्नता होने का प्रमाण माना है फिर भी दण्डीजी ऐसा क्यों लिख रहे हैं कि मुंहपत्ति तरह २ की रखना शास्त्र विरुद्ध है ?

प्रिय महानुभावो ! दण्डीजी पोथा लिखने तो बैठे और अपनी ही लिखी पिछली बातें भूलते चले, न मालूम कौनसी तरंग में कौनसी

बात शास्त्र अनुकूल है या प्रतिकूल, यह भी याद नहीं रहा। पर दण्डीजी का लिखना शास्त्र एवम् ग्रन्थों के विरुद्ध है।

२९ दण्डीजी ! मुंह पर मुंहपत्ति बाँध यथा योग्य क्रिया पाल कर मरे नहीं पर एक ही भव कर मोक्ष जाते हैं और इसी भव में ही जा रहे हैं। देखो महाविदेह क्षेत्र की ओर। दण्डीजी ! जैनवेष के साथ क्रिया भी करेंगे तो उनकी मोक्ष क्यों नहीं होगी ? जीवाभिगम सूत्र में "सलिंग सिद्धा" अर्थात् जैन वेष के साथ क्रिया करने पर जीव मोक्ष में जाता है, ऐसा स्पष्ट लिखा है।

३० दण्डीजी लिखते हैं कि "चोर, डाकू, निन्दक आदि अपने मुंह छिपाते हुए फिरते हैं" इसी तरह ढूंढिये भी।

इस प्रकार लिख कर दण्डीजी ने अपने ही पैरों पर कुठाराघात किया है क्योंकि व्याख्यान देते समय या बोलते समय दण्डी लोग ही अपना मुंह छिपाते हैं। इसलिये दण्डी लोग अव्वल नम्बर के चोर, डाकू और निन्दक ठहरते हैं। यही नहीं जैसे नकटे को नाक छिपाना पड़ता है वैसे ही दण्डी लोगों को मुंह के साथ नाक भी छिपाने की चाट लग गई है। यदि पाठकों को यह प्रत्यक्ष देखना हो तो दण्डी मणि सागर के गुरु कृपा चन्द्र सूरि को व्याख्यान देते समय देख लें और सूत्रों के पाठों को चुराने वाले एवम् अर्थों को बिगाड़ने वाले दण्डी लोग ही हैं जिसका उल्लेख हम जाहिर उद्घोषणा न० १ के उत्तर में कर चुके हैं।

३१ दण्डीजी लिखते हैं कि "निशीथ सूत्र में साधु को अपने मुख की शोभा के लिये दांतों को, होठों को साफ करना, रंग लगाना, तथा कटवा कर सुधराना इत्यादि कार्य करने वाले को दोष बतलाया है यह बात खुला मुंह हो तब तो शोभा के लिये की जाती है परन्तु बंधा हुआ हो तो नहीं।"

दण्डीजी ! उसी निशीथ सूत्र के १५ वें उद्देशे में साधु को गुह्य स्थान के बाल काटना नहीं और कटवा कर सुन्दर बनवाना नहीं और यदि कोई साधु ऐसा करे तो उसके लिये प्रायश्चित लिखा है। देखो सूत्र पाठ.——

जे भिक्खू विभुसावडियाए अप्पणो दीहाइ वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पत वा संठवत वा साइज्जइ।

अब कहिये दण्डीजी ! जब चोल पट्ट (अधोवस्त्र) पहनने को हो तो गुह्य स्थान की शोभा कौन और कैसे देख सक्ता है ? इससे तो तुम्हारे कथनानुसार यह साबित होता है कि साधु को चोल पट्टा नहीं पहनना चाहिये क्योंकि जैसे मुंहपत्ति मुंह पर बाधे तो दांतों की शोभा कौन देखे ? ऐसे ही चोल पट्टा पहिनने पर गुह्य स्थान की शोभा कौन देखे जो सूत्रकार ने गुह्य स्थान के बाल काटने की मनाई करदी। अगर कहोगे कि चोल पट्टा तो अवश्य पहना रहता है तो दण्डीजी चोल पट्टा पहिनने पर भी गुह्यस्थान के बाल काटने मे प्रायश्चित क्यों कहा ? इसी प्रकार मुंहपत्ति मुंह पर बन्धी रहने पर भी दांत घिसने वाले को दण्ड बतलाया है। दण्डीजी ! यही कहोगे कि जब सूत्रकार ने दांतों की शोभा के लिये घिसने की मनाई क्यों की ? क्योंकि मुंहपत्ति बंध जाने पर कोई देख सकता तो नहीं है ? हां, यह तर्क ठीक है पर जब साधु आहार करने को बैठते हैं उस समय मुंहपत्ति खोल कर भोजन करते हैं तब सामुदायिक अन्य साधुओं को अपने दांतों की शोभा दिखाने के निमित्त घिसने का निषेध किया है।

३२ दण्डीजी ! भाषा के पुद्गल तो चौस्पर्शी हैं किन्तु कण्ठ आदि स्थानों से बोलने पर आठ स्पर्शी हो जाते हैं क्योंकि आठ स्पर्शी हुए बिना भाषा को पकड़ नहीं सकते। देखो, [illegible] जिसमें जैसा

गोयन गाया जाता है वैसा ही उतर जाता है। इस पर से सिद्ध है कि चार स्पर्शी पुद्गल ग्रहण नहीं हो सकते और बोलने के बाद भाषा के पुद्गल आठ स्पर्शी हो जाते हैं। देखो भगवती सूत्र के आठवें शतक के तीसरे उद्देश में पुद्गल तीन प्रकार के कहे हैं।

"कई विहए भंते! पोग्गला पएणत्ता! गोयमा! तिविहा पोग्गला पएणत्ता त जहा पओग परिणया, मीस परिणया, वीससा परिणया।

अर्थात्—जीव के लगे सो पोप से पुद्गल हैं और जीव रहित मिश्र पुद्गल और विशेषा पुद्गल दिखते हैं पर हाथ नहीं आवे जैसे धूप और छाया दिखती है पर हाथ नहीं आती इसी तरह भाषा के पुद्गल बोलने के बाद चौस्पर्शी हों तो उन्हें पकड नहीं सकते, इससे सिद्ध है कि भाषा के पुद्गल कण्ठादि स्थानों से बोलने के बाद आठ स्पर्शी हो जाते हैं जब होठ से होठ या दात से दात मिलते हैं तो अजीव उष्ण वायु काय पैदा होती है और उस अजीव उष्ण वायु काय से सचित वायु काय के जीव मर जाते हैं इसीलिये हेमाचार्यजी योग शास्त्र में "मुहपत्ति वायुकाय जीवानी विरधिना टालवा माटे छे" ऐसा लिख गए हैं।

जब दण्डी लोग स्वयं मुहपत्ति को मुह के आगे रखते हैं और व्याख्यान आदि के समय मे मुह पर बाँधते भी हैं तो क्या वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिये ऐसा नहीं करते ? फिर व्याख्यान के समय मुह पर क्यो बाधते हैं ? बोलते समय मुह के आगे क्यों देते हैं ? और हेमाचार्यजी अपने शास्त्र में इसका क्यों उल्लेख करते ? तथा आगमों में इसका वर्णन क्यों मिलता ? इन सब बातों से यही तात्पर्य निकलता है कि वायुकाय के जीवों की हिंसा के बचाव के लिये मुंहपत्ति मुह पर बाधते हैं और रखते है तब दण्डी मणिसागरजी ने दण्डी लोगों को

आम्नाय के विरुद्ध और शास्त्र विरुद्ध यह लिखने का कैसे साहस किया कि "वायुकाय के जीवों की हानि करने का ठहराते हैं यह भी सर्वथा सूत्र विरुद्ध है।" इससे मालूम होता है कि 'दण्डीजी' उत्सूत्र प्ररूपणा करने में सिद्ध हस्त हैं भला, यहा तो ऐसा लिखा और पृष्ठ २७ पर लिखा है कि "शास्त्रों में त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की रक्षा करने के लिये मुहपत्ति रखने का कहा है "अब यहाँ सोचिए कि क्या वायुकाय के जीव स्थावर जीवों में नहीं हैं ? यदि स्थावर वायु काय में हैं तो खुद दण्डीजी लिखते हैं कि त्रस एवम् स्थावर की रक्षा के लिये मुँह-पत्ति है और पृष्ठ २९ पर दण्डीजी ने लिख दिया कि "वायुकाय के जीवों की हानि करने का ठहराते हैं यह भी सूत्र विरुद्ध है" इस प्रकार लिखने से दण्डीजी खुद अपनी कलम से दूषित हुए हैं।

फिर देखिये ! जब वायुकाय की हिंसा न होती तो भगवती सूत्र में इन्द्र के प्रसग पर भगवान ऐसा क्यों कहते कि "मुंह को ढक कर बोलने वाले की निर्वद्य भाषा अर्थात् जिससे कोई भी हिंसा नहीं हुई ऐसी भाषा है और खुले मुह बोले उसकी सावद्य भाषा अर्थात् हिंसा-कारी है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि बोलने पर ओष्ठ दंत आदि के मिलने से व पृथक होने से जो वायु पैदा होती है उससे हिंसा होती है और उस हिंसा के बचाव के लिये मुहपत्ति बाँधना शास्त्रानुकूल है इस बात को सभी जानते और मानते भी हैं कि जैनी साधु हवा के जीव नहीं मरें इसलिये मुह पर मुहपत्ति बाधते हैं।

३३—उववाईजी, भगवतीजी, ज्ञाताजी आदि किसी सूत्र में यह नहीं कहा कि उत्तरासग ब्राह्मण की जनेऊ की तरह रखा जाय। जनेऊ की तरह समझना दण्डीजी का केवल भ्रम है। दण्डीजी, कई श्रावक लोग पूर्वानुसार आज भी वैसाही उत्तर सग करते हैं। और उत्तरासग शब्द का अर्थ भी यही होता है कि "उत्तर' नाम प्रधान 'आसग' मुंह पर रहने वाला वस्त्र विशेष।

चित्र परिचय के लिये



(३) इस में श्री आदिनाथ भगवान् का चित्र उल्लेखनीय है।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

३४–दण्डीजी ! मुहपत्ति मुंहपर बांधी जाती है यह सूत्र की आज्ञा से ही बांधी जाती है न कि आज कल के नवयुवकों के हाथ में रूमाल रखने की पद्धति से न डाक्टरों के चीर फाड़ के समय मुंह बांधने की रीति को देखने से हा, मुंह बांधने से कैसे २ फायदे होते हैं उसके उदाहरण हठाग्रहियों को समझाने के लिये फिर भी देते हैं देखो—मुंह बांधने से जहरीले धुंए का बचाव होता है। डाक्टरों के मुंह बांधने से मरीज की रक्षा होती है क्योंकि चीरा फाड़ी के समय अगर डाक्टर मुंह न बांधे और थूक उछल कर कहीं मरीज के घाव पर जा गिरे तो वह घाव बढ़ जाता है यहां तक कि उस मरीज की मौत भी हो जाती है। इसी तरह साधु के मुंह पर की मुहपत्ति स्वयं अपनी और पर जीव की रक्षा करने वाली है।

दण्डीजी ! तुम स्वयं ही लिख रहे हो कि सभा, आदि में मुंह के आगे कपड़ा लगाने का श्रेष्ठ व्यवहार है तो बस समझ लीजिये आगे प्रश्न करने का स्थान ही कहा रहा ? यदि यह कहोगे कि नाक पर क्यों नहीं बांधते हो तो इसका उत्तर पहिले ही लिखा जा चुका है कि मुहपत्ति की जगह सूत्र मे "नास मुखपत्ति" शब्द का प्रयाग गणधर कर देते तो अवश्य तुम्हारा कहना ठीक समझा जाता। परन्तु भगवान् ने नाम मुखपत्ति ही कहा इसलिये मुहपत्ति का उपहास करने वाले जे दण्डी लोग नाक पर बांधने की कहे वे आगम विरोधी हैं।

३५—दण्डीजी ! तुम लिखते हो कि जिनेश्वर भगवान् ने मुंह के आगे वस्त्रादि रख कर उपयोग से बालने वाले की भाषा को निर्दोष कहा है" तब भला दण्डीजी, तुम्हारे गुरु कृपाचन्द्र सूरिजी व्याख्यान देते समय मुंहपत्ति को मुंह पर बांध लेते हैं और इसी ग्रन्थ में व्याख्यान देते समय मुंहपत्ति बाँधना तुम भी स्वीकार करते हो और इसीलिये इस जगह हमेशा शब्द का प्रयोग किया है। जब मुंह पर मुहपत्ति बाँध कर व्याख्यान दोगे तो तुम्हारे ही कथनानुसार वह भाषा सावद्य (हिंसा-

कारी) ठहरेगी, क्योंकि तुम कह रहे हो कि "मुंह के आगे व
रखकर उपयोग से बोलने वाले की भाषा को निर्दोष कहा है।
तुम्हारे लेख से तुम ही जिनराज की आज्ञा के उत्थापक हुए और
बात जैन समाज में प्रसिद्ध है कि वीराज्ञा के उलघन करने वाले अ
मसारी होते है।

दण्डीजी ! जब लिखना चाहो तो पहिले सोच लिया करो कि
बात उलट कर हम पर ही तो न गिरेगी ? जैसे तुम दण्डी लोग व्याख
देते समय मुंहपत्ति मुह पर बाधना आगम विरुद्ध नहीं कहते वैसे
हमेशा मुह पर मुहपत्ति बाधना भी सूत्र विरुद्ध नहीं कह सकते।

३६ दण्डीजी जैन लिग परिवर्तन करने का दोष श्वेताम्बर
नकवासी जैन समाज पर लगाना महा मिथ्या है। क्योंकि भगवान ने स
कपड़े पहिनने का साधुओं को कहा है जिसके प्रमाण पहिले लिख
हैं और इसीलिये हम श्वेताम्बरी कहे जाते हैं 'श्वेत' सफेद 'अम्
कपडा पहने उसे 'श्वेताम्बरी साधु कहते हैं और इस बात को दर
लोग खुद स्वीकार भी करते हैं कि हमने पीछे पीले कपड़े किये हैं
इसी प्रकार मुहपत्ति मुह पर बाधना छोड़ पीले कपडे पहनने
साथ साथ साधुता से भिन्नता दिखाने के लिये हाथ में मुहपत्ति रखना
स्वीकार कर लिया है। जब दण्डी लोगों का इस प्रकार वेष बदल
निर्विवाद सिद्ध है तो ऐसे जैन लिग का परिवर्तन होने से द्रव्य मुनि प
जाता रहता है, इसके चले जाने से अन्य लिगी हो जाते हैं अन्य लिं
को जैन लिग कहने से तथा उसमें जैन लिग की श्रद्धा रखने से एव
उसको सुगुरु मानने से सम्यक् दर्शन चला जाता है सम्यक् दर्शन
चले जाने पर सम्यक् ज्ञान चला जाता है सम्यक् ज्ञान के चले जाने
सम्यक चारित्र भी नौ दो ग्यारह हो जाता है। दण्डीजी ! जब इ
प्रकार मोक्ष के खास साधन सम्यक दर्शन ज्ञान चारित्र के चले जा
पर मिथ्यात्व की प्राप्ती होती है और मिथ्यात्व की प्राप्ति होने पर द्र

तथा भाव दोनों प्रकार का मुनिपना (साधु का धर्म) चला जाता है। इस प्रकार सेद्रव्य, भाव दोनों तरह की साधुता चले जाने पर भी सच्चे जैन साधु होने का दावा रखना, बाजे गाजे के साथ बडे ही आडम्बर से शहर में आना, मूर्ति पूजा से मोक्ष मिलती है इस बहाने हजारों रुपये व्यर्थ व्यय करवाना, स्वामी वात्सल्य करने वाला जीव तीसरे भव मोक्ष जाता है ऐसा अपने भक्तों को लालच बता सीरा, कचौरी, वासु दी आदि माल बनवा कर खाना, वास क्षेपादि सिर पर डालने के पश्चात् स्नान पूजा के नहाने से द्रव्य का सग्रह कर रखना तथा जिनागमों को छोड़ कुछ थोड़ी संस्कृत पढ कर झूठा ढोंग जमा कर जैन शासनानुयायी भव्य जीवों के हृदयों में मोक्ष मार्ग की सम्यक् श्रद्धा पलट देने वाले मिथ्यात्वी बन जाते हैं और भव्य जीवों को भी मिथ्यात्व मे गेर देते हैं इस प्रकार मिथ्यात्व में पटकने से ससार भ्रमण फल की प्राप्ति और इस ससार भ्रमण फल की प्राप्ति से ८४ लाख जीवयोनी की हत्याओं के दोष के भागी स्वय बन जाते हैं। इस तरह से मुखपर मुखपत्ति बाधने को निषेधना करके हाथ में रखनी ऐसा सिद्ध करने में जिनाज्ञा की उत्थापना मिथ्यात्व की प्राप्ति और ससार भ्रमणादि अनेक दोषों की प्राप्ति के सिवाय तत्वदृष्टि से अवलोकन किया जाय तो और कुछ भी लाभ नहीं। फिर भी दण्डीजी, सनातन से चली आने वाली मुख वस्त्रिका का मुंह पर बाधने की सच्ची जैन प्रणाली की निषेधना कर "मुह के आगे वस्त्रादि रख कर बोलने की जिनेश्वर ने आज्ञा दी है" ऐसे जिनेश्वर के नाम का झूठा बहाना कर कूड लेखो वाली हजारों किताबें छपवा कर बड़े २ शास्त्रों को बदनाम करते और भोली भाली दुनिया को धोके में डाल कर मुहपत्ति हाथ में रखने की प्रणाली चला कर आप स्वय डूबते हैं और अपने भक्तों को भी ससार सागर में डुबाते हैं।

दण्डीजी! इस प्रकार मुहपत्ति हाथ में रखना यह अनर्थ का मूल है। अतव इस व्यर्थ के झगड़े को त्याग दें और इतने दिन अभि-

निवेश मिथ्यात्व की अध रूढ़ो में पड़ कर मुखपत्ति हाथ में धारण की तथा उसकी स्थापना की उसका प्रायश्चित लेकर शुद्ध हो जाय। और आगे से हाथ में रखना त्याग कर मुंह पर बांध अवश्य जिनाज्ञा के पालक बनें। यह मेरी हार्दिक भावना है।



मुंहपत्ति मुंह पर बांधने के और भी प्रमाण

दण्डीजी ! मुहपत्ति मुह पर बाधने के प्रमाणों में कुछ कमी रह गई हो तो फिर लीजिए। भिन्न भिन्न मतावलम्बियों की राय से भी मुंहपत्ति मुंह पर बाधने का प्रमाण मिल रहा है दण्डी लोग जरा आँखें खोल कर देखें।

"दुनिया के धर्म" नामक पुस्तक में जान मेडिक एल० एल० डी० की सम्मति पृष्ट १२८ पर उद्धृत है कि "यति लोग अपनी जिन्दगी को को निहायत मुस्तकिल मिजाजी से बसर करते हैं। और वे अपने मुह पर एक कपड़ा बाधे रखते हैं जो कि छोटे २ कीड़े वगैरह को अन्दर आने से रोक देता है"

फिर भी देखिए। "इन्सइक्लोपेडिया" नामक छट्टी पुस्तक के २६८ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा है "यती लोग अपनी जिन्दगी निहायत सब्र और इस्तकलाल के साथ बसर करते हैं। और एक पतला कपड़ा मुंह पर बाधे रखते हैं और एकान्त में बैठे रहते हैं।"

इस ही प्रकार मिस्टर ए० एफ० रूडलाफ होर्नले पी० एच० डी०

ने भी उपासक दशाङ्ग सूत्र का अनुवाद अंग्रेजी में किया है उस पुस्तक के पृष्ठ ५१ के १४४ वें नम्बर के नोट में उद्धृत है "मुखपत्ति जिसको संस्कृत में मुख पत्री कहते हैं अर्थात् मुख का ढकन। जिससे सूक्ष्म जीव उड़ने वाले मुख के अन्दर प्रवेश न कर सकें इसलिए छोटा सा कपड़ा मुख पर बांधते हैं उसे मुखपत्ति कहते हैं।"

महोदयों! उपरोक्त प्रमाण कितने जबरदस्त हैं क्योंकि प्रथम तो उनके लेखक विदेशीय विद्वान् हैं जिनको किसी का पक्ष नहीं। दूसरा उन्होंने मन्दिर मार्गियों के यतियों (साधुओं) के लिए ही लिखा है। इसलिए दण्डी लोगों को हाथ में मुहपत्ति रखने की हट का परित्याग करना ही उचित है।

दण्डीजी आगे देखिए। "भारतवर्ष का इतिहास" तीसरे और चौथे स्टेंण्डर्ड के लिए। जिसके पृष्ठ २६—२७ पर इस प्रकार का उल्लेख है —

"जैन मत और महावीर की कथा"

जैन मत–जैनी के तीन रत्न और तीन अनमोल शिक्षा हैं अर्थात् सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र। तीसरे रत्न में बुद्ध के पांच नियम हैं। १ लो झूठ नहीं बोलना, २ रा चोरी नहीं करना ३ रा विषय वासना नहीं रखना, ४ था शुद्ध रहना, ५ वा मन वचन और कर्म में स्थिर रहना ६ ठा जीव हिंसा नहीं करना। पिछले नियमों को जैनी साधु बड़े यत्न से मानते हैं। कहीं छोटे से छोटे कीड़ों को भी वे दुःख न दे या मार न डाले इसलिए वे पानी को छान छान के पीते हैं। और चलते समय झाड़ बुहार के आगे पांव धरते हैं। कहीं सांस लेने में कोई कीट पतंग मुंह में न चला जावे इसलिए वे अपने मुंह को कपड़े से ढांके रहते हैं।"

पाठको ! इस विषय के शास्त्रीय एवम् अनेक ग्रन्थों के प्रमाण देने में हमने कोई बात उठा नहीं रक्खी फिर भी मुंहपत्ति मुंह पर बाँधने के प्रमाण प्राचीन चित्रों के द्वारा दिखाए जा रहे हैं।

चित्रों द्वारा प्रमाण

पाठको ! यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, संसार में चित्र कितने मोल की वस्तु है। पुरातत्व वेत्ताओं को चित्रों एवम् शिला लेखों ने ही प्राचीन इतिहास का विशेष पता दिया है। इतिहास को अन्धकार से प्रकाश में लाने के लिए चित्रों ने जितनी मदद की है उतनी किसी ने नहीं की। यदि प्राचीन चित्र उपलब्ध न हुए होते तो यह पता कहा से चलता कि, किस समय कैसा वेष था और किस धर्म के लोग किस तरह का पहनाव रखते थे और यह चित्र किस समय का है इत्यादि।

हमारे कथन का यह भाव है कि, चित्र सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल बनते हैं। अर्थात् जिस समय जैसा वेष भूषा समाज में होता है उसके अनुकूल ही चित्र बनते हैं। और इसीलिए समय और इतिहास की खोज में लोग चित्रों को बहुत प्रमाणिक मानते हैं।

हम भी धन दण्डियों के [illegible] उपासकों के व अन्य पाठकों के सम्मुख आज वैसे ही प्रा[illegible] रहे हैं [illegible] वस्त्रिका को

करते हुए पधार रहे थे। इसी प्रकार दोनों हाथ रुके हुए होने पर यदि मुह पर मुहपत्ति न बंधी हुई होती तो श्रावकों को उत्तर खुले मुह कैसे दिया होगा इससे सिद्ध होता है कि गोतम स्वामी के मुह पर मुहपत्ति अवश्य बंधी हुई थी। और सर्व साधु हमेशा बांधते थे।

दण्डीजी पुन चित्र नम्बर दूसरे को देखिए ? इसमें सुव्रताजी की आर्य्या तेतली प्रधान के यहाँ गोचरी गई वहाँ तेतली प्रधान की स्त्री ने आर्य्याजी को आहार वहरा कर कहा कि हे आर्याजी ! मेरा पति मुझ से अभी रुष्ट हो रहे हैं। अतएव उसे प्रसन्न होने की कोई दवाई जड़ी बूटी, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र जानती हो तो मुझे कृपा करदें। इस बात को सुनते ही आर्याजी ने दोनों हाथ की दोनों अंगुली दोनों कान में देकर बोली हे पोटला ! ऐसे तेरे वचन हमें कानों से सुनना भी योग्य नहीं हैं।

अब कहिए दण्डीजी ! उस साध्विजी के दोनो हाथ रुकने पर यदि मुहपत्ति मुंह पर नहीं बंधी हुई थी तो वह साध्वीजी खुले मुह कैसे बोली। इससे सप्रमाणित सिद्ध होता है कि उस आर्याजी के मुह पर मुहपत्ति अवश्य बंधी हुई थी।

दण्डीजी देखिए ! चित्र नम्बर तीसरे को यह चित्र सन् १९२२ की अप्रेल मास की हिन्दी संसार की प्रसिद्ध 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में पृष्ठ २०४ पर चित्र का ब्लाक तैयार होकर छपा है यह चित्र सप्त दश आचार्यों* का है। इसमें का बारहवा चित्र आदिनाथ अर्थात् भगवान ऋषभदेव का है जिनके मुखारविन्द पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई है। कई चित्र, चरित्र और कथा आधार पर

* आदि नाथ भगवान् को ऊपर हमने अपनी ओर से आचार्य नहा लिखे है। यह भूल तो 'सरस्वती' सम्पादक की है। हमने तो चित्र जिस नाम से छापा इसको वही के अनुसार केवल मुख वस्त्रिका के प्रमाणार्थ लिखा है।

चरित्र नायक के देहावसन पीछे भी तैयार होते हैं इसको हम मानते हैं। परन्तु चित्रकार लोग चित्र प्राचीन ग्रन्थों में जैसा वर्णन मिलता है उसी के अनुसार बनाते हैं। उसमें आकृति भले ठीक नहीं मिलती हो परन्तु वेषो, विन्यास में कुछ फर्क नहीं रहता है। इस ही प्रकार उपरोक्त चित्र भी काल्पनिक है परन्तु हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि, पहले मुख वस्त्रिका मुंह पर साधु सन्त बाधते थे तब ही तो इस चित्रकार ने भी मुंह पर मुखवस्त्रिका बधी हुई चित्र का दृश्य दिखलाया। मुखवस्त्रिका मुह पर बाधी जाती है इसको मानने में दण्डी लोगों को अब क्या पसोपेश हो सकता है ? वाचक वर्ग आप ही कहिए।

पुन प्राचीन समय में विलायत की 'जयराज' नामक कोई कम्पनी थी और उसके वस्त्र भारत में आते थे उसका एक चित्र प्राप्त हुआ है। इसका भी हमने ब्लाक तैयार कराया है जो नम्बर चार का है। इस चित्र में दिखाया गया है भगवान आदिनाथ के पुत्र महात्मा बाहुबलीजी खड़े हैं मुख पर मुखवस्त्रिका बधी है, पास में रजोहरण पड़ा है एक ओर उनकी बहिनें ब्राह्मीजी और सुन्दरीजी कर जोड़े प्रार्थना कर रही हैं कि, आप मान के हाथी पर आरूढ न हो कर अपने भ्राता के पास जाइए। उन साध्वियों के मुह पर भी मुख वस्त्रिकाएं बधी हुई हैं।

पुन इसी कम्पनी के दो और चित्र ब्लाक सख्या पाँचवीं और छटी को देखिए। नम्बर पाचवा का चित्र–ध्यानावस्थित 'गज, सुखमाल' जी का है जो कृष्ण महाराज के छोटे भ्राता थे। इसमें यह बतलाया है कि, एक पुरुष इनके शिर मृतिका का आल बाल बना कर उसके भीतर अगारे भर रहा है। अगारे भरने वाला पुरुष कौन है ? और उसके इस प्रकार के अत्याचार का क्या कारण है ? यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए कि प्रथम तो इस कथा का वर्णन इसमें अप्रासागिक होगा। द्वितीय इनकी कथा प्रसिद्ध है। इसी अवसर इनको

निर्वाण पद प्राप्त हुआ था और जिसको श्वेताम्बर जैन सब ही जानते हैं। हमारा अभिष्ट तो इस चित्र से यहा पर यही है कि, महात्मा गज-सुखमालजी के मुह पर मुखवस्त्रिका बधी हुई है।

इस प्रकार नम्बर छट्ठे ब्लाक का चित्र ध्यानारूढ़ 'प्रश्न चन्द्र राजऋषि' का है। पास में दो सामन्त मित्र खड़े हैं। ये दोनों महर्षि को ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु इस कथा के कथन की भी हमें आवश्यकता नहीं है। हम जो इसमें बतलाना चाहते हैं वह यही है कि उपरोक्त राजऋषि के मुख पर भी मुखवस्त्रिका बधी हुई है।

इसके अतिरिक्त जीर्ण भण्डारों से जो चित्र निकलते हैं उनमें भी साधुओं के मुह पर मुखवस्त्रिकाए बधी हुई हैं। देखो चित्र सातवा का दृश्य यह है कि एक नटनी पर आसक्त होने वाला धनदत्त सेठ का पुत्र नाट्य मण्डली में सम्मिलित होकर किसी राजा के सम्मुख अपनी नट विद्या दिखा रहा है। उस अवसर पर मुखवस्त्रिका धारण किये हुए दो तपोनीष्ट साधु एक गृहस्थ के घर से भिक्षाशन ग्रहण कर रहे थे उन्हें देख सेठ पुत्र को विराग उत्पन्न हुआ था। यह चित्र भी मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रहा है।

देखिए! और भी चित्र न० आठवा। सूत्रों के वर्णानुसार महावीर पाण्डव दीक्षित होकर हिमालय की उपत्यका में तटिनी बालुका पर सथारा लेकर (सयम से) लेटे हुए हैं। पास में एक एक ओघा और एक एक झोली है। और सभी के मुह पर मुखवस्त्रिकाए बधी हुई हैं।

एक और उदाहरण लीजिए! चित्रशाला प्रेस पूना से प्रकाशित होने वाली 'सचित्र अक्षर लिपि" नामक पुस्तक मे जो यति का चित्र दिया है उसके मुहपर भी मुखवस्त्रिका बधी हुई है।

दण्डीजी कहिए! क्या अब भी किसी प्रमाण की आवश्यकता

है ? जब कि हर प्रकार से हम यह साबित कर चुके हैं कि मुखवस्त्रिका मुंह पर बाधने ही की वस्तु है हाथ में रखने की नहीं।

दण्डीजी! क्या मुहपत्ति को मुह पर बाधने से कानों को कष्ट पहुँचता है इस कष्ट से बचने के लिये मुहपत्ति हाथ में रखने की नई प्रणाली तो नहीं चलाई ? क्या ऐसे तनिक कष्ट से घबराकर हाथ में मुहपत्ति रखना और खुले मुह बोलने के भयकर दोप से दूषित बनना साधु का कर्त्तव्य है ? हमारा तो समस्त निष्पक्षपाती मन्दिरमार्गी भाई और बहिनों से निवेदन है कि वे एक वक्त अवश्य विचार करें और देखें कि दण्डी लोग हाथ में मुहपत्ति रखने के बहाने नि:सकोच खुले मुह बोलते जा रहे हैं, भला यह कौनसा सिद्धान्त है कि साधुवृत्ति में कुछ कष्ट आ पड़े कि उसका परिवर्त्तन करदें! साधु उसीका नाम है कि जो अपनी आत्मा को उज्वल करने के लिये कष्टों के सागर में पडकर भी उन दु खो का अन्त करे किसी कवि ने कहा है कि—

कष्टसागर में गिरो, गर पाप है धोना तुम्हें।

दुख की भट्टी में जलो, बनना है गर सोना तुम्हें ॥

प्रिय महोदयो! मुहपत्ति हाथ में रखने से खुले मुह बोलने का एकही दोप न समझें। एक के परिवर्तन से अनेक दोपापत्ति हो जाती है कुछ वास्तविक दोपों को यहा बतला देना अनावश्यक नहीं होगा। ध्यान पूर्वक पढे —

१—प्राचीनकाल के सर्व साधुओ पै मुहपत्ति हाथ मे रखने का मिथ्या दोप लगाते हैं।

२—शास्त्रों के नाम से प्रत्यक्ष झूठ बोलकर हाथ मे मुहपत्ति रखने का वृथा दोप लगाते हैं।

३—हाथ में मुहपत्ति को रखने के बहाने से खुले मुह बोलने का महा-भयंकर दोप सेवन करते हैं।

४—हाथ में मुंहपत्ति रखने के बहाने मुहपत्ति को किसानों की चिलम तमाखू की कोथली ज्यों कमर मे लटकाने के दोष से दूषित होते हैं।

५—हाथ में मुहपत्ति रखने के बहाने मुहपत्ति को उपाश्रय में रखकर गौचरी आदि चले जाने का दोष सेवन करते हैं।

६—हाथ में मुहपत्ति रखने से बारबार मुह पर लेना पड़ती है जिससे अन्य दर्शनी यह समझते हैं कि क्या ये मक्खियाँ उडा रहे हैं?

७—भगवान् ने मुहपत्ति एवम् रजोहरण ये दोनों साधु के चिन्ह बतलाये हैं अत मुह पर मुहपत्ति बाधे हुए साधु के किसी मार्ग से निकलने पर किसी से पूछा जाय कि मुहपत्ति वाले साधु इधर गए हैं तो वह अवश्य कहेगा कि इधर गए हैं। पर हाथ में मुहपत्ति रखने वाले साधु उस मार्ग से जावें और पूछा जाय कि मुहपत्ति वाले साधु इधर गए हैं तो यही उत्तर मिलेगा कि मुहपत्ति वाले तो नहीं गए पर लट्ठ वाले साधु जारहे हैं, यह दोष मुहपत्ति हाथ में रखने से प्राप्त होता है।

८—थूक में असख्य सम्मुर्च्छिम मनुष्य नहीं होवे तदपि भगवान् के कथन से विरुद्ध होकर भोले लोगों को अपने चगुल मे फसाने के लिए थूक में असख्य जीवों की उत्पत्ति बताकर मुह पर मुहपत्ति नहीं बाधते यह दण्डी लोगों की मायाचारी है।

९—मुहपत्ति मुह की यत्ना के लिये सूत्रों में बतलाई है। किन्तु मुहपत्ति से पूजने का किसी सूत्र में कथन नहीं है। तदपि दण्डी लोग मुहपत्ति से मुह आदि पूजते हैं यह सूत्र विरुद्ध है।

१०—मुहपत्ति मुह पर न बाधने से बार बार मुह के आगे नाटक के पर्दे की तरह लगानी पड़ती है।

११—जैनागमों में जहा तहा दुर्गन्ध से बचने के लिये नाक ढकना कहा, किन्तु दण्डी लोग व्याख्यान देने आदि समय में मुहपत्ति से नाक ढककर मुहपत्ति की विटम्बना करते हैं।

१२—श्वेत वस्त्र त्याग पीले वस्त्र पहने, उसी मुआफिक मुंहपत्ति बाँध कर न फिरते हाथ में रखना सीखे, इस प्रकार अनादि काल की मर्यादा भंग कर अनन्त तीर्थंकरों की असातना करते हैं।

१३—मुंहपत्ति यौगिक शब्द से मुंह पर बांधना स्पष्ट अर्थ निकलता है, तौभी हठाग्रही अभिनिवेशिक मिथ्यात्व के आवेश में आकर मुंहपत्ति हाथ में रखते हैं।

१४—दाढ़ी मूछों का लोंच कर हाथ में मुंहपत्ति रखने से जैनमुनि निमुच्छिये दृष्टिगत होते हैं जिससे अन्य दर्शनी जैनशासन की बड़ी निन्दा करते हैं, और कहते हैं कि नैमुच्छी लट्ठधारी आरहे हैं।

१५—मुहपत्ति शब्द से धागा स्वयं सिद्ध है। जैसे रजोहरण में फलियें रखने का सूत्रों में अधिकार है परन्तु धागे का जिक्र नहीं है तौ भी फलियें धागे में पिरोकर रजोहरण तैयार किया जाता है इसी तरह मुहपत्ति भी बिना धागे के मुंह पर नहीं बंध सकती। तौ भी दण्डी लोग धागे की ओट लेकर मुंहपत्ति हाथ में रखना ठहराते हैं यह दण्डी लोगों की अनसमझ का नमूना है।

१६—जैन सूत्रों में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि किसी श्रावक ने मुहपत्ति हाथ में रक्खी, तौ भी उनका झूठा नाम लेकर मुंहपत्ति हाथ में रखते हैं यह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का उत्थापन करते है।

१७—मुंहपत्ति से मुंह की यत्ना करने का जैन सूत्रों में जिकर है। छींक, खांसी आदि करते समय नाक की यत्ना करना चाहिये और आड़ा हाथ लगाना चाहिये। तौ भी दण्डी लोग मुंहपत्ति को नाक पर बांध कर शास्त्र विरुद्ध दोष सेवन कर रहे हैं।

१८—बारहवर्षी काल के समय भी हाथ में मुहपत्ति रखने की अन्य रूढ़ी को अभी तक नहीं त्यागना हठाग्रह नहीं तो और क्या है?

१९—बारबार मुंहपत्ति हाथ से मुंह के आगे देने में कभी २ मच्छर व

मक्खी भी उसके झपाटे के साथ प्राण त्याग देते हैं, अत हाथ मे मु हपत्ति रखना हिंसा बढ़ाना है।

२०—हाथ में मु हपत्ति रखने से उस मु हपत्ति को रूमाल समझकर अन्य दर्शनी लोग हसी करते हैं कि साधु होकर शौक साधने के लिये रूमाल रखते हैं उससे उन लोगों के कर्म बधते हैं। और हाथ में मु हपत्ति देखकर जैन शासन की निन्दा करवाने वाले अनन्त ससारी बनते हैं।

२१—मुहपत्ति हाथ में रखकर सूत्र, अर्थ बदल उत्सूत्र की प्ररूपणा कर महान दोप के भागी बनते हैं। और जमाली से टाइटिल प्राप्त कर दीर्घ ससार बढा लेते हैं।

२२—मु हपत्ति कहकर उसको हाथ में रखना शास्त्र की दृष्टि से विरुद्ध है। अम्मा कहकर उसके साथ औरत का व्यवहार कौन मनुष्य करता है ? ऐसेही मु हपत्ति कहकर उसे हाथ में रखने वाले की बुद्धि को ऐसा कौन मूर्ख है जो सराहेगा।

२३—तीर्थकरों की आज्ञा लोपकर सावद्याचार्यों के बनाये हुए ग्रथों का सहारा लेकर जो हाथ में मु हपत्ति रखते हैं वे महामिथ्यावादी और हठाग्रही हैं।

२४—बड़े २ वैद्य एव डाक्टर लोगों का सिद्धान्त है कि हवा के जरिये बहुतसे जहरीले जन्तु और प्रमाणों मे घुस कर रोगोत्पत्ति कर बैठते हैं, इससे भी मुहपत्ति मुह पर बाँधना लाभदायक सिद्ध है, तदपि दण्डी लोग हाथ में मुहपत्ति रखने का मिथ्या आडम्बर फैलाते हैं।

२५—दशवैकालिक सूत्र के पाचवें अध्याय के प्रथम उद्देशे में "हत्थग" शब्द का साफ हाथ अर्थ होता है। तदपि 'हत्थग' का झूठा अर्थ मुहपत्ति कर हाथ में रखने की ठगबाजी चलाकर भोले लोगों को अपने फदे मे फसाना चाहते हैं।

२६—भगवती सूत्र के १६ वें शतक के तीसरे उद्देश मे इन्द्र के प्रसग पर

निर्वंथ भाषा उसे कहा कि मुंहपर कपडा बांधकर या लिपेटकर बोले इससे मुहपत्ति मुह पर बाँधना सिद्ध है। तौ भी दण्डी लोग हाथ में मुहपत्ति रखना नहीं छोड़ते और अभिनिवेशिक मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

२७—ज्ञाताजी सूत्र के १४ वें अध्याय में सुव्रता आर्यां जो पोटला के यहा बहरने के लिये गई तब पोटला आहार पानी बहराकर कहने लगी कि हे गुरानी! जो आप बहुतसे देश देशान्तर फिरती हो, कहीं पर पति को वश करने वाली जड़ी बूटी देखी हो तो दो या बताओ, पोटला के ये बचन सुन सुव्रता आर्या ने दोनों हाथ की दोनों अगुली कान मे डाल दीं और बोली हे पोटला! जो तुमने ये बचन कहे वह कार्य करना तो दूर है पर कानों में सुनना भी हमारे लिये अकल्पनीय है। अत्र यहा पर मुहपत्ति नहीं बधी होती तो खुले मुह आर्याजी कैसे बोली? क्योंकि दोनों हाथों की दानो अगुली तो दोनों कान में दे रक्खी थीं? इससे सिद्ध है कि मुहपत्ति मुह पर बधी हुई थी, इस प्रबल प्रमाण को अनिवेकी दण्डो उत्थाप कर हाथ में रखने का झूठा ढोंग ठहराते हैं।

२८—विपाक सूत्र में गौतम स्वामी मृगा लोढे को देखने पधारे। वहा पर मृगाराणी ने दुर्गन्ध के कारण गौतम स्वामी को बड़े शब्दों में नाक की जगह मुँह बाधने को कहा, यदि कहे कि उस समय गौतम स्वामी के मुहपत्ति नहीं बधी थी, मृगा राणी ने बधवाई तो क्या पहिले गौतम स्वामी खुले मुँह बोलते थे? कभी नहीं। इससे स्वय सिद्ध है कि गौतम स्वामी के मुह पर मुहपत्ति बधी थी इस भगवद् कथन को भी दण्डी लोग उत्थाप कर मुंहपत्ति हाथ में रखने की शास्त्र विरुद्ध प्रणाली को दृढ बनाते हैं।

२९—दण्डी लोगों के बीमार होने से उनमें कभी तो इतनी अशक्तता आ जाती होगी कि वे हाथ में मुहपत्ति नहीं रख सकते होंगे तब क्या

खुले मुह बोल कर दोष के भागी होते होंगे ?

३०—भगवान ने मुंह पर मुहपत्ति बांधना फरमाया । पर दण्डो लोग कभी २ मुहपत्ति पास न होने से पछेवड़ी आदि का पल्ला लगाकर बोलते पाये जाते हैं । तो क्या यह मुहपत्ति हाथ मे रखने की प्रणाली से दोष नहीं बढ़ा ?

३१—व्याख्यानादि के समय दण्डी लोग नाक पर भी मुहपत्ति बाधते हैं, अगर उस समय छींक आती होगी तो श्लेष्म का रेला मुह में भी चला जाता होगा ? इस तरह सच्ची प्रणाली त्याग मुहपर मुहपत्ति न बाँध नाक पर बाधना सिवाय अविवेकता के और क्या है ?

३२—दण्डी लोग व्याख्यान के समय कोई तो नाक पर बाधते हैं और कोई हाथ मे रखते हैं यह भी इनकी विचित्र लीला का नमूना है ।

३३—जगत् में यह बात सत्य है कि चोर धाड़ेती, जब चोरी करने एवम् दिन दहाड़े डाका डालने जाते हैं तब वे लुटेरे लोग आखों के सिवाय नाक तक वस्त्र बांध लेते हैं कि उन्हें कोई पहचान न सके इसी तरह दण्डी लोग जिनेन्द्र कथित मार्ग को लूटने वाले चोर धाडेती जैसे हैं (इसका उल्लेख कभी समय आने पर किया जायगा) इसीलिये नाक पर वस्त्र लगा कर व्याख्यान देने की कुबुद्धि पैदा करते हैं ।

३४—मुहपत्ति नाक तक बांधने से घोड़े के तोबरे ज्यों मालूम होती है इसलिये घोड़े के तोबरे ज्यों न बाध मुह पर बाँधना ही शास्त्रोक्त है ।

३५—मुह पर मुहपत्ति बांधने से कभी आवाज नहीं रुक सकती क्योंकि ओष्ठ से मुहपत्ति कुछ दूर रहती है । पर नाक पै बाधने से तो अवश्य शब्द रुक जाते हैं । और कभी २ नकटे जैसे स्वर भंग हो शब्द निकलते हैं इसलिये मुहपत्ति नाक तक बाधना दण्डी लोगों की अविवेकता है ।

निर्वध भाषा उसे कहा कि मुहपर कपडा बांधकर या लपेटकर बोले इससे मुहपत्ति मुह पर बाँधना सिद्ध है। तो भी दण्डी लोग हाथ मे मुहपत्ति रखना नहीं छोड़ते और अभिनिवेशिक मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

—ज्ञाताजी सूत्र के १४ वें अध्याय में सुव्रता आर्या जो पोटला के यहां वहरने के लिये गई तब पोटला आहार पानी बहराकर कहने लगी कि हे गुरानी! जो आप बहुतसे देश देशान्तर फिरती हो, कहीं पर पति को वश करने वाली जड़ी बूटी देखी हो तो दो या बताओ, पोटला के ये वचन सुन सुव्रता आर्या ने दोनों हाथ की दोनों अगुली कान मे डाल दीं और बोली हे पोटला! जो तुमने ये वचन कहे वह कार्य करना तो दूर है पर कानों में सुनना भी हमारे लिये अकल्प नीय है। अत्र यहा पर मुहपत्ति नहीं बधी होती तो खुले मुह आर्याजी कैसे बोती? क्योकि दोनों हाथों की दोनों अगुली तो दोनों कान में दे रक्खी थीं? इससे सिद्ध है कि मुहपत्ति मुह पर बधी हुई थी, इस प्रबल प्रमाण को अविवेकी दण्डा उत्थाप कर हाथ में रखने का झूठा ढोंग टहराते हैं।

:—विपाक सूत्र में गौतम स्वामी मृगा लोढे को देखने पधारे। वहा पर मृगाराणी ने दुर्गन्ध के कारण गौतम स्वामी को बड़े शब्दों में नाक की जगह मुँह बाधने को कहा, यदि कहे कि उस समय गौतम स्वामी के मुहपत्ति नहीं बधी थी, मृगा राणी ने बधवाई तो क्या पहिले गौतम स्वामी खुले मुँह बोलते थे? कभी नहीं। इससे स्वय सिद्ध है कि गौतम स्वामी के मुह पर मुहपत्ति बधी थी इस भगवद् कथन को भी दण्डी लोग उत्थाप कर मुहपत्ति हाथ में रखने की शास्त्र विरुद्ध प्रणाली को दृढ बनाते हैं।

९—दण्डी लोगो के बीमार होने से उनमें कभी तो इतनी अशक्तता आ- जाती होगी कि वे हाथ में मुहपत्ति नहीं रख सकते होंगे तब क्या

मिथ्या प्रलापी दण्डीजी ने पृष्ठ ३१ से ५० तक ४६ बातें लिख कर अपनी विद्वता की डींग हाकी है उसका उत्तर भी यहाँ सिलसिले वार दे देना अनुपयुक्त नहीं होगा।

१—दण्डीजी ! जैन मुनि पास में रजोहरण इसलिए रखते हैं कि उसमे जीव रक्षा हो सिर्फ दिखाने के लिये नहीं रखते जब रात्रि में गुरु आदि को नमस्कार करने के लिये, स्वाध्याय काल की प्रतिलेखणा के लिये एवम् नाक आदि का श्लेष्म दूर करने के लिये स्थानक मे या स्थानक के बाहर चलने को जरूरत पड़ती है उस समय रजोहरण से भूमि को पूज कर चलने का भगवान् का हुक्म है। इसी तरह दिन में भी किसी जगह अधकार मे या गौचरी जाते गृहस्थ के मकान की सीढ़ी चढते व उतरते समय पूजने का काम पड़े तो उसी रजोहरण से पूज लेने का हुक्म है।

अब विचारना चाहिये ! साधु ३२ अगुल के रजोहरण से नाल (सिढी) उतरते हुए कैसे पूज सक्ते हैं ? इसलिये भगवान् का हुक्म है कि जिस प्रकार मुह प्रमाणे मुहपत्ति बाधे उसी प्रकार अपने २ कद के अनुसार पूजा जाय ऐसा रजोहरण रक्खे। लम्बे कदवाला लम्बा रजोहरण बनावे और छोट कद वाला छोटा अगर बालक साधु हो तो छोटी दण्डी रक्खे। पर ऐसा कहीं भी ३२ सूत्रों मे नहीं लिखा कि सब ३२ अगुल का रजोहरण रक्खें। और उसे चद्दर मे छिपाये रहे। जैन साधु तो जिससे पूजा जा सके ऐसा रजोहरण रखते हैं और जब चलते हैं तब यत्नापूर्वक चलते हैं दण्डीजी का यह लिखना मिथ्या है कि उसमें हिंसा होती है। क्योंकि भगवान ने दशवैकालिक सूत्र में "जय चरे जय चिट्ठे" यत्ना से चलने में पाप बधन नहीं होता ऐसा कहा है।

—दण्डी लोग जब लिखने बैठते हैं तब एक हाथ में कलम और एक हाथ से वह कागज पकड़ते हैं जिस पर लिखना है। फिर उस समय खुले मुंह बोलना पड़ता है। यह भी दोष हाथ में मुहपत्ति रखने से पैदा होता है।

—दण्डी लोगों की मायाचारी जब मालूम होती है जब ये थडले या गौचरी जाते हैं तब तो मुहपत्ति पास मे रखते हैं और उपाश्रय में हर समय हाथ में नहीं रखते हैं।

—सूत्रों में गुरुओं को वन्दना करने की विधि यह लिखी है कि दोनों हाथ जोड़ गुरु के चरणार्विन्द में लगा देना बाद स्तुति वाक्य बोलना। यदि मुहपर मुहपत्ति नहीं बधी हो तो शिष्य गुरु की स्तुति वाक्य कैसे बोल सकते हैं ? इससे मुहपत्ति हाथ में रखना शास्त्र विरुद्ध है।

—जैनागमों में जगह जगह मुहपत्ति शब्द आया है पर किसी भी सूत्र मे किसी जगह यह नहीं आया कि "हत्थपत्ति" तदपि दण्डी लोग हाथमे रखकर अनन्त तीर्थकरोंकी आज्ञाका उत्थापन करते हैं।

—जैनागम के मूलपाठ में मुहपत्ति को हाथ में रखने को गध मात्र भी नहीं है। तदपि दण्डी लोग मुहपत्ति को हाथ में रखने का झूठा ढोंग कहाँ से लाये हैं ?

—उपरोक्त अनेक दोषापत्ति मुहपत्ति हाथ में रखने से प्राप्त होती है। इसलिये आत्मार्थी भव्य जीवों को चाहिये कि इतने रोज मुहपत्ति हाथ मे रखी उसका प्रायश्चित् लेकर शुद्ध बनें और बाद अपने अपने मुह प्रमाणे मुहपत्ति को मुह पर बाधने की अनादि सच्ची रीति स्वीकार कर धर्म क्रिया करें ताकि उनका परम हित हो।

मिथ्या प्रलापी दंडीजी ने पृष्ठ ३१ से ५० तक ४६ बातें लिख कर अपनी विद्वता की डींग हाकी है उसका उत्तर भी यहाँ सिलसिले वार दे देना अनुपयुक्त नहीं होगा।

१—दण्डीजी! जैन मुनि पास में रजोहरण इसलिए रखते हैं कि उसमे जीव रक्षा हो सिर्फ दिखाने के लिये नहीं रखते जब रात्रि में गुरु आदि को नमस्कार करने के लिये, स्वाध्याय काल की प्रतिलेखणा के लिये एवम् नाक आदि का श्लेष्म दूर करने के लिये स्थानक में या स्थानक के बाहर चलने की जरूरत पड़ती है उस समय रजोहरण से भूमि को पूज कर चलने का भगवान् का हुक्म है। इसी तरह दिन में भी किसी जगह अंधकार में या गोचरी जाते गृहस्थ के मकान की सीढ़ी चढ़ते व उतरते समय पूजने का काम पड़े तो उसी रजोहरण से पूज लेने का हुक्म है।

अब विचारना चाहिये! साधु ३२ अंगुल के रजोहरण से नाल (सिढी) उतरते हुए कैसे पूज सक्ते हैं? इसलिये भगवान् का हुक्म है कि जिस प्रकार मुह प्रमाणे मुहपत्ति बांधे उसी प्रकार अपने २ कद के अनुसार पूजा जाय ऐसा रजोहरण रक्खे। लम्बे कदवाला लम्बा रजोहरण बनावे और छोटे कद वाला छोटा अगर बालक साधु हो तो छोटी दण्डी रक्खे। पर ऐसा कहीं भी ३२ सूत्रों मे नहीं लिखा कि सब ३२ अंगुल का रजोहरण रक्खें। और उसे चद्दर मे छिपाये रहें। जैन साधु तो जिससे पूजा जा सके ऐसा रजोहरण रखते हैं और जब चलते है तब यत्नापूर्वक चलते हैं दण्डीजी का यह लिखना मिथ्या है कि उसमें हिंसा होती है। क्योंकि भगवान ने दशवैकालिक सूत्र में "जय चरे जय चिट्ठे" यत्ना से चलने में पाप बंधन नहीं होता ऐसा कहा है।

३६—दण्डी लोग जब लिखने बैठते हैं तब एक हाथ में कलम और एक हाथ से वह कागज पकड़ते हैं जिस पर लिखना है। फिर उस समय खुले मुंह बोलना पड़ता है। यह भी दोष हाथ में मुंहपत्ति रखने से पैदा होता है।

३७—दण्डी लोगों की मायाचारी जब मालूम होती है जब ये थडले या गोचरी जाते हैं तब तो मुहपत्ति पास में रखते हैं और उपाश्रय में हर समय हाथ में नहीं रखते हैं।

३८—सूत्रों में गुरुओं को वंदना करने की विधि यह लिखी है कि दोनों हाथ जोड़ गुरु के चरणार्विन्द मे लगा देना बाद स्तुति वाक्य बोलना। यदि मुंहपर मुहपत्ति नहीं बंधी हो तो शिष्य गुरु की स्तुति वाक्य कैसे बोल सकते हैं ? इससे मुहपत्ति हाथ में रखना शास्त्र विरुद्ध है।

३९—जैनागमों में जगह जगह मुहपत्ति शब्द आया है पर किसी भी सूत्र में किसी जगह यह नहीं आया कि "हस्तपत्ति" तदपि दण्डी लोग हाथमे रखकर अनन्त तीर्थंकरोंकी आज्ञाका उत्थापन करते हैं।

४०—जैनागम के मूलपाठ में मुहपत्ति को हाथ में रखने को गंध मात्र भी नहीं है। तदपि दण्डी लोग मुहपत्ति को हाथ में रखने का झूठा ढोंग कहाँ से लाये हैं ?

४१—उपरोक्त अनेक दोषापत्ति मुंहपत्ति हाथ में रखने से प्राप्त होती हैं। इसलिये आत्मार्थी भव्य जीवों को चाहिये कि इतने रोज मुहपत्ति हाथ में रखी उसका प्रायश्चित् लेकर शुद्ध बनें और बाद अपने अपने मुंह प्रमाणे मुहपत्ति का मुंह पर बांधने की अनादि सच्ची रीति स्वीकार कर धर्म क्रिया करें ताकि उनका परम हित हो।

बाहर से आने वाले श्रावक श्राविकाएं आराम से बैठ स्मरण करें तो इस में मुनि को कौनसा दोष लगा ? तथा दीक्षा एवम् तपोत्सवादि पर मण्डप आदि बना कर ध्वजा पताकाए लगाते हैं उनके हिलाने डुलाने में जो हिंसा होती है उसको श्रावक लोग पाप ही समझते हैं और उस पाप का पश्चात्ताप कर मिथ्या दुष्कृत भी ग्रहण करते हैं। पर तुम दण्डियों के अनुयायी लोग, मन्दिर आदि बनवाने में, तीर्थ यात्रा करने में, तथा मूर्ति पर फल फूल जल आदि चढ़ाने एवम् मूर्ति आदि की पूजा करने में, नाचने में, कूदने में, ढोल, नक्कारे, मृदंग, झांझ तालि आदि बजाने मे जो कुछ भी पाप होता है उसका प्रायश्चित तो नहीं लेते ? अगर वे भी इन पापों का प्रायश्चित लेवे होवे तो हम अवश्य समझते कि दण्डी लोग व उनके अनुयायी कुछ राह पर हैं।

५—दण्डीजो ! श्वे० स्था० जैन मुनि अपनी शोभा के लिये चातुर्मास पत्रिका, क्षमापना पत्रिका, तपोत्सव पत्रिका नहीं छपवाते। गृहस्थ लोग उनकी शोभा के लिए क्षमापत्रिका तपोत्सव पत्रिका छपवाते हैं पर दण्डोजो ! यह कहा का न्याय है कि—'हम करें उसमें पाप नहीं और श्वे० स्थानकवासी गृहस्थ भी करें तो पाप का पलड़ा भर जाय" क्या यह कहने के लिये ही लेख लिखा कि अपना घर भी देखो, देखो, तुम्हारे ही घर में क्या हो रहा है ? तुम खुद दण्डी लोग अपनी शोभा के लिये संघ निकालते समय, उपधान तप के समय, मूर्त्ति प्रतिष्ठा आदि के समय अपने भक्तों के मार्फत आमंत्रण पत्रिका आदि छपवाते हो तो क्या तुम्हारे लेखानुसार तुम अनर्थ दण्ड नहीं कर रहे हो ? और मुह से कहते जाते हो कि अनन्त हिंसा का हेतु है। यह तो वही कहावत चरितार्थ हुई कि "हाथीके दांत खानके और व दिखाने के और हैं" ऐसी मायाचारी दण्डी लोगों को अवश्य त्यागना चाहिये।

६—दण्डीजी ! चातुर्मास में विचरने की साधुओं के लिये सर्वथा मनाई है। क्योंकि साधु सर्व हिंसा के त्यागी हैं। किन्तु गुरुओं के

२—दण्डीजी ! जैन मुनि चद्दर में गाठ इसलिये लगाते हैं कि हवा के जरिये उड़ कर वायु काय के जीवों का विनाश न हो। तथा चद्दर के पल्ले उड़ कर किसी स्त्री आदि को न छू जाय। वे फकीरों की तरह खुली चद्दर नहीं ओढते जैसे दण्डी लोग ओढते हैं। खुली चद्दर ओढने वालों के चद्दर के पल्ले मेरू ध्वजा की तरह उड़ते जाते हैं और हर एक से छू भी जाते हैं। इसलिये दण्डियों को चाहिये कि फकीरों की तरह चद्दर का ओढना छोड़ कर श्वे० स्थानकवासी जैन मुनियों की तरह चद्दर में गाठ लगा कर ओढा करें।

३—दण्डीजी ! मुहपत्ति मुंह पर बांधने से हिलती नहीं है। यदि कभी जोर से हवा चलने पर हिलने लगे तो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु उस पर हाथ रख दबा देते हैं जिससे अयत्ना नहीं होती है। दण्डीजी ! व्याख्यान आदि के समय तुम खुद मुह पर मुहपत्ति बाधते हो और तुम्हारे पूर्वाचार्यों ने भी बाधना लिखा है तो क्या वे पूर्वाचार्य और तुम दण्डी लोग सब वायुकाय के कट्टर द्वेषी हो जो मुहपत्ति बाधना लिखते हो और बाधते हो।—तब तो तुम्हारे लेखानुसार हिंसक भी कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि तुम मुहपत्ति बाधने में ही हिंसा ठहराते हो। दण्डीजी ! लिखने के प्रथम अपने घर को भी देख लिया करो कि मेरे लेख से मेरी ही बात तो नहीं कटेगी ?

फिर देखिये ! मुह पर मुहपत्ति न बाँधने से बार २ मुंह के आगे मुंहपत्ति वाले हाथ को रखने में वायुकाय की अवश्य हिंसा होती है। अतएव दया के लिये ही श्वे० स्थानकवासी जैन साधु की तरह मुह पर मुहपत्ति बाध हिंसा से बचने की कृपा करें।

४—दण्डीजी ! श्वे० स्थानकवासी जैन मुनि आम बाजार में पब्लिक व्याख्यान देते हैं वे अपने लिये सामियाने तम्बू आदि खड़े किये हों या पाल आदि बाधे हों उसके नीचे बैठ कर नहीं देते उसमें शहर या

अब यह समझना आवश्यक है कि चाहे हजारों श्रावक, श्राविकाए दीक्षा, तपोत्सव, पूज्य पदवी आदि पर आवें और चाहे हजारों मन शक्कर पानी में गिरे पर जब इसकी अनुमोदना श्वे० स्था० जैन साधु स्वप्न में भी न करें तो उस आरम्भ आदि पाप के भागी साधु क्यों कर हो सकते हैं ? साधु तो तपस्या एवम् सयम द्वारा अपनी आत्मा का मैल हटाने में तल्लीन हैं। श्रावक लोग अपने गाव की शोभा दिखाने के लिये आमत्रण पत्रिका भेज कर बुलवावें और आये हुए के आगत स्वागत में हजारों खर्च करें तो वे गृहस्थ अपना कर्तव्य समझ कर ऐसा करते हैं। आये हुये श्रावकों में कई सामायिक, प्रतिक्रमण, दया, पौषध सूत्र श्रवण आदि धर्म सेवन करते हैं उसे वे धर्म समझते हैं और फिर भोजन स्थान आदि व्यवस्था मे जो हिंसा होती है उसे हिंसा समझते हैं। क्योंकि गृहस्थ लोग सर्व हिंसा के त्यागी नहीं हैं। परन्तु तुम दण्डी लोग तो प्रत्यक्ष खुद अपनी महिमा बढाने के लिये यद्वा पर्वतों की महिमा बढ़ाने के लिये सघ निकलवाते हो, वरघोडा निकलवाते हो उपधान तप करवाते हो उसमें कैसी २ हिंसा होती है जरा आख खोल कर देखो तो सही।

जब आबू, गिरनार शिखरजी, सिद्धाचलजी, ऋषभदेवजी आदि यात्रा के लिये सघ निकालते हैं उसमें सैकडों आदमी, औरतों को आमत्रण पत्रिका देकर बुलवाते हैं और गाडी, घोडे, ऊट आदि बहुत साथ में रहते हैं जब चलते हैं तब प्रहर डेढ प्रहर अवशेष रात्रि में चल पड़ते हैं। जिससे चिटी मकोडे की तो गिनती ही क्या किन्तु मेंडक बृश्चिक छोटे वड़े सर्प, आदि पचेंद्रिय जीव गाडी के पहियों के नीचे तथा ऊट, घोडों के पैर के नीचे कुचला कर मर जाते हैं। और जहाँ सघ ठहरता है वह जगह साफ कराने में हजारों त्रस स्थावर जीव झाडू आदि से मर जाते हैं। दीपक मसाले, स्नानादि, चूल्हा, चोका, लगाने, आटा, दाल, चावल, शक्कर मसाल आदि में बाजार से बिना देखे खरीद लाने में जीवों

दर्शनाभिलाषी श्रावकों को चातुर्मास में आने के लिये किसी सूत्र में निषेध नहीं किया है। क्योंकि श्रावक सर्व हिंसा के त्यागी नहीं। यदि चातुर्मास में श्रावकों का आना जाना निषेध होता तो पावापुरी नगरी में भगवान् महावीर के अन्तिम चातुर्मास में अठारा देश के राजा दर्शनों के लिये क्यों आते?

दण्डीजी! श्वे० स्थानकवासी जैन मुनि न तो अपनी महिमा पूजा बढाने के लिये ही लिखावत और न वन्दना व तपस्या के पूर के नाम से पत्र लिखवा कर भिजवाते हैं और न पत्रिका छपवाते हैं। झूठ ही लिख कर दण्डीजी ने अपने मुंह कालिमा पाती है। भला यह झूठ तुमसे कभी छूटेगा भी क्या तुमने किसी कार्ड पर यह लिखा देखा कि "मेरी महिमा बढाने के लिये तुम श्रावक लोग यहा आना" फिर व्यर्थ ही गप्प मार कर ना समझों की जाल में फसाना ही क्या तुमने अपना कर्तव्य समझ रक्खा है? पर देखो, श्वे० स्थानकवासी जैन साधु किसी भी पत्र पत्रिका में न तो ऐसा लिखते, न लिखवाते और न छपवाते हैं। हां, दण्डी लोग अवश्य अपने हाथों से कार्ड वगैरह लिखते हैं और पास में रखते भी हैं। देखो, तुम्हारे सेम्फर नामे की ८१ वीं ढाल की गाथा २ री में तुम्हारे ही अनुयायी दण्डीजी ने कहा है कि ——

छोटा होवे साधु साध्वी, पत्र लखे हो! पोताने नाम।
आवे पोताना नाम थी, कोण जाणे हो! शु करे काम ॥१॥
कव्हर, कार्ड, टीकीट घणा, नोटो हो। राखे मस्तान।
पारसल व्ही० पी० तणा, गणता हो कोण राखे ज्ञान ॥२॥

पाठको! दण्डियों के चारित्र मे इस प्रकार की पोल होते हुए भी वे श्वे०स्थानकवासी जैन साधुओ पर आक्षेप करते नहीं डरते यह सिर्फ उन की निर्विवेकता है। कपोल कल्पना से भोलों को बहकाना सिर्फ धृष्टता दिखाना है।

फूलण कोण गणे कोण करे हो। जीवोंनी सार।
म्पा अनुयोग मां भक्ति नामे हो। करे अत्याचार ॥८
संघ मा होवे ज नो पाणी हो। पीवे दस वीस।
मीं ए आरोगता साधु साध्वी हो। भेगा पचवीस ॥९

दयो। इसी तरह दण्डी लोग रथ यात्रा में भी सैकडों म-
ाथी, घोड़े, पालखो, रथ, नक्कारे, निशान आदि बड़े आ
जाते हैं उस समय पैरों के नीचे त्रस, स्थावर, नीलण,
कुचला कर अनन्त जीवों की और मेंढक आदि पचेंद्रिय
हिंसा होती है। फिर दण्डी लोग उपधान तप करवा के
सैकडों जीवों की हिंसा करवाते हैं। मूर्त्ति पूजन के लिए
वहा अनेक घड़े पानी के गरम करते हैं जिसमें त्रस, स्था
के जीवों की हिसा होती है। और जहा दण्डी लोगो के
थ लोग स्नान करते हैं वहा से बडी दूर २ तक पानी का
उस नाले मे नीलण फूलण के छत्ते के छत्ते जम जाते हैं।
स नाले में जाता है तब २ अनन्त निगोदिये जीव मर
फूलण को ^ २ उस पर धूल या रेती

का महान् हृत्याकाड हो जाता है। दण्डी लोग एवम् दण्डीनियों के साथ ठहरने के वास्ते अलग तम्बू खींचा जाता है उस तम्बू की रस्सी बाँधने के लिये खीले पृथ्वी पर ठोके जाते हैं उसमें पृथ्वी काय के असंख्य जीवों का विनाश हो जाता है। और साथ ही पृथ्वी आश्रित रहे हुए सैकड़ों त्रस जीव का भी विनाश हो जाता है।

प्रिय पाठको! यह मेरी कल्पना मात्र ही नहीं, पर सच्ची जग प्रसिद्ध घटना है। इन्हीं दण्डी लोगों के अनुयायी दण्डीजी ने मेम्बर नामे का २३ वीं ढाल की ९ वीं से १८ वी गाथा में ऐसा लिखा है कि —

मर्यादा मुनिवर तजी, संघ तणी हो! करे कोशिश।
ऊचो धर्यो आचारने शुं लखुं हो! जाणे जगदीश ॥१॥
नाम लेने यात्रा तणो साथे राखे हो! गाडी ने माल।
दाल बाटी ने चूरमा अहीं थी हो! लाग्यो मभानो ताल ॥२
साधवीओ साथे रहे वि नता हो! रहे दस वीस।
भाग्ये भाई मले कोई शुं लखुं हो! जाणो जगदीश ॥३॥
स्त्री ओ साथे साधु ने वरजे हो! आचारंगे एम।
उत्तराध्ययन सोलमें, वाड़ भागे हो। शीयलनी तेम ॥४॥
साधु कारण तम्बू रहे तम्बू कारण हो! गाड़ी ने ऊंट।
जीव हणाय छ कायना पूछे थी हो! वली बोले झूंठ ॥५॥
उठे पाछली रातना संघ चाले हो! फरे गामोगाम।
साधु साध्वी राते चालता निंदा हो। होवे ठामोठाम ॥६॥
उनुं पाणी करे रातना घडा भरी हो। वाईया रहे लार।
तेहज पाणी वापरे यात्रा नामे हो। संयम जावे हार ॥७॥

ण फूलण कोण गणे कोण करे हो । जीवोंनी सार ।
नुकम्पा अनुयोग मां भक्ति नामे हो । करे अत्याचार ॥८
ण। संघ मा होवे उनो पाणी हो । पीवे दस वीस ।
ाकर्मी ए आरोगता साधु साध्वी हो । भेगा पचवीस ॥६

महोदयो ! इसी तरह दण्डी लोग रथ यात्रा में भी सैकडो म-
नेक हाथी, घोड़े, पालखो, रथ, नक्कारे, निशान आदि बड़े आ
के साथ जाते हैं उस समय पैरों के नीचे त्रस, स्थावर, नीलण,
आदि कुचला कर अनन्त जीवों को और मेंढक आदि पचेंद्रिय
तक की हिसा होती है। फिर दण्डी लोग उपधान तप करवा के
नाम से सैकडों जीवों की हिंसा करवाते हैं। मूर्त्ति पूजन के लिए
करते हैं वहा अनेक घड़े पानी के गरम करते हैं जिसमें त्रस, स्था
काय के जीवों की हिसा होती है। और जहा दण्डी लोगों के
यो गृहस्थ लोग स्नान करते हैं वहा से बडी दूर २ तक पानी का
जाता है उस नाले मे नीलण फूलण के छत्ते के छत्ते जम जाते हैं।
पानी उस नाले में जाता है तब ? अनन्त निगोदिये जीव मर
हैं उस फूलण को छिपाने के लिये कभी २ उस पर धूल या रेतो
चूना डलवा देते हैं। इस प्रकार जीवों की हत्या होने पर भी "अ-
परमो धर्म" का मूल बतला कर भोली जनता के आँखों मे धूल
हैं। यदि दण्डी लोगों को अपनी आत्मा का कल्याण ही करना
नामवरी का वृथा ढोंग त्याग कर अपने भक्तों को ऐसे हिंसाकारी
करने से रोकना चाहिये। नहीं तो साधु का साधुपना और गृहस्थ
ावक व्रत सब खाक में मिल जाते हैं। ऐसे हिसाकारी कार्यों में
मार्गी भाइयों का साल भर में करीब तीन साडे तीन लाख द्रव्य
ाश होता है। इसम सिवाय वीर प्रभु की आज्ञा की विराधना और
त जीवो की हानि तथा द्रव्य का नाश और ससार भ्रमण फल के

सिवाय और कुछ हाथ नहीं आता अतएव इस द्रव्यको किसी परोपकारी कार्य में खर्च किया जाय कि जिससे जैन धर्म की वृद्धि हो तो अच्छा है।

७—दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि अपने भक्तों के द्वारा गांव मे आने व विहार करवाने को खबर नहीं भिजवाते हैं। जो खबर भेजने को तुम लिख रहे हो यह नितान्त मिथ्या है। अगर कभी एक गाव वाले गृहस्थ दूसरे गाव में खबर भेज दें तो उस भेजने वाले की जैन मुनि अनुमोदना भी नहीं करते। अगर गृहस्थ सामने लेने आये तो उन पर राग भी नहीं लाते और न आवें उन पर द्वेष भी नहीं करते।

दण्डीजी ! अपना ओगुन दूसरों पर डालना भगवान ने माया मृषा पाप कहा है। इस पाप से तो अवश्य डरा करो। भला सूचना भिजवाने का रिवाज दण्डी लोगों मे है या श्वे० स्था० जैन साधुओं में ? पाठक भी इस इस पर गौर कर। जब दण्डीजी विहार करते हुए शहर में आते हैं तो पहिले शहर के बाहर ही ठहर जाते हैं और राह देखते हैं कि हाथी, घोड़े, ढोल, नक्कारे, निशान, बैंड बाजे आदि आये या नहीं, जब मन्दिर मार्गी लोग सब गाजे बाजे को तैयारी करके सामने जाते हैं तब दण्डी लोग बाजे के साथ धीरे २ पाव रखते हुए शहर में आते हैं तब अन्य दर्शनी अवहेलना करते हैं कि देखो साधु हो कर भी हाथी, घोड़े, बाजे और आडम्बर के साथ पधार रहे हैं यह बात जग जाहिर है इसके प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं, अतएव घोड़े, हाथी, बैंड आदि आडम्बर के साथ आना सूत्र से विरुद्ध व लौकिक से भी विरुद्ध समझ त्याग देना दण्डी लोगों के लिये अत्यन्त हितकर होगा।

८—दण्डीजी ! साधु धोवन लेते हैं वे भगवान की आज्ञा से ही लेते हैं। देखो ! द्वितीय आचाराग सूत्र का पिंडेषणा नामक प्रथमाध्ययन का सप्तमोद्देश।

"उस्सेइम वा ससेइम वा चाउलोदग वा तिलोदग वा तुसोदग वा जवोदग वा आयाम वा सोवीर वा सुद्धवियड वा"।

और इसी अध्ययन के आठवें उद्देशे में:—

"अन्नपाणग वा अम्बाड पाणग वा मातुलपाणग वा कविट्ठ-पाणग वा मुद्दिय पाणग वा खज्जुर पाणग वा दालिम पाणग वा णालिएर पाणग वा करोरपाणग वा कोल पाणग वा आमलग पाणग वा चेञ्चा पाणग वा अन्नयर वा तहप्पगार पाणग जाय"

अर्थात्—पानी से भाजन धोया हुआ पानी, ढोकने आदि का पानी, चावल धोने का पानी, तूस धोने का पानी, उठण पानी, आम धोने का पानी, दाख धोने का पानी, खजूर धोने का पानी, दाड़म धोने का पानी, नारियल धोने का पानी, कैर धोने का पानी, बैर (बोर) धोने का पानी, आवले धोने का पानी, इमली धोने का पानी, इसके सिवाय "अन्नयर वा तहप्पगार पाणगजाय" और बर्तन धोने का पानी, आटे की पराव (कचौटी) आदि धोने का पानी मुग की दाल धोने का पानी वगैरह जो कि "चिरा धोय अग्विल वोकत परिणय विद्धत्थ फासुय जाव पडिगाहेज्जा" अर्थात् दो घड़ी पहले का धोया हुआ हो और उसमें केवल पानी का स्वाद न हो अर्थात् कच्चे पानी के स्वाद से भिन्न स्वाद हो, कैर, बैर, इमली, चावल, दाखें आदि धोई गई हों, उसका अंश भी उस धोवन में सम्मिश्रण हो गया हो, पानी के रंग से कुछ भिन्नता हो गई हो ऐसा प्रासुक धोवण जैन साधु को लेना चाहिए।

फिर भी देखिये! जैन साधुओं के धोवन लेन में निम्नोक्त प्रमाण राय धनपतसिंह बहादुर का छपाया हुआ "दशवैकालिक" सूत्र सम्वत १९५७ निर्णयसागर मे मुद्रित पृष्ट ३०२ से ३०३ तक—

मूलम् तहेवुच्चावय पाण, अदुवावार धोअण।
संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोअं विवज्जए॥

अवचूरी—उक्तोऽशनविधि सम्प्रति पानविधिमाह। तथैव यथा शनमुच्चवम्। उच्च वर्णाद्युपेत द्रा ापानानि अवच

वर्णादिहीनं पूत्यारनालादिकम् अथवा वारक धावन गुडघटधावनम् अथवा धान्य स्थाली क्षालनाद्यपि। संस्वेदजं पिष्टौकादि । एतदशनवद्दुत्सर्गापवादाभ्याँ गृह्णीयादिति शेष. तन्दुलोदकमधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयेत् ।.१।

अर्थ —अहि सुधी अन्न लेवानो विधि कह्यो, हवे पाणी लेवानो विधि कहे छे (तहेव के०) तथैव एटले जेम अन्न लेवानो विधि कह्यो तेमज(उच्चावय के०) उच्चावच, एटल जेने केशरादिकनो सुगन्ध छे ते द्राक्ष पाणी, साकर पाणी प्रमुख अने अवच ते जेने सारो ग ध अथवा वर्ण नथी एवु काजीनु पाणी विगेरे (पाण के०) पान एटले पीवानो पदार्थ (अदुवा के०) अथवा (वारधोअण के०) गोलनो घडो धोइने काढीनाखेलु पाणी, सेलडी ने रसें खरड्या घडानु धोवण, अथवा थाली प्रमुखनु धोवण अथवा (ससेइम के०) सस्वेदज एटले कथरोटनु (आटे की कचौटी का) धोवण ले तथा (चाउलोदग के०) तन्दुलोदक एटले चोखानु धोवण ते (अहुणाधोअ के०) अधुनाधौत एटले तत्कालनु धोएलु जेनो फरस परिणम्यो नथी तेवा पीवाना पदार्थने पूर्वोक्त साधु (विवज्जए के०) विवर्जयेत् एटले विशेष करी वर्जे।

पुन देखिए दण्डीजी ! धोवण लेने में तुम्हारे ही पूर्वाचार्य प्रमाण धर गए हैं। जरा आखे खोल कर देखे तो सही। विनय विजयजी विरचित सुबोधिका नामक कल्प सूत्रनी टीकानु गुजराती भाषान्तर जिसको भीमसिंह माणक ने सवत् १९७८ मे आवृत्ति पाचवीं मुद्रित कराई उसके पृष्ठ १३८ पर निम्न प्रकार से है।

"हवे पीवाना पदार्थो नी विधि कहे छे ।

सोमासु रहेला नित्य एकासणु करनार साधुने सर्व प्रकारना

वर्णादिहीनं पूत्यारनालादिकम् अथवा वारक धावन गुडघटधावनम् अथवा धान्य स्थाली क्षालनात्रपि। संस्वेदजं पिष्टोकादि । एतदशनवद्गुत्सर्गापवादाभ्याँ गृह्णीयादिति शेष तन्दुलोदकमधुनाधौतमपरिणतं विवर्जयेत् ।.१।

अर्थ —अहि सुधी अन्न लेवानो विधि कह्यो, हवे पाणी लेवानो विधि कहे छे (तहेव के०) तथैव एटले जेम अन्न लेवानो विधि कह्यो तेमज(उच्चावय के०) उचावच, एटल जेने केशरादिकनो सुगन्ध छे ते द्राक्ष पाणी, साकर पाणी प्रमुख अने अवच ते जेने सारो ग ध अथवा वर्ण नथी एवु काजीनु पाणी विगेरे (पाए के०) पान एटले पीवानो पदार्थ (अदुवा के०) अथवा (वारधोअण के०) गोलनो घडो धोइने काढीनाखेलु पाणी, सेलडी ने रसें खरड्या घडानु धोवण, अथवा थाली प्रमुखनु धोवण अथवा (ससेइम के०) सस्वेदज एटले कथरोटनु (आटे की कचोटी का) धोवण ले तथा (चाउलोदग के०) तन्दुलोदक एटले चोखानु धोवण ते (अहुणाधोअ के०) अधुनाधौत एटले तत्कालनु धोएलु जेनो फरस परिणम्यो नथी तेवा पीवाना पदार्थने पूर्वोक्त साधु (विवज्जए के०) विवर्जयेत् एटले विशेष करी वर्जे।

पुन. देखिए दण्डीजी ! धोवण लेने में तुम्हारे ही पूर्वाचार्य प्रमाण धर गए हैं। जरा आखे खोल कर देखे तो सही। विनय विजयजी विर चित सुबोधिका नामक कल्प सूत्रनी टीकानु गुजराती भाषान्तर जिसको भीमसिह माणक ने संवत् १६७८ में आवृत्ति पाचवी मुद्रित कराई उसके पृष्ट १३८ पर निम्न प्रकार से है।

"हवे पीवाना पदार्थो नी विधि कहे छे।

चोमासु रहेता नित्य एकासणु करनार साधुने सर्व प्रकारनां

दो घड़ी बाद धोवण को सचित्त होजाना लिख दिया है। इन दोनों बातों से दण्डीजी की विचित्र लीला व बुद्धिमता का परिचय पाठक सहज में पा सकेंगे। एक जगह एक बात लिखी तो दूसरी जगह की बात जाने दीजिये। उसी पन्ने में उसी बात में इतना परिवर्तन दिखाना भला हठाग्रही और निरक्षर भट्टाचार्यों का काम नहीं तो और क्या है?

फिर भी देखिये—दण्डी लोग बिना सोचे समझे दो घडी बाद, एक प्रहर बाद अचित जल को सचित लिख देते हैं, यह उनकी गहरी अज्ञानता है क्योंकि दण्डी लोगों के पूर्वाचार्य ही "श्राद्ध विधि प्रकरण भाषान्तर" के पृष्ठ ९५ पर लिखते हैं कि —

"अचित जल क्या शुगी रहे तेनुं काल मान।
जायइ सचित्ततासे गिम्हाशु पहर पञ्च गरम उवरि॥
चउ पहरुवरिसि सिरे वासासु जल तिपहरुवरि।

अर्थात् उष्णकाल मे अचित जल पाच प्रहर ठहरता है और शीतकाल में चार पहर तक, इसी प्रकार वर्षाऋतु में तीन प्रहर तक ठहरता है।

दण्डीजी! आपके माननीय उपरोक्त लेख से ही दो घडी बाद और एक प्रहर बाद अचित जल का सचित हो जाना असत्य एवम् निर्मूल साबित होता है।

प्रिय महानुभावो! दण्डी लोगो की उत्सूत्र प्ररूपना का यह नमूना देखो कि भगवान् ने तो दो घड़ी पहले धोवण लेने की मनाई की और दण्डियों ने लिख मारा कि दो घडी बाद धोवण सचित हो जाता है। दण्डियों! जरा विचार तो करो कि जिनके नाम से सिर मुडवाया है और उनको परम पिता समझते हो, उन्ही का कहा हुआ वाक्य उत्थापन कर रहे हो, धोवण नहीं पिया जाय तो मत पिओ अपनी कमजोरी समझो, क्योंकि मेथीदाने का धोवन, चावलों का उसावण अथवा इनका

बीजो (अलेवेण ना के०) अलेपकृत पाणी ते सौवीर काजी धोवण आदि शब्दथकी गहूलजर पाणी प्रमुख ने पीये तो पच्चखाण न भागे।

त्रीजो (अच्छेणवा के०) अच्छते उष्णजल तथा बीजायण निर्मल उकाल्यो पाणी, नितन्यु फलादिकनु धोयण प्रमुख तेने पीए तो पच्च-खाण भग न थाय।

चोथो (बहुलेवणवाके०) बहुलेय एटले डो होलु' चोखा प्रमुख नु धोवण तेने गलीने पीए तो पच्चखाण न भागे।

पाचवों (ससित्थेणवाके) सित्थ सहित ते अन्नादिक दणाना स्वाद विना धोवग तथा दाथरादिकनु' (आटे की कचौड़ी का) धोवग तेने गलोने पीए तो पच्चखाण न भागे।

छठो (असित्थेणवाके०) सित्थ रहित कणक प्रमुखके हाथ खरड्यो होय तेनु धोवण पीए तो पच्चखाण भागे नहीं।

दण्डीजो! इन उपरोक्त प्रमाणों से २० प्रकार का अथवा इससे भी अधिक प्रकार का अचित धोवण जैन साधुओं का लेना भली भांति सिद्ध हो चुका। बस इसीलिए श्वे० स्था० जैन साधु धोवण लेते हैं। धोवण नहा लना, धोवण को सचित्त रखना आदि २ दण्डीजी का लिखना शास्त्र के प्रतिकूल है।

अब रही यह बात कि धोवण कब तक काम में लाया जावे इसके लिये भगवान् ने भगवती सूत्र के ७ वें शतक का प्रथम उद्देश में तीन प्रहर तक रखने की अर्थात् काम में लाने की आज्ञा दी है जरा देखो सूत्र पाठको—

"जे निग्गन्थो वा निग्गन्था वा फासुएसणिज्ज असणं, पाण खाइमं, साइमं पढ़माए पोरिसीए पडिगाहेत्ता पच्छिम पोरिसीय उवायणाविन्ता आहार आरेति एसणं गोयमा कालाइक्कते'

इस मूल सूत्र से तीन प्रहर तक पानी रखने की भगवान् की आज्ञा है और दण्डीजी लिखते हैं कि अनुमान एक प्रहर तक धोवण रखने की काल मर्यादा है और आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पेरे में

कितने ही दण्डी लोग जवान के चट्टे होने से धोवण नहीं पी सकते तो धोवण में जीवोत्पत्ति ही कह बैठते हैं नैमित्तिक या अनैमित्तिक केवल गरम जल की ही दण्डी लोग स्थापना करने लग गये हैं।

उस गरम जल को गृहस्थों की परात मे ठंडा कर पीते हैं किन्तु दशवैकालिक सूत्र में गृहस्थों के भाजन साधुओं को काम मे लाना मना है, तदापि इस आज्ञा का उल्लंघन कर उष्ण जल पीने में ही स्वादिष्टता समझ कर धोवण की निषेधना कर बैठे हैं।

यदि मन्दिर मार्गी भाई भी कुछ देर के लिये तटस्थ होकर सोचें तो उनके हृदय स्थल से यही आवाज बुलन्द होगी कि "दण्डी लोगों को धोवन पीने का उत्थापन करना सूत्र विरुद्ध है और केवल गरम जल के ऊपर ही निर्भर रहना आधाकर्मी दोष का सेवन करना है।"

दण्डीजी! धोवन को झूठा कहना यह भी अनभिज्ञता का कारण है। क्योंकि जिन वर्तनों को धोएंगे, वे वर्तन चौके (रसोइ घर) में भोजन के काम आते हैं यदि धोवन झूठा हुआ तो भोजन भी उन्हीं वर्तनों मे तैयार किया जाता है वह भी झूठा ठहरेगा अगर भोजन झूठा नहीं तो धोवन झूठा कैसे होगा? क्या जिस भाजन में दाल, शाक बनावें या चावल पकावें उन्हीं वर्तनों में पारवारिक लोग खाने बैठ जायगे? कभी नहीं। हा, तुम्हारे अनुयायी गृहस्थ लोग ऐसा लौकिक विरुद्ध व्यवहार करते हों तो हमें पता नहीं? आटे की परात के धोवन को झूठा कहोगे तो रोटियें भी झूठी हुई मटके धोने के पानी को झूठा कहोगे तो मटके में जल भरा होगा वह भी झूठा ठहरेगा और धोवण को मैला पानी कहोगे तो सूत्र विरुद्ध होगा क्योंकि भगवान् ने धोवन उसे ही कहा है कि जिसका रंग बदल गया हो कच्चे जल जैसा न हो उसी को ग्रहण करने की साधुओं को आज्ञा है।

पाठक! बीस प्रकार के धोवण पहिले बता चुके। फिर भी एक बार पढ़ जाइये कि कैरों का, बैर का, चावल का, छाछ की आंच का

धोया हुआ पानी, कैरों का चूल्हे के आगे के इन्डों का, आटे की परात आदि का धोवन, कसायला, कटु, तीक्ष्ण, खट्टा आदि खराब पानी रहता है जिसके पोने में मजेदार स्वादिष्टता का तनिक भी स्वाद नहीं आता। पीने में जबान को बहुत ही खराब अमनोज्ञ मालूम होता है। ऐसा धोवण साधु नाम धराने वाले स्वादुओं को कब पीना अच्छा मालूम हो? इसलिये दण्डी लोगों ने धोवन पीना छोड़कर केवल गरम पानी लेने की स्थापना की।

कहिए! गरम जल पीना क्या मुश्किल है। उस गरम जल को ठंडा कर लेते हैं। जो न कटु है न तीक्ष्ण, परलोक बिगड़े या सुधरे, इससे क्या मतलब है? "रोटी खाना शक्कर से, दुनिया ठगना मक्कर से" बस काफी है। इस विषय पर विशेष लिखकर पाठकों का वृथा समय लेना नहीं चाहते हैं, सुज्ञेषु किं बहुनाम्।

देखो जरा तत्व दृष्टि से सोचो तो पता लग जाय कि केवल गरम जल ही लेने में आधाकर्मी का दोष लगता है या नहीं, क्योंकि जब मौसम काल में गाय न स्नान के लिये, न मट्ठे के लिये गरम जल किया जाता है तो उस समय दण्डी लोगों के भक्त अपने गुरुओं के लिये खास तौर पर गरम जल जो भी तीन उकाले का करके रख छोड़ते हैं, इसलिये केवल गरम जल लेने में संयम को बाधा पहुंचती है। अतएव भगवान् ने संयम की रक्षा के निमित्त २० प्रकार का धोवन और इसके सिवाय और भी प्रासुक धोवन जो कि गृहस्थों के खान, पान के पदार्थों के निमित्त सहज ही नित प्रति होता है। वह अनैमित्तिक धोवन और समयानुसार छाछ स्नान आदि के लिये गरम जल किया हो उस कार्य्य से बचा हुआ जल लेने के लिये भगवान् ने फरमाया है।

श्वे० स्था० जैन साधु अनैमित्तिक धोवन और गरम जल लेते हैं यह नहीं कि धोवन लेकर अनैमित्तिक गरम जल की निषेधना करते हों, यदि कोई निषेधना करे तो वह शास्त्र विरुद्ध कहते हैं। किंतु

हैं यह तुम्हारा लिखना नितान्त मिथ्या है फिर कुछ लेख लिख कर भले साधुओं को हसी करने का ठेका जो दण्डियों ने ले रक्खा है वे चाहे जो लिख मारें उन्हें पक्षपात की दृष्टि से बचाने वाला कौन है ? पर याद रखिये जमाना वह नहीं है कि "बाबा वाक्य प्रमाणम्" अब जनता सत्यासत्य का निर्णय करती है और सत्य बात को मानती है न कि जनता तुम जैसी हठाग्रही है।

दण्डीजी ! भगवती सूत्र में आहार, पानी, रखने की तीन प्रहर तक की आज्ञा है। इस बात को तो तुम भी स्वीकार करते हो न ? उस भगवती सूत्र में त्रिफला या छाछ की आंच के पानी को ही तीन प्रहर तक रखने का उल्लेख नहीं है। जितनी तरह का साधु को भोजन कल्प नीय है उतनी तरह का भोजन तीन प्रहर तक रख सकते हैं। यह नहीं कि आहार कहने से रोटी रखी जाय, शाक नहीं, बाटी रक्खी जाय मिठाई नहीं आहार में जितने भी खाने के पदार्थ हैं व रख सकते हैं। इसी तरह पानी कहने से बीस प्रकार का धोवण या और भी धोवण व गरम जल रख सकते हैं यह नहीं कि पानी कहने से धोवण रखते गरम जल नहीं रखते और गरम जल रखते धोवण नहीं रखते पानी में जितनी तरह का साधु को कल्पनीय धोवण एवम् गरम जल है वह सब तीन प्रहर तक रखना भगवान की आज्ञानु कूल है। त्रिफला या छाछ के पानी को ही तीन प्रहर तक रखने की भगवतीसूत्र में भगवान् की आज्ञा नहीं है पर दण्डीजी का रखने का लिखना मिथ्या है।

विचार शीलो ! यदि भगवती सूत्र में त्रिफला या छाछ के पानी के सिवाय पानी (धोवण) रखने की मनाई होती तो दण्डीजी यहां अवश्य उस निषेधात्मक वाक्य का प्रमाण रख अपनी सत्यता प्रकट करते किन्तु सूत्र में ऐसा वाक्य हो तो लिखे। दण्डीजी ! धोवण झूठा

धोवण। तो क्या कैर, बैर, चावल धोने से या उसका उसावण का पानी निकालने से वह मैला पानी नहीं होगा ? अवश्य होगा तब फिर धोवण को मैला पानी बतला कर हंसी करने से सिर्फ श्वे० स्थानकवासी जैन साधु की हंसी नहीं होती बल्कि वीर भगवान की हंसी होती है और ये हंसी करने वाले वीर के पुत्र कहलाये जाने वाले भी दण्डी ही हैं।

दण्डीजी ! अनन्तकाय और त्रस जीवों की मर्यादा स्थित धोवण मे उत्पत्ति कहते हो यह भी जिनाज्ञा के विरुद्ध है। क्योंकि अनन्तकाय और त्रस जीवों की उत्पत्ति मर्यादा काल स्थित धोवण में होती तो साधुओं को धोवण लेने की आज्ञा सूत्रों में सर्वज्ञ भगवान हरगिज नहीं देते। धोवण लेने की आज्ञा सूत्रों में स्पष्ट होने से धोवण में अनन्तकाय और त्रस की उत्पत्ति कहना दण्डी लोगों की उत्सूत्र प्ररूपणा है।

धोवण में फुआरे निकलने का व उनकी दया करने के लिये गीली जगह में डालने का आदि २ दण्डीजी का लिखना अक्ल का नमूना है। क्योंकि फुआरे धोवण में ही नहीं निकलते पर कभी २ तीन उकाले लगे हुए गरम पानी तक में निकल जाते हैं और उनके निकलते ही उन्हें ऐसी गीली जगह में डालते हैं जहा उनकी मृत्यु न हो। अगर काल वश वे मर जाय तो इसमें साधु का क्या दोष ? जितनी मर्यादा स्थित में जीव रक्षा का प्रयत्न करना है उतना किया और करते हैं। अब इसमें अन्य दर्शनी हँसी करें तो उनकी इच्छा। यदि कलसे तो अन्य दर्शनी रजोहरण की भी हंसी करेंगे और करते हैं तो क्या इनकी ऐसी हंसी से रजोहरण भी फेंक देंगे पास में नहीं रखेंगे ? इसी प्रकार केवल अन्य दर्शनी की हँसी से धोवण को उत्थाप देना नितान्त अज्ञानता है।

दण्डीजी ! मिट्टी, गोबर का मैला पानी लिखा यह भी आपकी बाल चेष्टा है। क्योंकि कुम्हार के यहा का केवल मिट्टी का पानी तो सचित होता है जो श्वे० स्थानकवासी जैन साधु ऐसे सचित होने के कारण नहीं ले सकते और न गोबर का पानी पीने के लिये जैन मुनि ग्रहण ही करते

उसका धोवण अनन्तकाय की उत्पत्ति व हानि का हेतु है" आदि तुम्हारा लिखना केवल हास्यास्पद और मिथ्या है क्योंकि गृहस्थ लोगों के पानी भरने के बर्तन नित प्रति धोके साफ किये जाते हैं ऐसे साफ और सुथरे बर्तनों में अनन्तकाय का पैदा होना असम्भवित है। और न रज जमने का कारण भी मालूम होता है। इसलिये "धोवण अनन्त काय की हानि का हेतु" ऐसा दण्डीजी का कहना व लिखना सर्वथा मिथ्या है। हां दण्डियों के मटकों में महीन रज सदैव लगी रहती होगी जिससे अवश्य अनन्तकाय भी पैदा होती होगी इसीलिये दण्डीजी ने ऐसा लिखा हो तो कहिए दण्डीजी! जो गरम जल दण्डी लोगों के लिये तैयार किया जाता है वह उन्हीं मटकों के जल से तैयार किया जाता हो तो फिर तो वह गरम जल अनन्तकाय को उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु हुआ क्योंकि दण्डीजी ने खुद लिख दिया है कि "गृहस्थों के पणियारे के मटकों के अन्दर मे व ऊपर में नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है।"

यह तो है ही नहीं कि गरम जल जो दण्डी लोगों के लिये बनाया जाता है वह कुआ, बावडी से ताजा जल लाकर बनाया जाता हो गरम जल तो उन्हीं मटकों में से निकाल कर करते हैं तो यह दण्डी लोगों के लिखे अनुसार अनन्तकाय का हेतु मानना पड़ेगा। अतएव धोवण को अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु कहना प्रत्यक्ष झूठ है और इस प्रकार झूठ बोल कर संसार को बडप्पन दिखाने का प्रयत्न करना आकाश कुसुमवत है।

१०—दण्डीजी लिखते हैं कि—'कई ढढिये धोवण में जीवोत्पत्ति की शंका मिटाने के लिये दुरबीन से या मोटे कांच से धोवन मे जीव देखते हैं।'

यह भी लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। कोई भी श्वे०

है ऐसा कहना सूत्र विरुद्ध है। यदि धोवण झूठा हो तो भगवान उसे लेने की आज्ञा नहीं देते इसका खुलासा प्रथम हम कर चुके हैं इसलिये फिर उसे दुहराना अनुपयुक्त है। और धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दण्डीजी की अनसमझ का है क्योंकि भस्मी-राख का और भस्मी से मजे हुए ताम्बे पीतल के थाली लोटे भाजनादि को धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दण्डीजी की अनसमझ का है। क्योंकि भस्मी-राख का स्पर्श अपकाय (जल) के लिए अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। इसलिए वह धोवण का जल नि सन्देह अचित हो जाता है। उसी प्रासुक जल को श्वे० स्था० जैन मुनि ग्रहण करते हैं। और वही जल भगवान् की आज्ञानुकूल ग्राह्य है।

दण्डीजी! अचित धोवण पीने मे बडा कष्ट होता है। तब ही तो तुम इसका निषेध कर केवल गरम पानी ठडा कर पीने की रीति चलाते हो क्योंकि ठडा किये बाद गरम जल स्वादिष्ट रहता है भला, स्वादिष्ट पीते हुए धोवण पीने की इच्छा कौन रक्खे? तब ही तो तुम धोवण की निषेधना कर रहे हो। पाठक! जरा दण्डी लोगों की जल पीने की चाट तो देखिये। जब दण्डी विहार करते हैं रास्ते में गरम जल का योग न मिलने से घडे भर कच्चे पानी में एक दो ओले के लड्डू डाल कर गृहस्थ लोग वहरा देते हैं। अब कहिये ऐसा कच्चा सचित मीठा स्वादिष्ट पानी पीने वाले दण्डी लोग छाछ की आच का, चावल धोने का, कैर का, बैर का, शाक बनाने की हण्डी का चरका, कसायला, और खट्टा पानी कैसे पी सकते हैं? इसलिये धोवण की निषेधना ही कर बैठे।

दण्डीजी! "गृहस्थों के पणीयारे के मटके के अन्दर में, ऊपर में व नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमे अनन्तकाय उत्पन्न होती है

उसका धोवण अनन्तकाय की उत्पत्ति व हानि का हेतु है" आदि तुम्हारा लिखना केवल हास्यास्पद और मिथ्या है क्योंकि गृहस्थ लोगों के पानी भरने के बर्तन नित प्रति धोके साफ किये जाते हैं ऐसे साफ और सुथरे बर्तनों में अनन्तकाय का पैदा होना असम्भवित है। और न रज जमने का कारण भी मालूम होता है। इसलिये "धोवण अनन्त काय की हानि का हेतु" ऐसा दण्डीजी का कहना व लिखना सर्वथा मिथ्या है। हां दण्डियों के मटकों में महीन रज सदैव लगी रहती होगी जिससे अवश्य अनन्तकाय भी पैदा होती होगी इसीलिये दण्डीजी ने ऐसा लिखा हो तो कहिए दण्डीजी ! जो गरम जल दण्डी लोगों के लिये तैयार किया जाता है वह उन्हीं मटकों के जल से तैयार किया जाता हो तो फिर तो वह गरम जल अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु हुआ क्योंकि दण्डीजी ने खुद लिख दिया है कि "गृहस्थों के पणियारे के मटकों के अन्दर में व ऊपर में नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है।"

यह तो है ही नहीं कि गरम जल जो दण्डी लोगों के लिये बनाया जाता है वह कुआ, बावडी से ताजा जल लाकर बनाया जाता हो गरम जल तो उन्हीं मटकों में से निकाल कर करते हैं तो यह दण्डी लोगों के लिखे अनुसार अनन्तकाय का हेतु मानना पड़ेगा। अतएव धोवण को अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु कहना प्रत्यक्ष झूठ है और इस प्रकार झूठ बोल कर संसार को बडप्पन दिखाने का प्रयत्न करना आकाश कुसुमवत है।

१०—दण्डीजी लिखते हैं कि—'कई ढढिये धोवण में जीवोत्पत्ति की शंका मिटाने के लिये दुरबीन से या मोटे कांच से धोवन में जीव देखते हैं।'

यह भी लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। कोई भी श्वे०

है ऐसा कहना सूत्र विरुद्ध है। यदि धोवण झूठा हो तो भगवान उसे लेने की आज्ञा नहीं देते इसका खुलासा प्रथम हम कर चुके हैं इसलिये फिर उसे दुहराना अनुपयुक्त है। और धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दण्डीजी की अनसमझ का है क्योंकि भस्मी-राख का और भस्मी से मजे हुए ताम्बे पीतल के थाली लोटे भाजनादि को धोकर किया हुआ पानी अचित नहीं होता यह भी लिखना दण्डीजी की अनसमझ का है। क्योंकि भस्मी-राख का स्पर्श अपकाय (जल) के लिए अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र है। इसलिए वह धोवण का जल निःसन्देह "अचित हो जाता है। उसी प्रासुक जल को श्वे० स्था० जैन मुनि ग्रहण करते हैं। और वही जल भगवान् की आज्ञा नुकूल ग्राह्य है।

दण्डीजी! अचित धोवण पीने मे बड़ा कष्ट होता है। तब ही तो तुम इसका निषेध कर केवल गरम पानी ठंडा कर पीने की रीति चलाते हो क्योंकि ठंडा किये बाद गरम जल स्वादिष्ट रहता है भला, स्वादिष्ट पीते हुए धोवण पीने की इच्छा कौन रक्खे? तब ही तो तुम धोवण की निषेधना कर रहे हो। पाठक! जरा दण्डी लोगों की जल पीने की चाट तो देखिये। जब दण्डी विहार करते हैं रास्ते में गरम जल का योग न मिलने से घड़े भर कच्चे पानी में एक दो ओले के लड्डू डाल कर गृहस्थ लोग वहरा देते हैं। अब कहिये ऐसा कच्चा सचित मीठा स्वादिष्ट पानी पीने वाले दण्डी लोग छाछ की आच का, चावल धोने का, कैर का, बैर का, शाक बनाने की हण्डी का चरका, कसायला, और खट्टा पानी कैसे पी सकते हैं? इसलिये धोवण की निषेधना ही कर बैठे।

दण्डीजी! "गृहस्थों के पणीयारे के मटके के अन्दर में, ऊपर में व नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है

उसका धोवण अनन्तकाय की उत्पत्ति व हानि का हेतु है" आदि तुम्हारा लिखना केवल हास्यास्पद और मिथ्या है क्योंकि गृहस्थ लोगों के पानी भरने के वर्तन नित प्रति धोके साफ किये जाते हैं ऐसे साफ और सुथरे व्रतनो में अनन्तकाय का पैदा होना असंभवित है। और न रज जमने का कारण भी मालूम होता है। इसलिये "धोवण अनन्त काय की हानि का हेतु" ऐसा दण्डीजी का कहना व लिखना सर्वथा मिथ्या है। हां दण्डियों के मटकों में महीन रज सदैव लगी रहती होगी जिससे अवश्य अनन्तकाय भी पैदा होती होगी इसीलिये दण्डीजी ने ऐसा लिखा हो तो कहिए दण्डीजी ! जो गरम जल दण्डी लोगों के लिये तैयार किया जाता है वह उन्हा मटकों के जल मे तैयार किया जाता हो तो फिर तो वह गरम जल अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु हुआ क्योंकि दण्डीजी ने खुद लिख दिया है कि 'गृहस्थों के पणियारे के मटकों के अन्दर मे व ऊपर में नीचे सूक्ष्म मिट्टी लगी रहती है उसमें अनन्तकाय उत्पन्न होती है।"

यह तो है ही नहीं कि गरम जल जो दण्डी लोगों के लिये बनाया जाता है वह कुआ, बावडी से ताजा जल लाकर बनाया जाता हो गरम जल तो उन्हीं मटकों में से निकाल कर करते हैं तो यह दण्डी लोगों के लिखे अनुसार अनन्तकाय का हेतु मानना पड़ेगा। अतएव धोवण को अनन्तकाय की उत्पत्ति एवम् हानि का हेतु कहना प्रत्यक्ष झूठ है और इस प्रकार झूठ बोल कर ससार को वडप्पन दिखाने का प्रयत्न करना आकाश कुसुमवत है।

१०—दण्डीजी लिखते हैं कि—'कई ढढिये धोवण म जीवो- त्पत्ति की शका मिटाने के लिये दुरबीन से या मोटे कॉच से धोवन मे जीव देखते हैं।'

... लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। कोई भी ...

स्था० जैन साधु जीवोत्पत्ति की शंका मिटाने के लिए दुरबीन से घोवण में जीव नहीं देखते। ऐसा कौन अज्ञानी है जो केवल ज्ञानी के सिवाय एकेन्द्रिय जल के जीव और निगोदिये इन चरम चक्षु से देखने का प्रयत्न करे घोवण में जीव देखने की दण्डीजी ने परले सिरे की गप्प मारी है।

पाठको ! इन दण्डी लोगों से कट, कसायला धोवण नहीं पिया जाता इस तुच्छ स्वार्थ सिद्धि के लिये उस धोवण को झूठा, कच्चा पानी, आदि कह कर तथा उसमें अनन्तकाय बता कर प्रभु आज्ञा को भी लोपने का दुस्साहस कर बैठे भला, आज्ञा लोपने का क्या कुछ कम दोष है ? नहीं, आज्ञा को लोपने वाले और उनकी बात मानने वाले अनन्त संसार बढ़ा कर ८४ लाख जीवायोनी में परिभ्रमण करने का सामान तैयार कर रहे हैं।

१२—दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन साधु तो निर्दोष, अनैमित्तिक, अचित गरम जल ही लेते हैं उस गरम जल को मिश्र कहना दण्डीजी की गहरी भूल है। गरम जल और कच्चे जल की यही पहचान है कि गरम जल के ऊपर ढकना ढाक दिया जाय तो उस ढक्कन पर भाफ के बूंद आ जाते हैं और कच्चे जल पर चाहे जितनी देर ढक्कन क्यों न ढांक दिया जाय तदपि उस ढक्कन पर भाफ नहीं जमती दण्डीजी ! जो गृहस्थ लोग शाम को चूल्हे पर जल रख देते हैं उसे सुबह लाकर हम नहीं पीते जो उष्ण निर्दोष है उसे हम लेते हैं और पीते हैं हां, दण्डी लोग गरम जल लेते हैं उसमें अवश्य आधाकर्मी दोष लगता है क्योंकि ये तीन उकाले जल को ही गरम जल कहते हैं तो क्या गृहस्थ लोग छाछ या स्नान के लिये गरम जल इस नियम से थोड़ा ही तैयार करते हैं कि इसमें तीन उकाले आना ही चाहिये ? जब तीन उकाले का गरम जल तैयार किया जायगा वह तो दण्डी लोगों के लिये ही समझा जायगा।

१२—दण्डीजी ! जब हलवाई जलेबी बनाते हैं तो कोई उसका मैदा एक दिन पहिले से खट्टा रखते हैं तो कोई उसी रोज ऐसे खटाई के पदार्थ डाल कर तैयार कर लेते हैं जिसमें खमीर फौरन उठ जाता है तो क्या ऐसा करने से उसमें जीवोत्पत्ति हो जाती है ? यदि ऐसा मानोगे तो सोडा, लेमनेट की बोतल खोलने पर भी वह उबलने लग जाती है उसमें भी जीव मानने होंगे तब जनता दण्डी लोगों की बुद्धि को अजीर्ण सा मानेगी। दण्डीजी ऐसे उबलने पर जीव पैदा नहीं होते। यदि पैदा होना मानोगे तो तुम्हारी बुद्धि का भ्रम समझा जायगा। श्वे० स्था० जैन साधु जलेबी लेते हैं वह सचित नहीं है जलेबी को जीव मय सचित मानना भयकर भूल है। दण्डीजी ! स्वाद बदलने पर जीवोत्पत्ति मानोगे तो आटे की पिंड में स्वाद कुछ और है और रोटी में कुछ और, तो क्या रोटी भी जीव मय है ? यदि है तो रोटी क्यों खाते हो ?

फिर भी देखिये—दूध में स्वाद कुछ और है और रबड़ी में उस स्वाद का परिवर्तन हो जाता है तो क्या रबडी जीवाकुल है ? कभी नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हैं। स्वाद बदलने पर ही जीवोत्पत्ति मानना हठ धर्म के साथ २ अज्ञानता है।

१३—दण्डीजी! तुम लिखते हो कि "आषाढ चौमासी से कार्तिक चौमासी तक हरिपत्ति का शाक सवेगी साधु नहीं लेते हैं।" यह लिखना सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि दण्डी लोग हरिपत्ति का शाक लेते और खाते भी हैं तो क्या, ऐसी मिथ्या बातें देख कर तुम्हारे अनुयायी गृहस्थ एवम् तटस्थ लोग तुम्हारी हसी न करेंगे ? वे तो समझते हैं कि दण्डी लोग हरिपत्ति का शाक मौज से ले जाते हैं और खाते हैं और किताबों में लिख देते हैं कि "हम सवेगी साधु नहीं लेते।" इस प्रकार लिखना दण्डियों की मायाचारी है। और वे ढोल की तरह अपने में पोल रखना चाहते हैं यह तो वही मिसाल हुई कि —

कहते हैं पर करते नहीं, मुंह के बड़े लबार।
— ।१।

१४—दण्डीजी ! जिस आचार व मुरब्बे में फूलन आती है उस को बहर कर लाना तो दूर रहा किन्तु नीलण फूलण वाले आचार मुरब्बे का स्पर्श करना भी श्वे० स्था० जैन साधु महान् पाप समझते हैं।

अब पाठक विचार करें कि जब दण्डी लोग बहुत दिनों के अचार व मुरब्बे मे नीलण फूलण आ जाना मानते हैं तो वे चन्दन सेव आदि के मुरब्बे एवम् अनार के शरबत की बोतलें की बोतलें चट क्यों कर जाते हैं ? क्या दण्डी लोगों को आचार, मुरब्बा, शर्बत आदि खाते पीते समय अनन्तकाय फूलण का ध्यान नहीं रहता ? यदि रहता है तो फिर क्यों खाते हैं ? यह तो कथा भट्ट के बैंगन सी बात हुई।

दण्डीजी ! शुद्ध बासी अन्न आदि लेने का किसी भी आगम में भगवतों का निषेध नहीं है। प्रत्युत बासी अन्न देने पर साधु उस बासी अन्न पर द्वेष न करे ऐसा पाठ है दण्डी लोगों को कुछ विवेक हो तो श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र के पंचम संवर की चौथी भवना के अधिकार को देखे उसमें लिखा है कि —

अरसविरससीय लुक्खणिज्जप्पपाण भोयणाइ दोसीण वावण कुहिय पूइय अमणुण्ण विणट्ठ बहुसुय दुभिगंधियाइ तित्तकडुय कसाय-अबिलरसणिद्धनीर साइ अण्णसुय एवमाइ एसु रसेसु अमणुण्ण पावएसु न तेसु समणे णरुसियव्व

अर्थात् अनमनोज्ञ, अरस, शीतल, रूक्ष, और दोसीण अर्थात् बासी भोजन आदि को भोगता हुआ साधु उनके रस, आस्वाद पर द्वेष न करे।

देखिये, बिना ही रस चलित होने के पहिले ही यदि बासी अन्न में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती तो भगवान् इस जगह बासी अन्न लेने की अवश्य मनाई करते पर भगवान् ने मना न कर पुष्टी की है इसलिए बिना ही रस चलित बासी अन्न में त्रस जीवों की उत्पत्ति कह देना दण्डी लोगों का सूत्र विरुद्ध है। और जो बासी अन्न वर्णादि परिवर्तन के साथ ही रस चलित हो जाय तो उस बासी अन्न को श्वे० स्था० जैन साधु लेना तो दूर रहा स्पर्श करना भी पाप समझते हैं।

दण्डीजी कहते हैं कि बासी अन्न दूसरे दिन सुबह तक गरम २ रहे तो भी उसमें उष्ण काय के जीव उत्पन्न होते हैं तथा सर्दी में रोटी आदि बहुत ठंडे रहते हैं तो उनमें शीत काय के जीव उत्पन्न होते हैं।

यह लिख कर तो दण्डीजी ने निरक्षरता जाहिर की है। क्योंकि जब सुबह तक गरम २ रहते हुए भोजन में उष्ण काय के जीवों की उत्पत्ति मानें तो यह भी मानना होगा कि तत्काल के बनाये हुए गरम २ भोजन में भी उष्ण काय के जीव हैं। अतः सब दण्डी लोग अपनी मान्यतानुसार उष्ण काय जीवों की रक्षा के लिये भोजन त्याग कर संथारा (समाधि) लेकर एकान्त स्थान में आसन लगावें। इसी तरह गरम जल को ठंडा करने में शीत काय के जीव उत्पन्न होंगे अतः दण्डी लोग तीन उकाले का उष्ण जल ठंडा न कर उष्ण ही पीना शुरू करें।

दण्डीजी! बासी अन्न बिना रस चलित साधुओं को लेने में कोई दोष नहीं खुद भगवान ने बासी अन्न लिया है। यदि जीवोत्पत्ति होती तो भगवान् महावीर स्वामी कभी नहीं लेते इसलिये बिना रस चलित बासी अन्न में जीवोत्पत्ति बताना दण्डी लोगों की भारी अज्ञानता है। और बासी रोटी, मालपुआ पूरी आदि में तार बंध जाय या रस परिवर्तन हो जाय उसे श्वे० स्थानकवासी जैन साधु स्पर्श करना भी पाप समझते हैं।

दण्डीजी ! आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी का उल्लेख है वहां लिखा है कि जहां तहां जैसा निर्दोष, ठंडा, उष्ण, बासी, सरस, निरस जो भी वक्त पर भोजन मिल जाता उस भोजन को खाकर वे अपने संयम का निर्वाह करते थे देखो जरा आँखें उठा कर मूल सूत्र को।

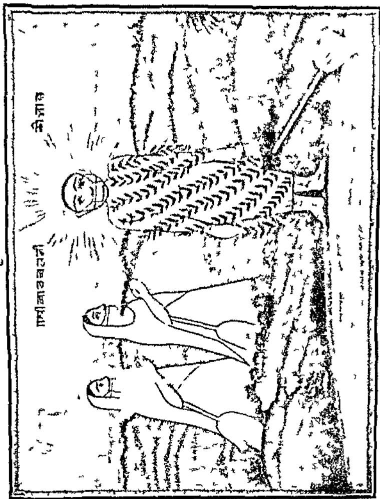
अविसूइयं वा सुक्कंवा सीयं पिंड पुराण कुमासं।
अदुबुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धेय दविए॥

श्री० आचारांग अ० ६ उ० ४

अर्थात्—खाने में बहुत बुरा मालूम हो ऐसा अथवा सूखा, बासी, ठंडा, अरस, निरस, सरस, भोजन रुक्ष उड़द के बाकुले आदि अपना संयम निभाने के लिये भगवान खाते। यदि समय पर ऐसा भी नहीं मिलता तो बिना खाए ही रह कर आत्मा को सन्तोष दे लेते।

दण्डीजी ! इस मूल सूत्र में यह नहीं आया कि भगवान बासी रोटी या पूड़ी नहीं लेते थे। यदि इस जगह मूल में बासी रोटी या पूड़ी आदि नहीं लेने का उल्लेख हो जाता तो दण्डी लोग अपनी मान्यता की सिद्धि में और चट्टेपन की चाट में मानों फूल कर कुप्पे हो जाते। पर बासी रोटी या पूरी नहीं लेने का निषेधात्मक वाक्य कहीं भी नहीं है। प्रत्युत भगवान ने खुद बासी अन्न खाकर अन्य साधुओं को अनुकरण करने का प्रमाण दिया है।

चित्र परिचय के लिये



श्री जनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

बतलाई है उसको नहीं पालना चाहिये ? अवश्य पालना चाहिये तुम्हारे चट्टे हो जान से तुमने वासी अन्न लेना बन्द कर दिया है और उसकी उत्थापना करने लग गये हो। खुद भगवान ने वासी अन्न लेकर साधुओं को लेनेकी आज्ञा दी देखो प्रश्न व्याकरणका प्रमाण कि हे साधु ! वासी अन्न पर खाते समय नाराजी मत लाना।

फिर दण्डीजो की गहरी अज्ञानता वो देखो कि वे वासो अन्न के प्रसग पर क्या लिखते हैं —

"सरस २ गरिष्ट आहार लेकर शरीर को पुष्ट करते हैं और अपने स्वाद के लिए या विहार में भाता रूप आहार अपने साथ में ले जाने के लिये सूर्य का उदय होते ह गृहस्थों के घर जाकर वासी रोटी आदि व बहुत दिनो का आचार और चूल्हे पर का प्राय कच्चा जल लेते हैं "

विचार शील पाठको ! दण्डीजी के विषम वादी वाक्यो पर तो विचार कीजिये कि 'वासी रोटी और उसमें स्वाद सरस और गरिष्ट' कैसा अच्छा सम्बन्ध मिलाया है। भला वासी रोटी में स्वाद दण्डोजो की मूर्खता के सिवाय और कुछ आता है ? वासी रोटी खाने वाले तो रसेन्द्रिय वश करने वाले हुए अगर रसेन्द्री वश में न हो तो वासी रोटो ही क्यों लें ? और वासी रोटो से भी कही शरीर पुष्ट होता है ? हां वासी रोटी निषेध करने वाले दण्डी लोग तो ताजे २ माल खाकर अपनी तोंद वढा लेते हैं।

पाठको ! दण्डियों ने वासी रोटी नहो खाने का अपने लिए कैसा निष्कटक मार्ग निकाला है। न तो इससे गृहस्थ वहराने का नाम ले सकते हैं और न ये खा सकते हैं। भला यह तो प्रत्येक सामान्य बुद्धि वाला भी जानता है कि जैसा स्वाद गरम रोटी पूडी आदि में है वैसा वासी में नही । फिर पकवान के लिये वासो की रुकावट क्यों नही रक्खी। पकवान तो एक रोज के वासी क्या महीने तक के वासी हो तो

भी ये दण्डी मजे मे लेकर खा जाते हैं क्योंकि वे मीठे और-स्वादिष्ट रहते हैं न ?

दण्डीजी ने विहार के वक्त अपने साथ आहार ले जाने वाले का उपहास किया है। पर भगवान् की आज्ञा की इन्हे खबर नहीं कि भगवान् विहार में दो कोस तक आहार पानी ले जाने का आदेश दे चुके हैं। हा, दो कोस से अधिक दूर ले जाने वाला भगवान का अवश्य अपराधी है पर साथ में दो कोस तक ले जाना वाला नहीं देखो वृहद् कल्प सूत्र का चौथा उद्देश।

"णो कप्पई णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा असणवा पाण वा खाइम ससाइम वा पर अद्धजोयणमेराए उवाइणा वित्तए।"

अर्थात —साधु के साथ गृहस्थ नही रहते अगर रहते हैं तो उनसे वे भोजनादि नहीं लेते उनसे आहारादि लेने मे आधाकर्मी आदि दोपो की प्राप्ति होती है [illegible] श्वे० स्था० जैन साधु विहार मे आधाकर्मी (दोपो) आहार [illegible] दो को[illegible] । अपने साथ

ओले के लड्डू डाल कर प्रासुक (अचित) पानी के नाम से वहरा देते हैं तब दण्डा लोगों को विहार में भाता (भोजन) साथ में ले जाने की आवश्यकता ही क्या रही ?

अब हमसे पाठक पूछें कि इस तरह आधाकर्मा आहार पानी लेने का दण्डी लोगों पर विना प्रमाण आक्षेप करना मिथ्या है।

पाठको ! आपकी यह तर्क ठीक है पर हम हमारी ओर से यह नहीं लिख रहे हैं हम अगर अपने मन से लिखते तो अवश्य आक्षेप कहा जाता किन्तु इन दण्डी लोगों के बारेमें ऐसा एक दण्डीजोने ही लिखा है देखिये, दण्डी लाभ विजयजी निरचित "स्तवनावली" ग्रन्थ की पृष्ठ १७२ पक्ति ७ से यों लिखते हैं कि "सवेगी विहार करते हैं जद (जब) गृहस्थ आदमी साथ देते हैं बोझ वगेरे ले चलने कू फेर मजल पर घर न होने से दाल बाटी गरम पानी करके मजे मे खाते पिलाते इच्छानुकूल ठिकाने पहुँचाते हैं अे (यह) पाप कहा छूटेगा।

पुन देखो उपर्युक्त ग्रंथ की ही पृष्ट १७२ पक्ति दूसरी मे। "प्रेम विजयजी आगरे आये गये आदमो खाते पिलाते लाये पहुँचाये। उत्कृष्ट बाजे फेर लसकर से चोर निर्जे कलकत्ते गये। नथमलजा गोलेछा ने एक गाडी आदमी दिये। सेवा करते ले गये पहुचे बाद गाडी वलद बेच दोये ऐसे जानते पांप कहा छूटेंगे। फेर दोलत विजयजी आगरे से कानपुर तक पोंहचाये इसी तरह रिवाज है।

इत्यादि बहुत से प्रमाण हैं पाठकों को इन प्रमाणों से पता लगेगा कि दण्डो लोग विहार में दाल बाटी, गरम जल, ओले का जल साथ के गृहस्थ से लेते हैं, तो भला विहार में भाता रूप आहार तोक कर दण्डी लोग क्यों लेजावें ? और विहार में ठडा भोजन कौन खावे ? जबकि गरम २ बाटी चूरमा दाल मिलती है, तब ऐसा आहार खाकर निर्दोषी बने फिरना दण्डीजी की बडी भूल है।

दराडीजी ! सुबहकी बनी रोटी सायकाल को ठंडी कहलाती है। श्वे० स्था० जैन साधु भी उसे ठंडी ही कहते हैं, इसी तरह सायकाल की रोटी भी रात व्यतीत होने पर सुबह ठंडी कहलाती है, यदि उसको ठंडी नहीं कहते तो दण्डियों का कहा सही समझा जाता।

दराडीजी ! सूत्रकार ने तुम्हारे चट्टेपन की चाट मिटाने के लिये ही ठंडा आहार लेने के वास्ते "सीय पिराड" शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द में से यह अर्थ कोई भी विद्वान् नहीं निकाल सकता है कि सुबह की रोटी शाम को ही ठंडी कही जाय न कि शाम की रोटी सुबह को ठंडी गिनी जाय।

जब भगवान् तीसरे प्रहर म गौचरी जाते थे तब कहीं किसी रोज किसी क यहां उस रोज का भोजन बना हुआ नहीं होता तो गृहस्थ कहता कि हे स्वामिन् ! आज का बना हुआ भोजन शेष नहीं रहा, कल का ठंडा पड़ा है कहो तो वहराऊँ भगवान वही भोजन ले लेते, इसीलिये सूत्र में उल्लेख है कि भगवान ने स्वय ठंडा आहार कर अन्य साधुओं को अनुकरण करने का प्रमाण रख दिया है।

दराडीजी लिखते हैं कि "मिठाई में पक्की चासनी होने से जल का अंश कम रहता है जिससे जीव उत्पन्न नहीं होते ऐसी वस्तु लेने में दोष नहीं।"

हां, सच है दराडीजी ! मिठाई की चाट में तो सब दोष यों ही छिप जाते हैं, इसीलिये तुम्हारे माननीय पूर्वजों ने "श्राद्ध विधि प्रकरण' ग्रंथ के पृष्ठ ९३ पर १५-२०-३० दिन तक की बनी हुई मिठाई लेने की आज्ञा दी है, हाय ! कितना अन्धेर है, श्वे० स्था० जैन साधु तो ३० दिन की बनी हुई मिठाई तो दूर रही पर १०-१२ रोज की बनी हुई मिठाई में भी उसी वर्ण वाले क[illegible] जा[illegible] हैं इसलिये उसे छोड़ देते हैं, यहां तक कि उसर[illegible]

जल का अश कम होने से मिठाई में जीवोत्पत्ति नहीं होती यह लिखना भी दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है। क्योंकि पेड़े, मावे में जल बिलकुल ही नहीं पडता पर उसमें १०–१२ रोज के करीब मे उसी वर्ण वाली फूलण आजाती है, ३० रोज तक की मिठाई खालेना और बासी रोटी बाजरे का रोटला पुड़ी नहीं खाना और जीवोत्पत्ति कह देना दण्डी लोगों का चट्टापन नहीं तो और क्या है?

१६—दण्डीजी लिखते हैं कि "मक्खन (लोणी) छाछ में से बाहिर निकालने पर तत्काल अतरमुहूर्त में ही उसी वर्ण की फूलण आदि अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है।"

दण्डीजी का इस प्रकार लिखना हास्यास्पद है, क्योंकि मक्खन वही है जिसमें छाछ का अश हो, जिसमें छाछ नहीं होगी वह मक्खन नहीं कहलायगा, उसे तो तपा हुआ घी कहेंगे। अगर मक्खन म तत्काल ही जीव उत्पन्न होते तो भगवान सर्वज्ञ, साधुओं को कारणवश मक्खन लेने की क्यों परवानगी देते? देखो सूत्र बृहद्कल्प के पाचवें उद्देशे में लिखा है कि —

"णो कप्पई निग्गथाण वा निग्गथीण वा पारसीयासीएण तेलेण व घएण वा णवणीएण वा वसाए वा गायाइ अब्भगेत्तए वा मखेत्तए वा णणत्थ आगाढागाढे रोगाय केहिं।"

अर्थात्—पहले प्रहर में लाया हुआ तेल, घी मक्खन आदि तीन प्रहर तक काम में साधु साध्वियों को ले लेना चाहिये, यदि कोई विशेष से विशेष कारण हो तो पहिले प्रहर की लाई हुई उपरोक्त चीजें चौथे प्रहर तक भी काम में लाई जाय तो कोई दोषापत्ति नहीं। सो दण्डी लोग कैसे कह सकते हैं कि मक्खन में तत्काल ही जीव उत्पन्न हो जाते हैं, क्या दण्डी लोग भगवान से भी विशेष ज्ञानी हैं? क्या उन्हे भगवान के वाक्यों पर भी विश्वास नहीं है? भगवान जब कह गए हैं कि मक्खन

आदि तीन प्रहर तक काम में ले सकते हैं और अत्यन्त आवश्यक्ता हो तो चौथे प्रहर तक काम में लेने मे भी दोषोत्पत्ति नही है तो फिर सामान्य बुद्धि वाला भी कह सक्ता है कि दण्डीजी की मक्खनमें तत्काल जीव पैदा होने की बात सूत्र विरुद्ध है।

२०—दण्डीजी ! मक्खन की तरह शहद भी है। यदि शहद में फूलण और त्रस जीव होते तो भगवान् उसका लेना सूत्र में निषेध कर देते। पर किसी जगह भी निषेध नही करा इससे दण्डीजी का मधु विषय का लेख मिथ्या है।

२१—दण्डीजो ने दूध में गुड मिलाने से असख्य त्रस जीवों की उत्पत्ती होना लिखी सो यह लिखना भी उनका नितान्त मिथ्या है। क्योंकि दूध में गुड मिलाने पर जब जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा ३२ सूत्रों में कहीं भी भगवान ने उल्लेख नही किया। फिर भी देखिये—क्या दूध मे मिलाने के लिये श्वे० स्था० जैन साधु को शक्कर नही मिलती है जो वे दूध में गुड मिलावेंगे ? दण्डीजी ! सिर्फ ईर्षा बुद्धि वश मनमाने मिथ्या लेख लिख रहे हो, क्योंकि दूध में गुड मिलाकर खाने का नियम हमारे मुनियों में नही है। दण्डीजी ३२ सूत्रों के विरुद्ध दूध में गुड मिलाने से त्रस जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा तुमने किस प्रमाण से लिखा ? बिना प्रमाण असत्य लिखने से भलमनसाहत नहीं प्रकट होती।

२२—दण्डीजी ! आर्द्रा नक्षत्र बैठने के बाद आम न लेने की बात भी तुम्हारा चट्टापन साबित करती है। श्वे० स्था० जैन साधु तो आर्द्रा नक्षत्र के पहिले भी आम मे जीव उत्पन्न होने की आशका समझ जायँ तो आम व उसके रस छुएँ भी नहीं।

२३—दण्डीजी ! साधुओं को भोजन के समय गृहस्थों के घरों में आहारादि के लिये चुपचाप ही जाना शास्त्रानुकूल है। क्योंकि जब साधु आवाज नहीं देंगे तभी भोजनालय में भोजन कल्पनीय अकल्पनीय वस्तुओं का त्यों रक्खा हुआ साधु के दृष्टिगत होगा, जो कल्पनीय अर्थात्

कच्चे जल, निमक, अग्नि पर नहीं होगा उस भोजन को ले लेंगे और जो अग्नि पर दाल शाक बाटी आदि पड़ी होगी या कच्चे जल, नमक आदि छुई हुई पड़ी होगी तो उसे नहीं लेंगे। और जब गृहस्थो के घरोंमें भोजन के लिये धर्म लाभ कहकर प्रवेश करेंगे तो गृहस्थ जान लेंगे कि साधु आये हैं, अत दाल मे नमक नहीं डाला होगा तो नमक शीघ्र डाल देंगे या अग्नि पर पड़ा हुआ होगा तो उसे अग्नि से हटा लेंगे, आदि २ साधु के धर्म लाभ आवाज देने पर अनेक हिंसा जन्य कार्य होंगे और भोजन देने और लेने वाला दोनों काली धार डूबेंगे। क्योंकि वह भोजन सदोषी होजायगा और वे साधु के निमित्त ऐसा करने से भगवान के भी दोषी होंगे, इसलिये गृहस्थों के घरों मे साधु को चुपचाप ही जाकर निर्दोष आहार पानी लेना चाहिये, धर्म लाभ कहकर दूषित आहार लेना जिनाज्ञा के प्रतिकूल है।

फिर दण्डीजी लिखते हैं कि 'उस समय वहू, बेटी आदि खुले सिर बैठी हों, शरीर को शोभा करती हों, कभी स्नान करते समय वस्त्र बदलते समय, वस्त्र रहित हों, कभी कोई स्त्री पुरुष आपस में हास्य विनोद काम चेष्टा वगैरह करते हों।"

दण्डीजी ! यह लिखना कितनी अज्ञानता का है कि भोजनालय में भोजन के समय काम चेष्टा करते हैं, कोई मूढ मनुष्य भी ऐसा नहीं करता होगा। दण्डी लोगों के भक्तों का तो हमें पता नहीं, शायद इसी कारण से दण्डी लोग 'धर्म लाभ' शब्द कहकर घरों में प्रवेश करते होंगे, कि धर्म लाभ सुनकर स्त्री पुरुष काम चेष्टा करते हुए दूर होजायँ, हाय ! कितना घृणित व्यवहार है कि दिनमें और भोजनके समय भी जैनी नाम धराने वाले काम चेष्टा करते हों ! अगर ऐसा व्यवहार उनके घरों में नहीं होता होगा तो दण्डी मणिसागरजीका लिखना नितान्त मिथ्या सिद्ध होगा।

विचारशीलो ! स्त्रियों के श्रृङ्गार, स्नान आदि के स्थान भोजनालय से प्रथक ही होते हैं और काम चेष्टा का स्थान भी प्रथक रहता है।

तो भला भोजनालय मे भोजन के समय स्नान, शृङ्गार, कामचेष्टा का सम्बन्ध जोडना दण्डीजी की अज्ञानता है।

देखिये—दशवैकालिक सूत्र के पाचवें अध्याय में आहार पानी आदि की गवेषणा के लिये १५० श्लोक भगवान ने फरमाये हैं, पर उनमे किसी भी जगह यह नहीं कहा कि गृहस्थ के घरों में गोचरी के लिये 'धर्मलाभ' कहना चाहिये। इसी तरह श्रीमदाचारग सूत्र के आहार गवेषणा के अधिकार मे धर्म लाभ या कोई भी शब्द कहकर साधुओं को गृहस्थों के घर में जाना चाहिये ऐसा नहीं लिखा। "धर्मलाभ आदि शब्द न कहकर घरो मे प्रवेश होना अनर्थ का मूल होता है" ऐसा दण्डीजी लिखते हैं तो क्या भगवान महावीर भूल गए हैं ? या दशवैकालिक या आचारग सूत्र में धर्मलाभ आदि शब्द कहकर गृहस्थों के घरों मे गोचरी के लिय प्रवेश होना ऐसा लिखना रह गया ? तो फिर दण्डीजी ! तुम किस आधार से इसे बहुत अनर्थों का मूल बतलाते हो।

भगवान तो आहार की गवेषणा मे नितने भी कारण अनर्थ पैदा होने के थे सब बतला गये, कोई बात न छोडी "तब धर्म लाभ कहकर गोचरी जाना, नहीं तो बहुत अनर्थ पैदा होंगे" य वाक्य भगवान के ज्ञानके बाहर रहगये होंगे ! अफसोस" शतश अफसोस !!! कि दण्डी लोग कलियुग में केवलज्ञानी से भी महद् ज्ञानी बनने चले हैं।

२४—गृहस्थ लोग जो अपने घरों में जाते हैं तो खखारा खास आदि करते हैं यह ठीक है, गृहस्थ तो समय कुसमय में भी जा सकते हैं पर साधु तो भोजन के समय और भोजनालय मे ही आहार पानी के लिये जाते हैं उस समय धर्मलाभ आदि शब्द कहने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि भोजनालय मे भोजन के समय बेशर्मी करने का व्यवहार भला कौन करता है ? अत शुद्ध आहार की प्राप्ति के लिये गृहस्थों के घरों मे चुपचाप ही साधुओं को प्रवेश करना चाहिये।

दण्डीजी! पूर्व कर्म पश्चात् कर्म का दोष साधु तबही जानेंगे कि जब चुपचाप ही गृहस्थों के घरों में गौचरी जावेंगे वरना धर्म लाभ शब्द कहने से दोषों को नहीं जान सकते जैसे पुलिस रात को चुपचाप जाकर ही चोरों को पकड सकती है, आवाज देगी तो चोर खोदना तोडना आदि बन्द कर देंगे। इसी तरह साधु जब (चुपचाप ही गृहस्थों के घरों में भोजन के समय जावेंगे तो भोजन बनाने वालों को ज्यों के त्यों देख लेंगे। फिर उनके हाथ से लेना होगा तो लेगे नहीं तो खाली हाथ लौट जायँगे। और जो साधु धर्मलाभ कह कर जावेगे तो गृहस्थ अकल्पनीय अग्नि, नमक, कच्चे जल सब्जी धान आदि से स्पर्श हुए भोजन को इधर उधर रख देंगे और पाप के भागी होंगे। सूझते के लेने वालों को असूझता ठहरा देंगे इसलिये साधु को भोजन के समय गृहस्थोंके यहा चुपचाप ही जाना शास्त्रानुकूल है और युक्ति युक्त है। यदि शुद्ध आहार की गवेषणा करना है तो दण्डो लोगों को भी धर्मलाभ की यह नई प्रणाली त्याग देना उचित है।

२५—गृहस्थों के घरो में धर्मलाभ आदि कह कर साधुओं का प्रवेश होना इस बात को सिद्ध करने के लिये दण्डोजी लिखते हैं कि 'निशीथ सूत्र में जो साधु साध्वी के उपाश्रय में अपना आगमन जनाये विना(खासी आदि किये विना) प्रवेश करे, प्रवेश करते को अच्छा जाने तो प्रायश्चित आवे।"

दण्डीजी! 'खासी आदि किये विना' प्रवेश होना लिखना नितान्त मिथ्या है। क्योंकि खाँसी आदि करनेका निशीथ सूत्रके मूल में नहीं है— देखो जरा आखें खोलकर निशीथ सुत्र का चतुर्थ उद्देश जिसमें लिखा है कि —

"जे भिक्खू निग्गथीए उवस्सयसि अविहाए अणुप्पविसई अण प्प विसत वा साइज्जई"।

तो भला भोजनालय मे भोजन के समय स्नान, श्रृङ्गार, कामचेष्टा का सम्बन्ध जोडना दण्डीजी की अज्ञानता है।

देखिये—दशवैकालिक सूत्र के पाचवें अध्याय में आहार पानी आदि की गवेषणा के लिये १५० श्लोक भगवान ने फरमाये हैं, पर उनमें किसी भी जगह यह नहीं कहा कि गृहस्थ के घरों में गोचरी के लिये 'धर्मलाभ' कहना चाहिये। इसी तरह श्रीमदाचारग सूत्र के आहार गवेषणा के अधिकार में धर्म लाभ या कोई भी शब्द कहकर साधुओं को गृहस्थों के घर मे जाना चाहिये ऐसा नहीं लिखा। "धर्मलाभ आदि शब्द न कहकर घरों में प्रवेश होना अनर्थ का मूल होता है" ऐसा दण्डीजी लिखते हैं तो क्या भगवान महावीर भूल गए हैं ? या दशवैकालिक या आचारग सूत्र में धर्मलाभ आदि शब्द कहकर गृहस्थों के घरों में गोचरी के लिये प्रवेश होना ऐसा लिखना रह गया ? तो फिर दण्डीजी! तुम किस आधार से इसे बहुत अनर्थों का मूल बतलाते हो

भगवान तो आहार की गवेषणा मे जितने भी कारण अनर्थ पैदा होने के थे सब बतला गये, कोई बात न छोडी "तब धर्म लाभ कहकर गोचरी जाना, नहीं तो बहुत अनर्थ पैदा होंगे" ये वाक्य भगवान के ज्ञानके बाहर रहगये होंगे! अफसास!! शतश अफसास!!! कि दण्डी लोग कलियुग में केवलज्ञानी से भी महद् ज्ञानी बनने चले हैं।

२४—गृहस्थ लोग जो अपने घरों में जाते हैं तो खखारा खास आदि करते हैं यह ठीक है, गृहस्थ तो समय कुसमय में भी जा सकते हैं पर साधु तो भोजन के समय और भोजनालय मे ही आहार पानी के लिये जाते हैं उस समय धर्मलाभ आदि शब्द कहने की कोई आवश्यक्ता नहीं, क्योंकि भोजनालय में भोजन के समय बेशर्मी करने का व्यवहार भला कौन करता है ? अत शुद्ध आहार की प्राप्ति के लिये गृहस्थों के घरों मे चुपचाप ही साधुओं को प्रवेश करना चाहिये।

दण्डीजी, तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है। तुमने किन किन श्वे० स्थानकवासी जैन साधुओं को एकान्तरे बारा बन्धी से गोचरी जाते देखे या कौनसे ग्रन्थ में लिखा देखा कि श्वे० स्थानकवासी जैन साधु आज गोचरी जाते हैं तो कल नहीं जाते और फिर परसों जाते होंगे। देखो श्वे० स्था० जैन साधु एकान्तरे बाराबन्धी से गोचरी नहीं जाते, वे कभी चौथे पाचवे पन्द्रहवे रोज चाहे जब गोचरी जाते हैं। पर ऐसा नियम नहीं है कि आज गोचरी गये तो कल न जाकर परसों अवश्य जावेंगेही दण्डीजी जो तुमने बाराबन्धी की प्रथा बतलाई यह सर्वथा झूठ है।

हाँ, दण्डी लोगों में नित्य पिंड, आधा कर्मी आदि दोषों से दूषित आहार करने का प्राय रिवाज है। इसके प्रमाण हम पिछले उत्तरों में लिख चुके हैं। विशेष फिर यहाँ दुहराना उचित नहीं समझते।

६७—दण्डीजी कहते हैं कि "चने, उड़द, मूंग, तुअर वगैरह दो फाड़ वाले धान को कच्चे दही छाछ दूध में मिलाने से उसको विदल कहा जाता है इसी तरह पकोड़े चोलरी पीतोड़ आदि में दही कच्ची छाछ डाल कर रायता बनाया जावे वह भी विदल है। उसमें तत्काल सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है।"

इस प्रकार लिख कर दण्डीजी अपनी अज्ञानता जाहिर करते जाते हैं। क्योंकि ३२ सूत्रों में कहीं भी दोफाड वाले धान व पीतोड़ चौलरी आदि में दही या कच्ची छाछ डालने पर विदल हो जाता है ऐसा उल्लेख भगवंतों ने नहीं किया और ऐसा करने पर उसमे तत्काल ही त्रस जीव उत्पन्न होते हैं ऐसा भी भगवंतों ने बत्तीस सूत्र के किसी मूल पाठ में उल्लेख नहीं किया। तो फिर दण्डीजी ने किस प्रमाण से द्विदल में जीव उत्पन्न होना लिखा? इस बात को यदि दण्डियों को सिद्ध करना ही था तो माननीय बत्तीस सूत्रों का प्रमाण यहा अवश्य उद्धृत करते, पर कहा से उद्धृत करे? सूत्रों में कहीं नाम निशान भी

अर्थात्—जो साधु साध्वी के उपाश्रय मे कारणवश जाना चाहे तो (अविहाए) बिना चेताये याने आर्यिकाजी,के उपाश्रय मे श्राविका है या नहीं। ऐसा कहे बिना साधु साध्वी के उपाश्रय मे प्रवेश हो जाय तो वह प्रायश्चित का भागी है। क्योंकि साधु साध्वी के उपाश्रय में बाई या भाई की साक्षी भूत से जा सकते हैं। यदि उपाश्रय में बाई नही है और साधुजी के साथ भाई नहीं है तो वे साधु साध्वी के उपाश्रय में कभी नही जा सकते इसलिये निशीथ सूत्र मे "अविहाए" शब्द दिया है।

विचारशीलो। सोचिए इस जगह साध्वी के उपाश्रय का न्याय देना दन्डी लोगा के लिए कितना लज्जनीय है। गृहस्थों के भोजनालय में भोजन के समय कौन ऐसी स्त्री है जो शृङ्गार सजेगी? या काम चेष्टा आदि के लिये उतारू होगी।

अगर थोडी देर के लिये मान भी लें कि गृहस्थों के घर मे दन्डीजी के मतानुसार ऐसा होता भी हो तो क्या साध्वी के उपाश्रय मे भी ऐसा कुव्यवहार हो सकता है जिसका न्याय लगाकर तुमने अपनी बात सिद्ध करना चाही ?

दण्डीजी न्याय देना हो तो सोच समझ कर देना चाहिए। कहा तो साध्वी जी के उपाश्रय का न्याय और कहा अपनी तुच्छ स्वार्थ सिद्धि? इस न्याय से यह सिद्ध नही हो सकता कि भोजनालय मे भोजन के समय गृहस्थों के घरों में धर्मलाभ आदि कहकर साधु को प्रवेश होना चाहिये। दन्डीजी अगर शुद्ध आहार लेने की इच्छा रखते हो तो श्वे० स्था० जैन साधु की तरह भोजनालय में चुपचाप जाकर अपनी आंखों से कल्पनीय अकल्पनीय सब अच्छी तरह देख कर लिया करो जभी शास्त्रानुकूल साधु की रीति पालने वालों में गिने जावोगे।

२६—दन्डीजी लिखते हैं कि "ढुंढिए साधु नित्य पिंड का दोष टालने के लिये एकान्तरे बारा बन्धी से गोचरी जाते हैं यह भी अनर्थ का हेतु है।

अद्रक, करेले, गाजर, लहसन, मूली, प्याज, पालखा, इमली, आलू, पिण्डालु, अथाणा, केरी, निम्बू, मिरच, आदिका, दही वडे, बैंगन, सीताफल, बेर, जामन आदि।

अब कहिए ! खुद दण्डी लोग उपरोक्त वस्तुओं को अभक्ष कहते हैं और फिर इन्ही दण्डी लोगों के अनुयायी गृहस्थ लोग खाते जा रहे हैं और उपरोक्त अभक्ष वस्तुओं में से कितनीक वस्तु खुद दण्डी लोग अपने काम में लाते हैं तो यह एक मायाचारी ही है।

दण्डीजी ! अभक्ष का मतलब यह है कि मदिरा माँस तो सर्वथा अभक्ष ही है। और अवशेष जीवाकुल अभक्ष पदार्थों में से वच सके वहा तक उनसे बचना गृहस्थों का काम है। जितना बचे उतना ही पाप कम होगा और मुनिराज तो जीवाकुल अभक्ष खायगे ही नही। मक्खन, शहद, निमक, हल्दी, अद्रक, बैंगन, आलू आदि का शाक वगैर जो भी लेंगे वह अचित्त एव रापणिक होगा उसे ही लेंगे उसमे कोई भी पाप मुनिराजों को नही है।

फिर भी देखिए——

जिस ग्रन्थ का दण्डीजो ने उदाहरण दिया उसी ग्रन्थ के ५८५ पृष्ठ के नोट में इस प्रकार का उल्लेख है कि "इन बाईस में के कितनेक का औषधादि में ग्रहण भी करते हैं" दण्डीजी ! इस प्रकार के वाक्य से "मक्खन शहद" औषधादि में लेना सिद्ध हो चुका तो फिर दण्डीजी ! श्री अमोलक ऋषिजी महाराज रचित "जैन तत्व प्रकाश" ग्रन्थ का नाम लेकर "मक्खन शहद" नहा लेना व तत्काल द्विदल में जीव होना ऐसा सिद्ध करना दण्डीजी की मूर्खता नही तो और क्या है ?

दण्डीजी ! जैसे तुमने बाईस अभक्ष की चर्चा "जैनतत्वप्रकाश" से ग्रहण की तो फिर उसी ग्रन्थ में मुहपत्ति मुह पर बाधने का विषय प्रमाणों से भली भाति सिद्ध कर दिया है और उन महापुरुष ने बतला

नहीं है केवल दण्डीजी ने मन' कल्पना मे द्विदल में जीवोत्पत्ति लिख मारी यह सूत्र विरुद्ध है।

२८—दण्डीजी लिखते हैं कि "अमोलक ऋषि वगैरह कितने ही ढूंढिये विदल में जीवों की उत्पत्ति मानते हैं। जैन तत्व सार में बाईस अभक्ष के अधिकार में पृष्ठ ५६३ वें में लिखते भी हैं परन्तु व्यवहार में नहीं लाते।"

दण्डीजी! जो तुमने "जैन तत्व सार" नामक ग्रन्थ का प्रमाण रखा यह सरासर झूठ है। क्योंकि "जैन तत्व सार" इस नाम का ग्रन्थ शास्त्रोद्धारक बाल ब्रह्मचारी परम पूजनीय पण्डित मुनि श्री अमोलक ऋषीजी महाराज ने आज तक नहीं लिखा फिर दण्डीजी को "जैन तत्व सार" ग्रन्थ कहा से प्राप्त हो गया। हा, सम्भव है दण्डीजी! के लिखते समय आखों में चकाचौंध छा गई हो जिससे "जैन तत्व प्रकाश" की जगह "जैन तत्व सार" हो गया हो। खैर कुछ भी हो पर दण्डीजी! का यह लेख भी पूर्ण अनसमझ का है। क्योंकि बाईस अभक्ष में नीमक, तम्बाखू, अफीम, भी अभक्षों हैं, ऐसा श्री अमोलक ऋषिजी महाराज ने ग्रन्थों से लिखा है सो क्या दण्डी लोग बिना निमक की वस्तु खा रहे हैं? नही, फिर भी देखिए कितनेक दण्डी लोग तम्बाकू भी सूघते हैं कभी कारण मे अफीम भी खा लेते हैं तो फिर दण्डीजी ने जैन तत्व प्रकाश का उल्लेख बिना सोचे समझे क्यों कर लिख डाला।

फिर देखिए!

बाईस अभक्षों मे से बहुत सी चीजें गृहस्थ-दण्डी लोग अपने काम में लारहे हैं जरा सुनिये—

कवीठ, सहद, मक्खन, वर्फ, अफीम, भाग, गाजा, माजूम, तम्बाखू, गडे, गेरू, गोपीचन्दन, खड़िया, हिरमची, मैनसिल, निमक, रात्रि भोजन, अनार, [जायफल, अजीर, बीजोरे के दाने, स्वर्णकन्द,

दण्डीजी ! स्थावर और समुर्च्छिम जीवों को देख नहीं सकते । ज्ञानी तीर्थकरों के कहने से मानते हैं यह बात बिलकुल सही है । परन्तु पाँच स्थावर समुर्च्छिम में जीव होना तीर्थंकरों ने सूत्रों में फरमाया उसी प्रकार किसी ज्ञानी या तीर्थंकर ने बत्तीस सूत्रों में यह नहीं फरमाया कि द्विदल में तत्काल ही जीव पैदा होते हैं तब दण्डी लोगों के ज्ञानी महाराज कौन ? क्या वे मनगढ़न्त लिख मारते हैं या स्वय ज्ञानी हैं ? यदि सचमुच कलयुग के ज्ञानी भी हों तो हम उनका स्वागत करने को तैयार नहीं है भले ही दण्डी लोग इसे प्रमाण भूत मानें । श्वे० स्था० जैन साधु तो मन कल्पना से कहने वाले ही समझेंगे ।

२६—दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढिये साधु लोग मकान के मालिक का घर शय्यातर न करते हुए मकान में ठहरने की आज्ञा देने वाले नौकर या पाडोसी आदि अन्य का घर शय्यातर करके मकान के मालिक के घर का आहारादि लेते हैं यह सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है ।"

दण्डीजी यह भी लिखना तुम्हारा अविवेकता का है क्योंकि जैन शास्त्रों में मकान मालिक की तथा जिसके अधिकार मे हो उसकी आज्ञा लेने का उल्लेख है । देखो रायपसेणी सूत्र में प्रदेशी राजा के प्रसग पर" चित्तजी प्रधान ने सरकारी बागवान से कहा कि नगे सिर वाले नगे पैर चलने वाले और मुह पर मुख वस्त्रिका बाँधने वाले बगल मे रजोहरण रखने वाले हाथ में पात्र लिए हुए ५०० मुनि के परिवार से श्री केशी श्रमण मुनि यहा पधारने वाले हैं अत उनके ठहरने के वास्ते मकान की आज्ञा तथा पाट पाटले सस्थारक वगैरे जो कुछ वे लेना चाहे देकर फिर मुझे इत्तला देना तब बागवान ने वैसा ही किया ।

देखिये दण्डीजी ! शितम्बिका में राजा प्रदेशी का बाग होते हुए भी श्री केशी श्रमण ने बागवान की आज्ञा ली है । क्योंकि वह बाग उस बागवान के आधीन एवम् जिम्मे पर था इसी प्रकार अतगढ़ सूत्र में

भी लिखा है कि मुहपत्ति मुह पर ही बांधना शास्त्रानुकूल है। अतः इसको भी मान कर हठाग्रही ढण्डी लोगों को चाहिए कि वे मुहपत्ति हाथ में रखने की नई प्रणाली का परित्याग कर दें।

दण्डीजी! यह तुम्हारा लिखना पूर्ण अनसमझ का है क्योंकि ऐसे कौन श्वे० स्था० जैन साधु हैं जो द्विदल में तत्काल जीवोत्पत्ति कहेंगे और फिर उसे खावेंगे कभी नहीं, तत्काल जीवोत्पत्ती द्विदल में होती ही नहीं है और यों तो पांच दस दिन के बने हुए द्विदल में ही क्या बहुत सी चीजों में त्रस जीव पैदा हो जाते हैं देखो लाल मीरची, बेसवार, निमक, चावल, चून आदि सैकड़ों में त्रस जीव पैदा हो जाते हैं।

दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन साधु तो बाईस ही अभक्ष क्या मैं कहीं अभक्ष पदार्थ मानते हैं ससार में भोज्य पदार्थ तो बहुत कम हैं और जो खाये नहीं जाय वे सब अभक्ष ही हैं यहा इसका विस्तृत वर्णन कर पाठकों का समय व्यर्थ लेना नही चाहते। पाठक स्वय सोचें।

आगे चल उसी पेरे में दण्डीजी लिखते हैं कि —

"ढूंढिये कहते हैं कि द्विदल में हमको प्रत्यक्ष जीव बतलाओ।

दण्डीजी! यह लिखना भी तुम्हारा हठाग्रह का है। क्योंकि द्विदल में तत्काल जीव होते ही नहीं तो फिर कौन श्वे० स्था० जैन साधु द्विदल में जीव देखने के लिये कहते होंगे? केवल ईर्षा वश तुमने मूर्खों की तरह चाहे जो लिख मारने और पोथे रगने में ही बहादुरी समझ रक्खी है?

दण्डीजी फिर तुम कहते हो कि जैसे पाँच स्थावर समुर्च्छिम निगोद आदि में जीव असख्य व अनन्त ज्ञानियों ने कहे पर दृष्टिगोचर नहीं होते, केवल ज्ञानी के वचन पर श्रद्धा रख कर माने जाते हैं उसी प्रकार द्विदल में भी ज्ञानी महाराज ने जीव उत्पन्न होने का कहा है।

दण्डीजी ! स्थावर और समुर्च्छिम जीवों को देख नहीं सकते । ज्ञानी तीर्थंकरों के कहने से मानते हैं यह बात बिलकुल सही है । परन्तु पाँच स्थावर समुर्च्छिम मे जीव होना तीर्थंकरो ने सूत्रो में फरमाया उसी प्रकार किसी ज्ञानी या तीर्थंकर ने बत्तीस सूत्रों में यह नहीं फरमाया कि द्विदल में तत्काल ही जीव पैदा होते हैं तब दण्डी लोगों के ज्ञानी महाराज कौन ? क्या वे मनगढन्त लिख मारते हैं या स्वयं ज्ञानी हैं ? यदि सचमुच कलयुग के ज्ञानी भी हो तो हम उनका स्वागत करने को तैयार नहीं है भले ही दण्डी लोग इसे प्रमाण भूत मानें । श्वे० स्था० जैन साधु तो मन कल्पना से कहने वाले ही समझेंगे ।

२९—दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढिये साधु लोग मकान के मालिक का घर शय्यातर न करते हुए मकान मे ठहरने की आज्ञा देने वाले नौकर या पाडोसी आदि अन्य का घर शय्यातर करके मकान के मालिक के घर का आहारादि लेते हैं यह सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है ।"

दण्डीजी यह भी लिखना तुम्हारा अविवेकता का है क्योंकि जैन शास्त्रों में मकान मालिक की तथा जिसके अधिकार में हो उसकी आज्ञा लेने का उल्लेख है । देखो रायपसेणी सूत्र में प्रदेशी राजा के प्रसंग पर" चित्तजी प्रधान ने सरकारी बागवान से कहा कि नंगे [illegible] चलने वाले और मुंह पर मुख वस्त्रिका बाँधने वाले [illegible] रखने वाले हाथ में पात्र लिए हुए ५०० मुनि के [illegible] श्रमण मुनि यहा पधारने वाले हैं [illegible] आज्ञा तथा पाट पाटले सथारे [illegible] मुझे इत्तला देना तब बागवान ने [illegible] ।

देखिये दण्डीजी ! [illegible] भी श्री केशी श्रमण ने बागवान [illegible] बागवान के आधीन [illegible]

द्वारिका नगरी के बाहर श्री कृष्णचन्द्र महाराज के बाग में बागवान की आज्ञा से श्री नेमिनाथ भगवान् ठहरे थे। तत्पश्चात् उन्हीं नेमिनाथ भगवान् के शिष्यों में से छ अणगार दो २ के तीन सिंघाड़े से श्रीकृष्ण चन्द्र महाराज की माता देवकी रानी के यहां बहरने गये थे। अब दण्डी लोगों में बुद्धि हो तो सोचें कि श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की आज्ञा होती तो छ' अणगार देवकीजी के यहा बहरने क्यों जाते? ऐसे बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं। इनसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि मकान वाले की अथवा मकान जिसके सुपुर्दगी में हो उसकी आज्ञा लेकर मकान में मुनि ठहर सकते हैं। और जिसकी आज्ञा है उसके घर का जब तक श्वे० स्था० जैन साधु उस मकान में ठहरेंगे, भोजन आदि नहीं लेंगे।

पुन देखिये दण्डीजी! जैसे कि तुम्हारे गुरु कृपाचन्द्र सूरि ने स० १९७८ का चातुर्मास रतलाम में कोटे वाले केशरीसिंहजी के मकान में किया था, और तुम गौचरी केशरीसिंहजी के यहा जाते थे तो कहिये जिसका मकान था उसकी आज्ञा क्यों नहीं ली? यदि ली तो तुम्हारे कथनानुसार तुमने केशरीसिंहजी के यहा से सदोषी आहार लाकर क्यों खाया? क्योंकि मकान वाले का भोजन लेने में तुम खुद लिख रहे हो कि "एक नौकर का घर सैव्यावर करके खुद मालिक के घर का आहारादि लेने से दृष्टि राग से छ काया की हिंसा वाला सदोष आहार मिलता है" इस लेख से तुम दण्डी लोग ही सदोषी आहार करने वाले सिद्ध हुए।

दण्डीजी! कहते तो हो कि मकान वाले का आहार लेना सदोषी है और फिर लेते जाते हो यह तुम्हारी ठगबाजी नहीं तो और क्या है?

३०—दण्डीजी! लिखते हैं कि "ढु ढिये साधु साध्वियों के खास ठहरने के लिये स्थानक बनाने में आता है।"

दण्डीजी का यह लिखना भी ऐसा ही थोथा और नापायेदार है जैसे ऊधर में हवा के बल से इधर उधर उडती रहने वाली चीजें क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधु लोग अपने निमित्त का भोजन तक जब किसी के यहा से ग्रहण नहीं करते, तब उनके निमित्त बनाये हुए मकान में वे कैसे ठहर सकेंगे। विचारवान् पाठक इस का स्वय विचार करें। अजी दण्डीजी! उस मकान में जाकर ठहरना, तो बडे ही दूर की बात है। अभी तो उस में पैर तक धरना भी हम पाप, मूलक समझते हैं।

दण्डीजी फिर आगे लिखते हैं, "स्थानक में ठहरने के कारण से ही 'स्थानक वासी' नाम प्रसिद्ध है"।

दण्डीजी! क्यों ईर्षा, द्वेष और, अशातना को बगल में दबाये बैठे हैं! निकाल फेंकिये न इनको परे। आपके पास तो आपका आज के लाठी-राज का जबर्दस्त अस्त्र दण्डा ही काफी है! दण्डी जी! आप तो शायद किसी स्थान में न रह कर ऊधर में ही लटके रहते होंगे? या ससार के छोटे से छोटे प्राणी से लगा कर बडे से बडे प्राणी तक, सभी जगल में ही जाकर डेरा डालते होंगे? नहीं भूल गया। वे आकाश में इधर से उधर और उधर से इधर दण्ड पेलते रहते होंगे। महाराज! किसी प्राथमिक पाठशाला में जाकर 'स्थान' शब्द का अर्थ पहिले पढ लीजिये। तब उसकी नुक्ताचीनी कीजियेगा। सभी प्राणी किसी न किसी स्थान ही में रहते हैं और रहते आये हैं। आज आपके सामने यह कोई हौवा-कौवा की अनो, खी बात नहीं है। फिर चाहे वे प्राणी स्थलचारी हों या जलचारी, या गगन मण्डल ही में घूमने वाले क्यों न हों। सब के रहने केलिये उनका अपना कोई स्थान ही होता है। फिर 'स्थानक वासी' होने

द्वारिका नगरी के बाहर श्री कृष्णचन्द्र महाराज के बाग में बागवान की आज्ञा से श्री नेमिनाथ भगवान् ठहरे थे। तत्पश्चात् उन्हीं नेमिनाथ भगवान् के शिष्यों में से छ अणगार दो २ के तीन सिंघाड़े से श्रीकृष्ण चन्द्र महाराज की माता देवकी रानी के यहां बहरने गये थे। अब दण्डी लोगों में बुद्धि हो तो सोचें कि श्रीकृष्णचन्द्र महाराज की आज्ञा होती तो छ अणगार देवकीजी के यहां बहरने क्यों जाते? ऐसे बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं। इनसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि मकान वाले की तथा मकान जिसके सुपुर्दगी में हो उसकी आज्ञा लेकर मकान में मुनि ठहर सकते हैं। और जिसकी आज्ञा है उसके घर का जब तक श्वे० स्था० जैन साधु उस मकान में ठहरेंगे, भोजन आदि नहीं लेंगे।

पुन देखिये दण्डीजी! जैसे कि तुम्हारे गुरु कृपाचन्द्र सूरि ने स० १९७८ का चातुर्मास रतलाम में कोटे वाले केशरीसिंहजी के मकान में किया था, और तुम गौचरी केशरीसिंहजी के यहां जाते थे तो कहिये जिसका मकान था उसकी आज्ञा क्यों नहीं ली? यदि ली तो तुम्हारे कथनानुसार तुमने केशरीसिंहजी के यहां से सदोषी आहार लाकर क्यों खाया? क्योंकि मकान वाले का भोजन लेने में तुम खुद लिख रहे हो कि "एक नौकर का घर सैय्यातर करके खुद मालिक के घर का आहा-रादि लेने से दृष्टि राग से छ काया की हिंसा वाला सदोष आहार मिलता है" इस लेख से तुम दण्डी लोग ही सदोषी आहार करने वाले सिद्ध हुए।

दण्डीजी! कहते तो हो कि मकान वाले का आहार लेना सदोषी है और फिर लेते जाते हो यह तुम्हारी ठगबाजी नहीं तो और क्या है?

३०—दण्डीजी! लिखते हैं कि "ढुंढिये साधु साध्वियों के खास ठहरने के लिये स्थानक बनाने में आता है।"

में ठहरें या किसी कोठी में, अथवा किसी पुस्तकालय में ठहरे या हवेली में, तब भी उन्हें किसी भी स्थान में ठहरने के कारण ही, "स्थानकवासी" नाम से पुकारेंगे।

आगे दण्डीजी लिखते हैं "ढुंढिये साधू लहसुन, कांदे, आदि अनन्त-काय कन्दमूलों की चटनी वगैरह लेकर खाते हैं।"

दण्डीजी ? पहले किसी सद्गुरु के पास जाकर शास्त्र अध्ययन तो कीजिये ! आपके धर्म की आमना को तो समझिये !! देखिये, श्वे० स्था० साधु सचित कन्द मूल की शाक व चटनी आदि न कभी लेते ही हैं, और न कभी खाते ही हैं। परन्तु हाँ, अचित्त कन्द मूल की शाक वगैरह को ग्रहण करने में साधुओं के लिये कोई दोष नहीं है। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र के तृतीय अध्याय की सातवीं गाथा के तीसरे चरण में स्वयं श्री भगवान् ने फर्माया है —

"कन्दमूले य सच्चित्ते।"

अर्थात्—यदि कन्दमूल का सर्वथा जैनागमों में कहीं निषेध होता तो यहाँ "सचित्त" शब्द का उल्लेख कभी भी देखने को नहीं मिलता। इस से मन्द से मन्द बुद्धिवाला भी यह समझ जायगा कि जैन-साधुओं को, अचित कन्दमूल की शाक चटनी आदि को खाने में शास्त्रीय रूप से कोई भी आपत्ति अथवा, दोष नहीं है। फिर, सचित शाक आदि को तो छूने तक में श्वे० स्था० जैन साधू लोग पाप देखते हैं। तब उनका खाना तो कोसों दूर की बात रही।

आगे चल कर, दण्डीजी ने अपने ही प्रस्तुत विषय के विरोध में, कन्द मूल की शाक साधुओं को लेने की बात यों कहदी है, कि "साधु को यदि कभी कन्दमूल की कोई शाक, आदि मिले

का यह सेहरा अकेले श्वे० स्था० जैन साधुओं ही के सिर कन्धों पर क्यों लादा जाता है! उन्हें भी स्थानकवासी कहिये न! दण्डीजी! बात तो दर असल में यह है कि हम लोग साधु होकर भी, बस्तियों में रहने के कारण ही स्थानकवासी कहलाते हैं।

दण्डीजी! यदि इतने पर भी आपके दिल को तसल्ली न हुई हो तो जरा हमारे साथ आप और आईये! और देखिये! "मन्दिर मार्गी" कहने से क्या गृहस्थ सदा और सब काल एक मात्र मन्दिर ही का मार्ग नापे बैठते हैं? क्या वे हमेशा मन्दिर ही की ओर जाते रहते हैं? यदि ऐसा नहीं है तो फिर आप सरीखे अगाध (?) पण्डित, अपनी देन दुर्लभ विद्या के बल उन्हें मन्दिर मार्गी क्यों कहते हैं? यदि आप कहेंगे, कि सब दुनिया ही उन्हें ऐसा कहती है। तब हम आप से फिर पूछेंगे कि महाराज! दुनियाँ कहती है; तो कहने दीजिये। फिर यदि आप दुनिया की बात कहने लगेंगे तो बताईये कि आपने दुनियां को अपने पीछे चलाने के लिये दण्ड धारण किया है, या दुनियां के पीछे पीछे चलने के लिये आप ने अपने हाथों सोटा पकड़ा है! कहिये आप इन दोनों में से कौन हैं? कोई भी मनुष्य साधु है या असाधु अथवा गृहस्थी है या सन्यासी, उसके कामों ही से अकसर पहचान लिया जाता है। या यूं कहो, कि मनुष्य के कामों पर उसके अन्तः-करण, बुद्धि, व्यवसाय, सुसगति या कुसगति की छाप लगी रहती है। तब तो आपकी सफेद करणी और तरह तरह के कामों का अवलोकन कर, आपके न बताने पर भी; संसार आप की जाति को अवश्य पहचान जायगा, कि आप संसार के पीछे हैं, या संसार आपका अनुयायी है! अस्तु। जैसे यहां मार्गी का अर्थ मार्ग में जाने वाला, या राहगीर या मुसाफिर न करते हुये, मतावलम्बी या सम्प्रदाया नुयायी ऐसा करेंगे, वैसे ही श्वे० स्था० जैन साधु; चाहे कभी बाग

एक मात्र उनका चिर सघाती है । परन्तु आप अपनी इस बेलगाम जबान को ज़रा सँभाल कर बोल निकालने को कह दीजिये, नहीं तो इसके पापों का प्रायश्चित्त बेचारे सिर को करना पड़ता है । जैसे, किसी ने कहा भी है—

जबान। बड़ी तू बावरी, उगले झाड़-- भंखार।
तू तो भीतर बैठती, जूते खाय कपार ॥

आगे चलकर, दण्डीजी इसी परिलेख में फिर यों लिखते हैं—"ढूढ़िये साधु तो प्राय -करके माहेश्वरी, अग्रवाल, दिगम्बर, श्रावगी, आदि उत्तम जाति के बहीन घरों को बीच में छोड़कर, अपने परिचयवाले रागी भक्तों के घरों में गोचरी जाते हैं।

प्रिय पाठकों! दण्डीजी का यह लिखना कितना असगत और असत्य है ? यह बात तो प्राय आप में से प्रत्येक सज्जन भली प्रकार जानता होगा, कि श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु प्रत्येक उत्तम आचरण वाले के घर गोचरी के लिये जाते हैं। चाहे फिर वह घर किसी श्रावक, या ओसवाल का हो या माहेश्वरी या ब्राह्मण का हो, अथवा अग्रवाल, पोरवाल क्षत्रिय, आदि में से किसीका भी न क्यों हो। इतने पर भी दण्डीजी को यदि हमारे कथन का विश्वास न बधे, तो हाथ कगन को आरसी की आवश्यकता ही क्या है। वे स्वयं ही जाकर किसी तटस्थ के तीसरे आदमी से क्यों नहीं पूछ लेते। हमारा तो विश्वास है, आप दण्ड-धारियों को वहां से सीधा यही उत्तर मिलेगा कि श्वे० स्था० साधुओं को तो हमने उन घरों में अनेकों बार गोचरी के लिए जाते आते देखा है, पर इन

जावे, तो उसको निर्ममत्वभाव से ग्रहण करने में उसे कोई दोष नहीं है।"

धन्य दण्डीजी! जिधर भी चाहें, अपने स्वार्थ-को सिद्ध करने के लिये घूम जाइये। चारों कोनों में आप ही का साम्राज्य है। आपतो आखें बन्द करके जो चाहें सो, उन वैद्यों की भाँति खुल दिल करते जाइये जो "मरणान्तक रोगियों" तक से धन छीन झपट कर उससे अपनी जेबों को लबालब भरना ही अपना कर्तव्य और एक मात्र अपना धर्म समझते हैं, और जिनका सिद्धान्त रहता है, कि—

यस्य कस्य तरोमूलं तेन केन समन्वितं।
यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति॥

फिर, आपके यह काम, चाहे आपके भक्तों के लिए विघातक ही क्यों न हो!

पाठकों! मनुष्य अपनी ठगबाज़ी को सिद्ध करने के लिये सत्य को चाहे जितना भी छिपाना चाहे, पर सत्य स्वयं प्रकाशमान् है, लाखे सर पटकने पर भी वह कभी छिप नहीं सकता। कभी न कभी, वही छलछन्दी, पुरुष, अपने ही कारनामों द्वारा सत्य को उगल ही देता है। इसी प्रकार दण्डीजी ने पहले तो, अचित कन्दमूल, की शाक आदि का साधुओं के लिये निषेध बतला दिया, और फिर बेचारे दो कदम भी मुश्किल से चल पाये होंगे, कि चट अपने चमड़े की बेलगाम जबान को इधर से उधर उलट पलट कर उसी से कह दिया, कि "लेने में कोई-दोष नहीं।" दण्डीजी! साधु लोग तो, किसी भी वस्तु के लेने-देने में निर्ममत्व भाव ही को सदा और सर्वदा काम में लाते रहते हैं। जगत् के सम्पूर्ण कामों में यह निर्ममत्व भाव ही

एक मात्र उनका चिर साथी है। परन्तु आप अपनी इस बेलगाम जबान को, जरा सँभाल कर बोल निकालने को कह दीजिये, नहीं तो इसके पापों का प्रायश्चित्त, बेचारे सिर को करना पड़ता है। जैसे, किसी ने कहा भी है—

जबान। बड़ी तू बावरी, उगले झाड़—झँखार।
तू तो भीतर बैठती, जूते खाय कपार॥

आगे चलकर, दण्डीजी इसी परिच्छेद में फिर यों लिखते हैं—"ढूंढ़िये साधु तो प्राय करके माहेश्वरी, अग्रवाल, दिगम्बर, श्रावगी, आदि उत्तम जाति के बड़ीन घरों को बीच में छोड़कर, अपने परिचयवाले रागी भक्तों के घरों में गोचरी जाते हैं।

प्रिय पाठकों! दण्डीजी का यह लिखना कितना असगत और असत्य है। यह बात तो प्राय आप में से प्रत्येक सज्जन भली प्रकार जानता होगा, कि श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन साधु प्रत्येक उत्तम आचरण वाले के घर गोचरी के लिये जाते हैं। चाहे फिर वह घर किसी श्रावक, या ओसवाल का हो या माहेश्वरी या ब्राह्मण का हो, अथवा अग्रवाल, पोरवाल क्षत्रिय, आदि में से किसीका भी न क्यों हो। इतने पर भी दण्डीजी को यदि हमारे कथन का विश्वास न बधे, तो हाथ कंगन को आरसी की आवश्यकता ही क्या है। वे स्वयं ही जाकर किसी तटस्थ के तीसरे आदमी से क्यों नहीं पूछ लेते। हमारा तो विश्वास है, आप दण्ड-धारियों को वहा से सीधा यही उत्तर मिलेगा कि श्वे० स्था० साधुओं को तो हमने उन घरों में अनेकों बार गोचरी के लिए जाते आते देखा है, पर इन

पीत वस्त्र धारियों को तो प्राय' कभी नहीं देखा–सुना। दण्डीजी! यह तो "उलटा चोर कोटवालको डाँटे" वाला काम आप कर रहे हो। जाते तो आप नहीं हैं और बदनाम हमको करते हैं। वाह! धन्यवाद!! पाठकों! गर्मी ही गरमी को काटती है, विष से ही विष का नाश किया जाता है, घर के डँडे ही से आख फूटती है, आदि आदि–बातों के नाते, दण्डीजी बेचारे चलते तो हैं दूसरों में दोष देखने और उनको जग–जाहिर करने! परन्तु पासा पड़ जाता है औंधा और उलटा उनके उन्हीं कामों से उन्हीं के दोषों का भण्डाफूट हो जाता है, उन्हीं के काले कारनामें जग जाहिर हो जाते हैं। तब तो बेचारे दण्डीजी को मन मसोस के रह जाना पड़ता है।

पाठकों! एक बात यहां हम कहना भूल गये थे। देखिये, जब दण्डी लोग विहार करते हैं, तो वे अकसर अपने साथ भोजन बनाने एक आदमी को रखते हैं, और उसके हाथ से, स्वय दण्डीजी के निमित्त बनाये गये चूरमा, बाटी, दाल, शाक चटनी आदि को, गरमा गरम रूप में, वे ग्रहण करते हैं। परन्तु रास्ते में पड़ने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, माहेश्वरी, अग्रवाल, ओसवाल आदि के घर, गोचरी को आप जाते हुए अनेकों बार नहीं देखे सुने जाते। यह क्यों? क्या, वे अग्रवाल, माहेश्वरी, ब्राह्मणादि जातियों के लोग इन दण्डियों को भोजन नहीं देते। यदि देते हैं, तो फिर, वीर भगवान की आज्ञा के प्रतिकूल चलकर, आधाकर्मी आहार, उस साथ वाले आदमी से ये क्यों ग्रहण करते हैं? बस, इसका एक ही और एक मात्र उत्तर यही हो सका है, कि इन दण्डियों की जबान, चट्टी होगई है, वह लड्डुओं के लिये

लार टपकाती है। इसलिये तो रसोई की रचना साथ में की जाती है। नहीं तो, अपने शरीर को सड-मुसुन्ड बनाने के लिए, बिना भाव से दिए हुए, सूखे-लूखे भोजन को, इन घरों से बहा लाने की दूसरी वजह ही और कोनसी हो सकी है? परन्तु विपरीत इसके, श्वे० स्था० साधु लोग, साथ वाले आदमी से कभी भूल कर भी—और घोर से घोर फाकाकसी का मौका आ पडने पर भी, भोजन नहीं लेते। रास्ते के उच्च वंशीय गृहस्थियों के यहां से, "भाव, कुभाव, अनख, आलस किसी भी रूप से और सूखा-लूखा कैसा ही भोजन, जो भी समय पर मिल जाय, लेते हुए जगत् और अपने जीवन के मार्गों का तै करते रहना, यही उन का अपना नित्य का नियम है। अस्तु! दण्डीजी! शरीर को पुष्ट करने के पीछे, व्यर्थ ही देव दुर्लभ इस नर-जन्म को नष्ट न कीजिये। अन्यथा "चौबेजी गये तो छब्बे बनने को थे और अन्त में रहगये दुबे ही" की कहावत के अनुसार, दुनिया को छोड़ी तो थी आत्म बोध आत्म-कल्याण का प्राप्ति के लिए, और कहीं फँस पड़े उलटे दूसरे ही रास्ते में! क्योंकि,

पातो पत्ती खायँ जो, उन्हें सतावे काम।
नित प्रति लड्डुवा निगलते, उनकी जाने राम॥

दो तीन पंकियां आगे चल कर, दण्डीजी को कन्दमूल की फिर दुबारा स्मृति हो आती है। तब इस बार वे यों उगलने लगते हैं, कि—

"खास-ममत्व-भाव से, लोभ दशा से, अपनी जीभ के स्वाद के लिए, शरीर की पुष्टि के लिये, अधिक खाने के लिये, और

प्रत्यक्ष ही संयोजना नामक दोष का सेवन करने के लिए कन्दमूल की शाक व लहसुन, कांदे की चटनी आदि लेते हैं। यह सर्वथा जिनाज्ञा के विरुद्ध है।"

दण्डीजी को कुछ ही दूर पीछे तो, हम इस बात के लिये दो दो बातें कह ही आये हैं। परन्तु अभी उनका मनस्तोष, जैसा कि उनकी बार बार की याददाश्त कह रही है, नहीं हुआ। यही जान कर दो चार बातें उन्हें इनके सम्बन्ध में और नम्रता-पूर्वक कहे देते हैं। दण्डीजी! क्यों, दुरंगी चालें चलते हैं! महाराज! श्वे० स्था० साधु न तो स्वाद ही के लिये खाते हैं, न शरीर की पुष्टि का ही कोई ध्यान कभी उन्हें है, और न रोटियों के अधिक खाने ही के लिए, वे अचित्त कन्दमूल की शाक व चटनी आदि का व्यवहार करते हैं। तब, अपने शेष कर्मों का क्षय करने के लिए, जीवन के शेष दिनों में, सूखी-लूखी, समय पर जैसी भी मिलजायँ, रोटियों का संयम-पूर्वक सेवन कर, अपनी जबान के स्वाद के लिए संयोजना दोष की प्राप्ति उन्हें कैसे हो सकती है? विचारवान् पाठक इस बात को जरा ध्यान देकर सोचें समझें।

दण्डीजी की अक्ल उनके सोटे से शायद शठिया गई है, या उनके दण्डे के डरसे डर कर कहीं बेचारी चरने चली गई है! अभी अभी थोड़ा ही पहले, दण्डीजी ने कन्दमूल की शाक आदि का ग्रहण करना साधुओं के लिए सदोष बतलाया था, फिर, लेना बतला दिया और अब तो, लेना, फिर जिनाज्ञा के सर्वथा विरुद्ध कह दिया। ये बिना पेंदे के लोटे की भांति जिधर चम्य, उधर हम के सिद्धान्तानुसार पल पल में चित-पुट होने की चालें कैसी? फिर अचित्त कन्दमूल की शाक, आदि को ग्रहण करने के लिए, साधुओं को श्री भगवान् ने किसी भी सूत्र में निषेध नहीं बतलाया है

है। परन्तु दण्डी लोग बिना ही किसी कारण के, अपनी दुराग्रह बुद्धि से पकडी हुई टेक को न छोडने के लिए भगवदाज्ञा के विरुद्ध, अपने मन-घडन्त विचारों को, भोली-भाली जनता के सामने, उसे अपना माया-जाल में फंसाने के लिये, रखते रहते हैं और यों वे अचित कन्दमूल की शाक आदि को न ग्रहण करने की बात कह कर, उत्सूत्र—प्ररूपणा के दोष से भी दूषित होते जारहे हैं।

दण्डीजी को रह रह कर याद आती जाती है इस वार वे कहते हैं, "कन्दमूल की वस्तु लेकर खाने का ठहराना अनन्त जीवों की घात का हेतु है।"

दण्डीजी का यह लिखना भी सिवाय उनके भव-भ्रमण के हेतु के और कुछ नहीं। क्यों कि, जब अचित कन्दमूल की शाक लेना अनन्त जीवों की घात का हेतु है, तब फिर वीर प्रभु ने सचित कन्दमूलों की बनी वस्तुओं ही का कोरा निषेध क्यों किया? यदि बात ऐसी ही थी, तो क्या नहीं, उन्होंने सचित और अचित दोनों ही प्रकार के कन्दमूलों की वस्तुओं का निषेध कर दिया होता? स्व-रचित सूत्रों में केवल सचित कन्दमूलों की वस्तुओं ही का निषेध किया, पर अचित का जरा भी कहीं कोई जिक्र तक नहीं किया। दण्डीजी! उठाइये दण्डा! और कह दीजिये! कि "साधारण मनुष्यों की भांति भगवान् भी इस समय इस जगह, भारी भूल कर गये।" यह तो आपके घर-आँगन ही की बात है। दण्डीजी! क्यों नहीं चुप्पी साधकर बैठे रहते! क्यों, जगत् को अपनी जड़ता का परिचय कराते हैं।

आगे चलते चलते, दण्डीजी फिर कह बैठते हैं, "ढूंढियों के श्रावक समाज में प्रायः सैकडा पचानवे टका लोग कन्दमूल

खाने वाले होंगे और सवेगी श्रावकों में प्रायः सैकड़ा पचानवे टका लोगों ने कन्दमूल खाना छोड़ दिया।'

दण्डीजी! कहना भूलगये। कोई बात नहीं! चमड़े की ज़बान है: तो अन्त में है! बात बिलकुल औंधी होगई। पर लाचारी है! आप भी क्या करें! जबान से एक बार निकल गई, सो निकल गई! इतने पर भी यदि आप न माने और न सुने, तो प्रमाण देकर बतलावे। अच्छा लीजिये, प्रमाण सही, दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन श्रावक समाज में, साधु लोग हर जगह और हर समय, उन्हें इस बात का और सकारण सप्रमाण ठोस उपदेश देते रहते हैं, कि अकेले कन्दमूल ही क्या, हरियाली मात्र श्रावक को कभी न खाना चाहिये; आदि आदि। जिसका प्रत्यक्ष और स्थायी परिणाम यह होता है, कि रोज के ऐसे उपदेशों की रगड़पट्टी से, ऊपर कही हुई बातों के दोषों का जीता जागता रूप उनके सामने आखड़ा होता है। तब तो कन्दमूल ही क्या, सब्जी भाजी का अधिकांश श्रावक भाई सदा के लिये त्याग कर देते हैं। इसी प्रकार, रात्रि भोजन के विषय में भी वे बहुतायत से त्याग करते देखे, सुने जाते हैं। रात्रि भोजन के सम्बन्ध में श्वे० स्था० जैन श्रावक बन्धुओं का त्याग, तो सराहनीय और उनके धर्मानुसार है ही, इस में कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु उनसे उन अन्यमती बन्धुओं का त्याग भी, इस सम्बन्ध में किसी क़दर कम नहीं है, जो समय समय पर श्वे० स्था० जैन साधुओं के सदुपदेशों से लाभ उठाते रहते हैं। अब विपरीत इस के आप सवेगियों के श्रावक समाज में, आप दण्डी लोग जहां तहां प्रायः उन्हें यही उपदेश देते देखे और सुने जाते हैं, कि "अमुक जगह अमुक मन्दिर गिर गया है, उसका जीर्णोद्धार करो; फलां मन्दिर की पूजा की व्यवस्था ठीक नहीं होने से, वहा के पुजारी ने

मन्दिर की अमुक अमुक चीजें गायब करदीं, उसकी पूजा का प्रबन्ध ठीक करो, संघ निकालो, यात्रा करो; आज की रथ—यात्रा में श्रावकों की ये ये बातें बडी ही दिलचस्पी की थी, आदि ।" पाठक-गए । अब न्याय-पूर्वक आप ही इस बात का निर्णय करें, कि श्वे० स्था० श्रावक-समाजमें कन्दमूल और सब्जी के सेवक अधिक पाये जावेंगे, या संवेगियों का श्रावक समाज कन्दमूल और सब्जी का अधिकाश रूप में उपयोग करते आपको मिलेगा ?

दण्डीजी ! यदि इच्छा हो तो हमारे प्रमाण की एक बानगी और भी चख लीजिये ! देखिये, कुछ समय के पहले जब हम एक बार गोडवाड में विचरण कर रहे थे, तब वहा के अनेकों पुजेरों अर्थात् मन्दिरमार्गियों गृहस्थियों के घरों में जहा तहा कादे के भरे हुए टोकरों को हमने देखा था । उन में से कई भाईयों को, समय असमय हमने बहुत कुछ कहा सुना भी था । कादा का व्यापार न करने और उन का अपने भोजन आदि में व्यवहार न करने के लिए भी हमने उन्हें समझाया था परन्तु हमारे प्रश्न के उत्तरमें उन्होंने नम्रता-पूर्वक यह कहा कि "महाराज मालवे के गृहस्थ यदि इनका उपयोग करना छोडदें, तो हम भी इनके व्यवहार का सदा के लिए बहिष्कार करदें ।" इससे यही सिद्ध हुआ, कि संवेगियों के श्रावक समाज में कन्दमूल का जोरों से प्रचार और प्रसार है ।

दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन साधु लोग तो, समय पर जैसा तैसा सूखा-लूका आहार उन्हें मिल जाता है, उसी को खाकर अपने संयम का निर्वाह करते रहते हैं । यदि यह भी उन्हें न मिल पाया, तो केवल भुने हुए चने और गेंहू या जौ के आटे ही को पानी में घोलकर पी लेते हैं और उसी से अपने पेट की आग को शान्त कर देते हैं । इस बात को प्राय सभी लोग जानते हैं । यदि यह भी कहीं नसीब न हो, तो उपवास व्रत आदि ही के ऊपर सन्तोष कर जाते

खाने वाले होंगे और सवेगी श्रावकों में प्रायः सैकडा पचानवे टका लोगों ने कन्दमूल खाना छोड दिया।"

दण्डीजी! कहना भूलगये। कोई बात नही! चमड़े की जबान ही तो अन्त में है! बात बिलकुल श्रोंधी होगई। पर लाचारी है! आप भी क्या करें! जबान से एक बार निकल गई, सो निकल गई! इतने पर भी यदि आप न माने और न सुने, तो प्रमाण देकर बतलावे। अच्छा लीजिये, प्रमाण सही, दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन श्रावक समाज में, साधु लोग हर जगह और हर समय, उन्हें इस बात का और सकारण सप्रमाण ठोंस उपदेश देते रहते हैं, कि अकेले कन्दमूल ही क्या, हरियाली मात्र श्रावक को कभी न खाना चाहिये, आदि आदि। जिसका प्रत्यक्ष और स्थायी परिणाम यह होता है, कि रोज के ऐसे उपदेशों की रगउपट्टी से, ऊपर कही हुई बातों के दोषों का जीता जागता रूप उनके सामने आखडा होता है। तब तो कन्दमूल ही क्या, सब्जी मात्र का अधिकांश श्रावक भाई सदा के लिये त्याग कर देते हैं। इसी प्रकार, रात्रि भोजन के विषय में भी वे बहुतायत से त्याग करते देखे, सुने जाते हैं। रात्रि भोजन के सम्बन्ध में श्वे० स्था० जैन श्रावक बन्धुओं का त्याग तो सराहनीय और उनके धर्मानुसार है ही, इस में कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु उनसे उन अन्यमती बन्धुओं का त्याग भी, इस सम्बन्ध में किसी कदर कम नहीं है, जो समय समय पर श्वे० स्था० जैन साधुओं के सदुपदेशों से लाभ उठाते रहते हैं। अब विपरीत इस के आप सवेगियों के श्रावक समाज में, आप दण्डी लोग जहा तहां प्रायः उन्हें यही उपदेश देते देखे और सुने जाते हैं, कि "अमुक जगह अमुक मन्दिर गिर गया है, उसका जीर्णोद्धार करो, फलाँ मन्दिर की पूजा की व्यवस्था ठीक नहीं होने से, वहा के पुजारी ने

मन्दिर की अमुक अमुक चीजें गायब करदीं; उसकी पूजा का प्रबन्ध ठीक करो, संघ निकालो, यात्रा करो; आज की रथ—यात्रा में श्रावकों की ये ये बातें बड़ी ही दिलचस्पी की थी, आदि।" पाठक-गण। अब न्याय-पूर्वक आप ही इस बात का निर्णय करें, कि श्वे० स्था० श्रावक-समाजमें कन्दमूल और सब्ज़ी के सेवक अधिक पाये जावेंगे, या संवेगियों का श्रावक समाज कन्दमूल और सब्ज़ी का अधिकांश रूप में उपयोग करते आपको मिलेगा ?

दण्डीजी! यदि इच्छा हो तो हमारे प्रमाण की एक बानगी और भी चख लीजिये। देखिये, कुछ समय के पहले जब हम एक बार गोडवाड़ में विचरण कर रहे थे, तब वहां के अनेकों पुजेरों अर्थात् मन्दिरमार्गियों गृहस्थियों के घरों में जहां तहां कांदे के भरे हुए टोकरों को हमने देखा था। उन में से कई भाईयों को, समय असमय हमने बहुत कुछ कहा सुना भी था। कांदा का व्यापार न करने और उन का अपने भोजन आदि में व्यवहार न करने के लिए भी हमने उन्हें समझाया था परन्तु हमारे प्रश्न के उत्तरमें उन्होंने नम्रता-पूर्वक यह कहा कि "महाराज मालवे के गृहस्थ यदि इनका उपयोग करना छोड़दें, तो हम भी इनके व्यवहार का सदा के लिए बहिष्कार करदें।" इससे यही सिद्ध हुआ, कि संवेगियों के श्रावक समाज में कन्दमूल का जोरों से प्रचार और प्रसार है।

दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन साधु लोग तो, समय पर जैसा तैसा सूखा-लूखा आहार उन्हें मिल जाता है, उसी को खाकर अपने संयम का निर्वाह करते रहते हैं। यदि यह भी उन्हें न मिल पाया, तो केवल भुने हुए चने और गेहूँ या जौ के आटे ही को पानी में घोलकर पी लेते हैं और उसी से अपने पेट की आग को शान्त कर देते हैं। इस बात को प्राय सभी लोग जानते हैं। यदि यह भी कहीं नसीब न हो, तो उपवास व्रत आदि ही के ऊपर सन्तोष कर जाते

हैं। किन्तु यह निर्विवाद रूप से जग—जाहिर बात है, कि अपनी जबान के स्वाद के लिए भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन वे कभी भूल कर भी नहीं करते और नहीं करेंगे। विपरीत इसके, अब दण्डियों को देखिये। वे अपनी जबान के स्वाद के लिए अचित कन्दमूल की शाक एव चूरमा, बाटी आदि जहाँ तक हो, गरमा गरम स्वाहा करते हैं। और यों वे आधाकर्मी अन्न को ग्रहण करने वाले बनते हैं। कहिये, पाठको ! स्वाद के लोभी अब आप इन सवेगियों को कहेंगे या श्वे० स्था० जैन साधुओं को ?

देखिये, इन्हीं लोगों के माननीय ग्रन्थ 'सज्झाय माला' में, जो भीमसिंह माणक के द्वारा प्रकाशित हुई है, उस के भाग १ पृष्ठ १८७ पर ऐसा कहा गया है, कि—

पेंडा देखा पड़धो काढ़े, पड़ध्या मान करावें।
खाजा चढ़ोगे खात करीने, पूरी ने वोसिरावें॥ १॥

प्रिय पाठको ! ऐसे आधाकर्मी आहार का प्राय नित्य सेवन कर, इन दण्डियों को, फिर भी निर्दोष बने रहने की डींग मारना, कितना भयकर अधर्म है ! दण्डीजी ने बेचारी भोली भाली जनता को तो अपने चकमें का चूर्ण देना सीख ही लिया है, अब मालूम होता है, अपने दण्डे के बल, वे भगवान् के न्याय पर भी, हाथा पाई करने की उधेड़-बुन में लगे हैं। दण्डीजी आगे लिखते हैं, कि" कोई वस्तु निर्दोष होय, तो भी लोक शका करे अने जीव हिंसा का हेतु होवे, अधरम वढे तो वैसी वस्तु साधुको नहीं लेना चाहिये।"

पाठको ! इन दण्डियों की निरक्षता को तो जरा देखिये ! जो वस्तु निर्दोष है, उस के साथ, हिंसा का हेतु एव अधर्म वढे' ऐसे विशेषण ये लगा रहे हैं ! परन्तु दण्डीजी ! विद्वत्-ससार भली प्रकार जानता है, कि ऐसी दो अनमेल बातों का, ऐसे दो

विरोधी विशेषणों का एक ही स्थान पर एकीकरण करना, यह आपकी जड़ बुद्धि का—प्रदर्शन मात्र है। क्यों कि, जो निर्दोष है, वह हिंसा का हेतु एवं अधर्म को बढ़ाने वाला कभी नहीं हो सकता है। इसी तरह जिससे हिंसा का हेतु एवं अधर्म होता हो, वह भी निर्दोष कभी नहीं ठहर सकता। उसे तो सामान्य, बुद्धिवाला भी सदोषी ही कहेगा। और उस सदोषी को, श्वे० स्था० जैन साधु, भगवदाज्ञानुसार लेना तो बहुत ही परे की बात रही, उसे कभी छूते तक नहीं हैं।

दण्डीजी का कहना है, कि "ढूंढिये साधु साध्वी अपनी पूजा मानता के लिए, अपने भक्तों को अपने दर्शन कराने के लिए, खास युक्ति-पूर्वक बैठकर, अपना फोटो उतरवाते हैं।"

दण्डीजी! आपका यह कथन भी ऊपर से नीचे तक एक दम झूठ से भरा हुआ है। क्योंकि, कोई भी श्वे० स्था० जैन साधु अपनी पूजा अथवा मानता के लिए व किसी को दर्शन कराने के लिये अपना फोटो नहीं खिचवाते हैं। वे इस बात का घोर विरोध भी करते हैं। उनका तो कहना है, कि नकली वस्तु को कभी भी असली मानने वाला न तो साधु ही हो सकता है और न वह गृहस्थी श्रावक ही है। देखिये, पुस्तकों में यत्र तत्र जो चित्र दिये जाते हैं, उन में से प्रत्येक के ऊपर, अकसर "चित्र, परिचय के लिए है, वन्दने के लिए नहीं है, ऐसा लिखा रहता है। पाठकों! फोटो की पूजा, मानता आदि के लिये, एक ओर तो, हमारे ये सिद्धान्त, और दूसरी ओर, दण्डीजी के द्वारा व्यर्थ के छिद्रान्वेषण की चेष्टा, कुतर्कन एँ! कहिये, यह उनकी धृष्टता नहीं तो और क्या है? चित्र या फोटो आदि के ऊपर, जो बात हमारी ओर से छपी या लिखी रहती है, बस, वही एक मात्र उत्तर संवेगियों की ओर के फोटो सम्बन्धी सभी प्रश्नों को, निरा निर्मूल कर देने वाला है।

' आगे, उसी परिलेख में दण्डी जी फिर यों लिखते हैं,—उस फोटो को धोने में और साफ करने में बहुत जल ढुलता है, जिससे अपकाय आदि छ काय के असख्य व अनन्त जीवों की हिंसा होती है।"

दण्डीजी का खोपड़ा तो सड़ा हुआ है, परन्तु उस पर अपने दर्दे के एक दो हाथ फिरा कर, अनोखे अनोखे अनेकों प्रकार के राग, उसमें से निकालना तो वे खूब ही जानते हैं। दण्डी लोग अपने सैकड़ों फोटो समय समय पर उतरवाते रहते हैं, इस बात के लिये क्या मन्दिरमार्गी और क्या अन्यमती बन्धु, सभी लोग भलीभांति जानते हैं। तब क्या दण्डियों के फोटो धोकर साफ करने में पानी नहीं ढुलता होगा? दण्डीजी! हम लोग तो कभी भूल चूक कर भी अपना फोटो निकलवाने के लिये कभी नहीं बैठते। पर साधारूप से-बैठे रहने पर, कभी कोई श्रावक या अन्यमती, कोई भाई, अचानक आगे पीछे से आकर, और हमें किसी बात में लगा कर, किसी के द्वारा एक दम, एक सेकन्ड के भीतर ही भीतर, उस स्थान से जहां से हम तो उसे नहीं देख सकते, पर वह हमें देख सकता हो वहाँ से कोई फोटो खिंचवाले तो इसमें हमारा कोई चारा ही क्या है? फिर हमारे उन, इस भांति लिए हुए फोटो से कोई भी विचारशील पाठक अच्छी तरह यह अनुमान लगा सकता है कि सचेत होकर बैठने और फोटो निकलवाने में तथा इस प्रकार अचानक में लिये हुए फोटो में आकाश पाताल का अन्तर होता है। फिर भी ऐसे लिए हमारे फोटो की सख्या प्रतिशत दो एक होती होगी वहाँ आपके द्वारा सचेत बैठकर निकलवाये हुए फोटो की सख्या पचानवे प्रतिशत निकलेगी। आगे हमारी ओर से फोटो या चित्र या मूर्ति आदि की मानता के लिए सख्त मनाई रहती है। इतने पर भी किसी श्रावक ने अज्ञानमयी श्रद्धा के वश हो पानी ढोला भी तो वह आपके फोटो के निमित्त डाले हुए

पानी की अपेक्षा सौवां भाग भी नहीं होता होगा। कहिये दण्डीजी! उससे अपकाय आदि छ काय की जीवों की असख्य रूप से हिंसा होती है, या नहीं? अत पहल आप लोग अपनी ओर से फोटो नहीं उतरवाने की उद्घोषणा कर दें कि आगे अब कभी फोटो नहीं खिचवाये जायगे। पहले होना था सो हो गया, ऐसा प्रतिज्ञा-पत्र प्रकट हो जाने पर ही हम आपकी बात को सच्चा समझेंगे।

आगे चल कर दण्डीजी अपनी तान यों अलापते हैं—"ढूँढ़िये व तेरहपन्थी साधु अपने अपने भक्तों की चौमासे की विनन्ती फागण चैत वैशाख में पहले से ही मान लेत हैं, जिससे ये लोग साधु के ठहरने के और साधु की वन्दना करने का, आने वालो को ठहरने के लिए मकानों को लीपना, झाड़ना, पोताई करवाना, वगैरह स सफाई करवाने में त्रस स्थावर अनन्त जावों की हिंसा करत हैं।"

दण्डीजी का यह लिखना भी उनको समझ का दिवालियापन है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन साधु क निमित्त कोई भी गृहस्थ मकान का लीपना, पोतना झाड़ना वगैरह कभी नहीं करते। जो भी ये काम किय जाते हैं व गृहस्थ अपने निजू सुविधा आदि क लिए करत या करवात हैं। इस म गृहस्थियों का भी यही उद्देश्य रहता है कि सामायिक प्रतिक्रमण पोषध आदि सुगमता क साथ वहाँ बैठकर कर सकें और भली भाँति व्याख्यान आदि भी श्रवण करना बन जाय पर दण्डीजी! श्वे० स्था० श्रावक मकान आदि के झाड़न पोतने आदि को भी पाप ही समझते हैं। उनके यहाँ यह अन्धेर नहीं कि वे इस आरम्भादि कार्य को धर्म ही समझ बैठत हों। वे तो पाप को पाप और धर्म का धर्म हो समझेंगे। दण्डीजी! "दीया तले अन्धेरा" वाल न्याय से आपने औरो का घर तो देख लिया अब जरा आप अपने घर के घर और अपने अनुयायियों को भी तो देख जाइए। देखिये आप स्वयं व आपके अनुयायी गृहस्थ वरघोड़ा, उजमणा, जलयात्रा, तीर्थयात्रा, उपधान, पूजन आदि

में अनेकों घड़े गरम पानी करने में, मन्दिर बनवाने में, उसके सदा भाड़ने व पोतने में, मूर्तियों पर फूलों के चढ़ाने में, भांति भांति की वनस्पति के चढ़ाने में, इसी प्रकार अन्याय अनेकों कार्यों में न मालूम कितने असंख्य त्रस और अनन्त काय जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा करने में सहयोग देते हैं और उसमें भी विशेषता यह है कि प्रत्येक ऊपर के कामों में आप धर्म ही के नाम का ढिंढोरा पीटते हैं। दण्डीजी ! कहीं पता भी है इस अन्धेर का !

अब चातुर्मास की चर्चा के सम्बन्ध में भी दो बातें सुन लीजिये दण्डीजी ! चैत्र वैसाख के प्रथम चौमासे की विनन्ती तो श्वे० स्था० जैन साधु लोग मान लेंगे परन्तु किसी बात का प्रबन्ध करने, करवाने को मुंह से एक बोल भी कभी न बोलेंगे। परन्तु अब आप अपना हिसाब देखिये ! दण्डी लोग तो गृहस्थियों से यहाँ तक सौदा पक्का करवाते हैं कि हमारे चौमासे में अमुक खर्च अमुक रूप से होगा। इतने के लिए तो फलाँ गाम के भाई कह गये हैं। कुछ उनसे अधिक खर्च की हिम्मत करो तो चातुर्मास की विनन्ती के लिए फिर हम विचार करें। अगर विश्वास न हो तो उठाइये दण्डी लोगों के द्वारा विरचित "भिक्षुनामा" और खोलिये उसकी तेरहवीं ढाल ! पन्द्रह से लगा के बीसवीं तक गाथा को पढ़ जाइये !

चौमासा नी विनती, सुणे हो ? बोले स्वामी एम ।
आगेवान कहो कोण छे, बन्दोबस्त हो खर्चनो केम ॥१॥
अमुक गामना श्रावकां, कही गया हो वे चार हजार ।
थोड़ेक अधिकुं तमे करो, पीली पलटणीना हो आवा समाचार
पदवी देवा पन्यासनी, करावेवा हो ! साधु ने योग ।
लहियां पण्डित चार छे, बे त्रण हा ! मजुरीया लोक ॥२॥

कोइक पुस्तक मँगववा, लखाव वा हो। सूत्र बे चार।
प्टिम पीप्टम आशरो, खरच हो। थते आठ दश हजार ॥४॥
चोमासानी पेदाश ने गृहस्थी पासे हो। राखे ज्ञानने नाम।
अथवा राखे बेंक मां व्याजे हो। करे केई दाम ॥५॥

दण्डीजी! धर्म ध्यान त्याग, तपस्या, व दर्शन आदिके लिए आए हुए श्रावक लोगों को जिमाने आदि में गृहस्थ अपना कर्तव्य अपने घर की शोभा और अतिथि सत्कार समझते हैं। फिर लोक व्यवहार भी तो कोई चीज़ होती है। जब घर आये हुए अन्यमती भाई का सम्मान भी यथा शक्ति प्रत्येक गृहस्थ करता ही है, तब स्वधर्मी बन्धु का सत्कार तो वह खुशी खुशी करेहीगा! इसमें कहने की बात ही कौन सी है। इसमें साधु के निमित्त कोई तनिक भी दोषापत्ति न है ही और न हो ही सकती है। इसका खुलासा यथा स्थान पहले ही कर चुके हैं।

दण्डी जी! दीक्षा-महोत्सव में जो लोग आते हैं, उनके लिए भोजन बनवा कर उन्हें खिलाना इसे गृहस्थ अपना कर्त्तव्य अपने घर और ग्राम की शोभा और मनुष्य प्रति मनुष्य का प्रेम समझते हैं। परन्तु हां, वरघोडा निकालने में, वाजित्र बजवाने में, भोजन आदि के बनवाने में आदि आदि कामों में त्रस स्थावर की जो हिंसा होती है, उसको वे हिंसा ही समझते हैं। साथ ही लोक में रह कर लोकाचार और लोकरंजन करना भी तो वे भलीभांति जानते हैं। तब क्या, गृहस्थ लोग सर्व त्यागी हैं, जो वे ऐसा नहीं कर सकते?

आगे कुछ ही कदम के चल चुकने पर दण्डीजी फिर लिखते हैं—"ढूंढिये, श्रावक श्राविका मुंह बांध कर स्थानक में इकट्ठे हो कर दया पालते हैं। उस रोज़ घर में बनी हुई ताज़ी रसोई नहीं

खाते। और हलवाई के यहां से मगोवन्ध, मिठाई मोल मंगवाकर खाते हैं। बड़े खुश होते हैं। आज हमने छः काय की हिंसा टाली। बड़ी दया पाली। ढूंढियों का यह कर्त्तव्य भी तत्त्व दृष्टि से बड़ी हिंसा का हेतु है ॥"

दण्डीजी ने जब से अपने दड़े का साथ किया है, तब से उनकी दृष्टि में कुछ दोष हो गया है। वे तब से किसी वस्तु को बारीकी से देखना बिल्कुल भूल से गये हैं। वे भी बेचारे क्या करें। अपने साथी, दड़े का मन-रंजन करने के लिए उसी के परिमाण की लम्बी लम्बी डगें, उन्होंने भरना आज सीखली है। नहीं तो बनने तो जगत से नाता नहीं तोड़ा, पर जैसे जगत ने उनसे नाता तोड़ दिया है, वैसे कहीं उनका एक मात्र, जीवनाधार, दड़ा भी उनका साथ छोड़कर चलता बने, तो बेचारों का जीवन ही फिर तो घड़ी-पलक का हो जायगा। अस्तु। कोई चिन्ता नहीं। यदि आपको नहीं सूझता है, तो हमीं आपको सुझाये देते हैं। देखिये, जिस गृहस्थ को जिस दिन दया पालने का विचार होता है, उस रोज अपने कर्त्तव्य के वश, वह घर में चिता देता है, कि "मेरे लिए हमेशा की भांति आज रसोई का आरम्भ मत करना। आज मेरे भाव दया पालने के हैं। इस पर भी दण्डीजी का फर्मान है, कि घर में बनी हुई ताजी रसोई को नहीं खाते। दण्डीजी यहां आप कैसी भूल कर जाते हैं। भला, हमेशा होते रहने वाले आरम्भ से बच कर, दया करने का विचार किसी का हुआ, और उस दिन घर की बनी हुई नैमित्तिक रसोई को वह खाले, तो दया तो उसके द्वारा कैसे होगी? कदापि नहीं। यही कारण है, कि दया पालने वाले श्रावक, उस दिन अड़ौस-पड़ौस के अपने रिश्तेदारों के घरों से अनैमित्तिक भोजन मँगा कर ग्रहण कर लेते हैं, या हलवाई आदि के यहां से और वह भी एक दुकान से नहीं, वरन् कई अलग अलग

दुकानों से थोड़ी थोड़ी सात्त्विक भोजन सम्बन्धी सामग्री मंगाकर खा लेते हैं। और यों उस दिन छः काय जीवों की विराधना नहीं करते; सब्जी हरे धान, वनस्पति आदि को नहीं छूते; स्त्री-संयोग नहीं करते। ऐसी सदयशीला दया-वृत्ति को भी दण्डीजी हिंसा ही का हेतु समझते हैं। यह उनकी दोष-दृष्टि का फल और बुद्धि का भ्रम मात्र है।

आगे चल कर दण्डीजी मिठाई का जिक्र छेड़ते हैं, कि "हलवाई के भट्टीखाने में दिन में भी कीड़े, मकोड़े, व रात्रि को पतिंगे वगैरह अनेक त्रस जीवों की हिंसा होती है, अयत्ना से अन-छना बासी जल व अनेकों रोज का जीवाकुल मैदा, खांड के रस वगैरह में मक्खी, मच्छर आदि की हिंसा का पार नहीं है, तथा, मलीनता, अशुद्धि तो प्रत्यक्ष ही है। इन सब प्रकार की हिंसाओं का पार नहीं है। ये सब हिंसाएँ मिठाई मोल मंगवा कर खाने-वाले को लगती हैं।"

पाठको! जब मिठाई इस प्रकार अपार हिंसा-जन्य है, तो फिर गृहस्थों के घरों से, हलवाइयों के यहां से मोल लाये हुए घेवर गुलाब-जामुन, पेड़े कलाकन्द आदि को दण्डी लोग क्यों वहर कर ले जाते हैं और खाते रहते हैं? क्या, तब दण्डीजी की मान्यता के अनुसार, ऐसी हिंसा जनक मिठाई को लीलते समय स्वयं दण्डी जी तो उस अपार हिंसा के दोष से अवश्य ही बाल बाल बचे रहते होंगे? शायद, उन मिठाईयों पर भी उनके दण्डे की कोई धाक जा बैठती होगी? नहीं 'नहीं! कहना भूल गये! कदाचित् आपके चटोरेपन की चाट में, आपकी अपनी मानी हुई बातों में से यह बात भी, "मीठा मीठा गपं गप और कडुवा कडुवा थू थू!!' के न्यायानुसार, आपके खुद के लिए लागू न पड़ती होगी! दण्डीजी क्यों मुँह खोल कर अपनी कलई खुलवाते हैं! क्यों, अपना मान पानी के भाव बिकाते हैं!

खाते ! और हलवाई के यहां से सर्णोबन्ध मिठाई मोल मंगवाकर खाते हैं। बड़े खुश होते हैं। आज हमने छः काय की हिंसा टाली। बड़ी दया पाली। ढूंढ़ियों का यह कर्त्तव्य भी तत्त्व दृष्टि से बड़ी हिंसा का हेतु है।"

दण्डीजी ने जब से अपने दड़े का साथ किया है, तब से उनकी दृष्टि में कुछ दोष हो गया है। वे, तब से किसी वस्तु को बारीकी से देखना बिल्कुल भूल से गये हैं। वे भी बेचारे क्या करें। अपने साथी, दड़े का मन-रंजन करने के लिए उसी के परिणाम की लम्बी लम्बी डगें, उन्होंने भरना आज, सीखली है। नहीं तो, उनने तो जगत् से नाता नहीं तोड़ा, पर जैसे जगत् ने उनसे नाता तोड़ दिया है, वैसे कहीं उनका एक मात्र जीवनाधार, दड़ा भी उनका साथ छोड कर चलता बने, तो बेचारों का जीवन ही फिर तो घड़ी-पलक का हो जायगा। अस्तु। कोई चिन्ता नहीं। यदि आपको नहीं सूझता है, तो हमीं आपको सुझाये देते हैं। देखिये, जिस गृहस्थ को जिस दिन दया पालने का विचार होता है, उस रोज अपने कर्तव्य के वश, वह घर में चिता देता है, कि "मेरे लिए हमेशा की भांति आज रसोई का आरम्भ मत करना। आज मेरे भाव दया पालने के हैं। इस पर भी दण्डीजी का फर्मान है, कि घर में बनी हुई ताजी रसोई को नहीं खाते। दण्डीजी यहां आप कैसी भूल कर जाते हैं। भला, हमेशा होते रहने वाले आरम्भ से बच कर, दया करने का विचार किसी का हुआ; और उस दिन घर की बनी हुई नैमित्तिक रसोई को वह खाले, तो दया तो उसके द्वारा कैसे होगी ? कदापि नहीं। यही कारण है, कि दया पालने वाले श्रावक, उस दिन अड़ौस-पड़ोस के अपने रिश्तेदारों के घरों से अनैमित्तिक भोजन मँगा कर ग्रहण कर लेते हैं, या हलवाई आदि के यहां से और यह भी एक दुकान से नहीं, वरन् कई अलग अलग

दुकानों से थोड़ी थोड़ी सात्विक भोजन सम्बन्धी सामग्री मंगाकर खा लेते हैं। और यों उस दिन छ काय जीवों की विराधना नहीं करते, सब्जी हरे धान, वनस्पति आदि को नहीं छूते, स्त्री-संयोग नहीं करते। ऐसी संयमशीला दया-वृत्ति को भी दण्डीजी हिंसा ही का हेतु समझते हैं। यह उनकी दोष-दृष्टि का फल और बुद्धि का भ्रम मात्र है।

आगे चल कर दण्डीजी मिठाई का जिक्र छेड़ते हैं, कि "हलवाई के भट्टीखाने में दिन में भी कीड़े, मकोड़े, व रात्रि को पतिंगे वगैरह अनेक त्रस जीवों की हिंसा होती है, अयत्ना से अन-छना बासी जल व अनेकों रोज का जीवाकुल मेदा, खांड के रस वगैरह में मक्खी, मच्छर आदि की हिंसा का पार नहीं है, तथा, मलीनता, अशुद्धि तो प्रत्यक्ष ही है। इन सब प्रकार की हिंसाओं का पार नहीं है। ये सब हिंसाएँ मिठाई मोल मगा कर खाने-वाले को लगती हैं।"

पाठको! जब मिठाई इस प्रकार अपार हिंसा-जन्य है, तो फिर गृहस्थों के घरों से, हलवाइयों के यहां से मोल लाये हुए घेवर गुलाब-जामुन, पेड़े कलाकन्द आदि को दण्डी लोग क्यों वहर कर ले जाते हैं और खाते रहते हैं? क्या, तब दण्डीजी की मान्यता के अनुसार, ऐसी हिंसा जनक मिठाई को लीलते समय स्वयं दण्डी जी तो उस अपार हिंसा के बोध से अवश्य ही बाल बाल बचे रहते होंगे? शायद, उन मिठाइयों पर भी उनके दण्डे की कोई धाक जा बैठती होगी? नहीं नहीं! कहना भूल गये! कदाचित् आपके चटोरेपन की चाट में, आपकी अपनी मानी हुई बातों में से यह बात भी, "मीठा मीठा गप गप और कड़ुवा कड़ुवा थू थू!" के न्यायानुसार, आपके खुद के लिए लागू न पड़ती होगी। दण्डीजी क्यों मुंह खोल कर अपनी कलई खुलवाते हैं! क्यों, अपना मान पानी के भाव बिकाते हैं!

दण्डीजी लिखते हैं, "हलवाई के यहां की मलीनता और अशुद्ध प्रत्यक्ष हैं।" तो महाराज ! उस मलीन और अशुद्ध मिठाई को आप खुद खाते हुए घृणा और छूत-छोत क्यों नहीं करते ? तब आपकी मान्यता कहां लुक छिप जाती है ? "जस गुरु तस चेला, दोनों नरक में ठेलम ठेला," कदाचत् जब आप खुद ही अपने स्वयं के मुख से, जिसे एक बार मलीन और अशुद्ध कह चुके, उससे कोई परहेज़ नहीं करते, तब भला, अन्य साधारण लोग तो, जो आपके आश्रित हैं, उससे घृणा करने ही क्यों और कब लगेंगे ? परन्तु दण्डी लोगों के लिए यह बड़ी ही लाञ्छनीय और डूब मरने की बात है, कि एक बार जिस चीज़ को वे औरों के लिए अशुद्ध और मलीन कह देते हैं और सदा-कहते रहते हैं, उसी को आप खुद, बिना किसी पशोपेश के गटकाते जाते हैं। आपके इन "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" वाले कारनामों को धन्यवाद ! अब आपकी शुद्धता जगत को जाहिर हो गई है ! यदि आप फिर से, अपनी अशुद्धता का प्रमाण पत्र हाँसिल करना जगत् से चाहते हैं, तो आज ही हमारी सत्सलाह मानकर, हलवाईयों की मिठाई के नाम जाहिर उद्घोषणा के रूप में, अपनी चटोरी ज़बान का एक त्याग-पत्र लिख कर भेज दीजिये !

दण्डीजी ज़रा ही नीचे उतर कर उसी परिलेख में फिर यों कहते हैं—' जिस प्रकार कसाई खाने में जितनी जीव हिंसा होती है, उसी प्रकार हलवाई की हिंसा भी (मिठाई) मोल मंगवाकर खाने वाले सब को लगती है।"

वाह ! इस बार तो दण्डीजी की विद्वत्ता ने कमाल कर दिया, अपने आपके बचाव के लिए उड़ान तो दण्डीजी ने बड़ी ही ऊँची मारी थी, पर चटोरी ज़बान की जटिल जाल में, बेचारे फस कर फिसल पड़े ! तब तो इस निगोड़ी ज़बान ने उन्हें, धड़ाम से

चारों कोने चित कर दिया !! पाठको ! ज़रा आप भी आकर दृश्य देख जाइये । देखिये, हलवाई मिठाई बनाते हैं । गृहस्थ मोल लाकर खाते खिलाते हैं । और दण्डी लोगों को भी ये भावना से बहराते हैं । फिर "नेकी और पूछ पूँछ" के नाते, दण्डीजी भी उसे खुशी खुशी ले जाते और मज़े से खाते हैं । अब कहिये पाठको ! दण्डीजी के दिये हुए कसाईखाने के न्याय के अनुसार मिठाई बना कर बेचने वाले हलवाई या मोल लेकर खाने खिलाने वाले गृहस्थ या पराये के द्वारा दी हुई मिठाई का मौज के साथ मस्त हो कर मज़ा चखने वाले दण्डीजी, ये तीनों ही हिंसा के हकदार हुए या नहीं ? त्रैराशिक लगाइये और उत्तर सही सही निकालिये !

दण्डीजी ! बतलाइये, मिठाई खाने की आपकी इस मान्यता के अनुसार, अब आप खुद इस महान् हिंसा से बच कर कैसे और कहां भागोगे ? शायद, आपने अपने खुद के लिए स्वर्ग में कोई सीट (स्थान) रिजर्व (सुरक्षित) करवा रक्खी होगी ! या स्वयं ईश्वर को भी डरा धमका कर आपने उससे कोई सार्टीफिकेट प्राप्त कर लिया होगा जिसकी मनशा के अनुसार, आपको हक़ हुकूक मिल गये होंगे, कि यदि आप कोई हिंसा करें या करवायें, तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु दूसरे ने ज़रा भी कोई हिंसा की, कि झट उसके नाम, स्वर्ग के द्वार में घुसने की सख्त मुमानियत का परवाना पहुँच जाता होगा ! दण्डीजी के द्वारा दिया हुआ कसाईखाने का न्याय बिलकुल ठीक है ! हम भी उसे सिर आंखों पर मानते हैं ! तब तो यह न्याय स्वयं दण्डीजी पर सोलह-आना घटित होता है ! दण्डीजी !

बहुत गई थोड़ी रही, नारायण अब चेत ।
काल चिरैया चुग रही, निशि दिन आयू खेत ॥

आगे दण्डीजी लिखते हैं "ढूंढियों के कोई साधु या साध्वी जब काल कर जाते हैं तब उनके मुर्दे को एक दो रोज तक रख छोड़ते हैं। आस पास के गाँव वालों को पत्र या तार आदि से सूचना देकर मुर्दे के दर्शन के लिए लोगों को बुलवाते हैं।"

दण्डीजी का यह फ़र्माना भी उनकी गहरी अज्ञानता का प्रदर्शन मात्र कराने वाला है। क्योंकि एक या दो रोज तक मुर्दे को रख छोड़ने की जो बात वे कहते हैं, तो ऐसा करने से सब से पहले तो उसमें से बदबू फूटने लग जाती है, दूसरे उसमें चींटी मकोड़े आदि कीड़े लग जाते हैं, तीसरे उससे मनुष्यों का कोई मतलब भी तो सिद्ध नहीं होता चौथा पुन जीव का आह्वान भी तो नहीं कर सकते आदि आदि हमने तो श्वे० स्था० साधु के किसी भी मुर्दे को ऐसे पड़ा रहते न किसी ने कभी देखा और न कभी सुना ही पाया है। उस मुर्दे के दर्शनार्थ भी बाहर गाँव से लोगों को कभी न बुलवाते देखा ही और न बुलवाते ही कोई हैं। और जो लोग तार या पत्र द्वारा बाहर गांवों से आते हैं, वे लोग भी केवल उस समय और उन जीवित अवस्था वाले साधु या साध्वियों के दर्शनार्थ आते हैं जो सन्थारा किए रहते हैं। येही लोग उस गाव वाले अन्य श्रावकों के साथ मिल कर उस साधु या साध्वी के शव को बड़ी सज धज और बाजे गाजे के साथ अग्नि संस्कार के लिए ले जाते हैं। लोक-रञ्जन करने और लोकाचार में अपने बड़े बूढ़ों की मृत्यु के पीछे भी उनके साथ प्रेम प्रकट करने आदि लौकिक रहस्यों को पूरा करने के बहाने ये लोग ऐसा करते हैं, परन्तु हाँ, यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये, कि वे कभी भूल कर भी उसमें धर्म की झाँकी न देखेंगे। श्वे० स्था० समाज के अनेकों विवेकवान सद्गृहस्थ तो उस साधु आदि के शव के दर्शन तक के लिए कभी घर से बाहर नहीं निकलते। क्योंकि ये विवेकशील पुरुष मूर्ति, फोटो, चित्र, चरण पादुका साधु का शव आदि समस्त वस्तुओं को एकसा समझते हैं। इतने पर

चित्र परिचय के लिये



(५) गज सुख माल मुनि के सिर पर सोमल ससुर मिट्टी
पाल बाध कर जाज्वल्य मान अगारे डाल रहा है।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

भी यदि कोई पुरुष लोकोत्तर धर्म बुद्धि की भावना हृदय में रख कर उनके दर्शन आदि करता हो तो, उसे केवल 'महामिथ्यात्वी' ही कहना चाहिये।

कुछ ही नीचे चल कर दण्डीजी उसी परिलेख में कहते हैं— 'फोटो के दर्शन कर गुरु-गुण गाते हैं। यह बात अहमदाबाद से सं० १९८२ के पौष महीने में स्थानक वासी जैन नामक ढूंढियों के खास मासिक पत्र के पृष्ठ ३१ में प्रकट हुई है।

दण्डीजी! ऊपर की रचना से ज्ञान पड़ता है, दण्डी लोगों के किन्हीं ईर्षालु अनुयायियों ने अपने हृदय के कमीनेपन का परिचय देते हुए किसी तुच्छ स्वार्थ सिद्धि के लिए, ऐसा छपवा दिया होगा। क्योंकि अखबारों का काम तो किसी भी सच्चे या झूठे सम्वादों को केवल उन के सम्वाददाताओं के ऊपर विश्वास रख करके छापना मात्र होता है। ऐसी जगह यदि सम्पादक लोग यदा कदा अचानक और वारीक छान बीन अपने पत्रों के समाचारों की नहीं करते, तो जहां कुछ ही दिनों के लिए सम्वाददाताओं के दोनों हाथ घी में रहते हैं। वहीं उन पत्रों के जीवन में प्रलयकाल की आँधी का असर होना आरम्भ हो जाता है। इस बात के प्रमाण में अनेकों पुरावे पेश किये जा सकते हैं। अस्तु। विवेकशील श्वे० स्था० गृहस्थ तो लोकोत्तर धर्म-बुद्धि की भावना से कभी भी किसी फोटो के दर्शन आदि नहीं करते हैं। और न कभी उनके आगे बैठ कर किसी प्रकार का गुरु-गुण कीर्तन ही वे करते देखे सुने जाते हैं।

आगे चल कर उसी लेख-खण्ड में फिर दण्डीजी यों कहते हैं— "ढूंढिये साधुओंकी यादगीरी के लिए छत्री घूमटी निर्वाण-मन्दिर आदि बने हुए मोजूद हैं। तथा दर्शन के लिए चरण स्थापना व फोटो की स्थापना भी की है)"

दण्डीजी! मालूम होता है आपके पीले वस्त्रों ने तो आपकी आँखों पर भी अपना जादू डाल दिया है। आपकी आँखों को अब पीलिया रोग हो गया है। इसलिये कोई सफेद वस्तु भी पीली और सत्य व सीधी साधी बात भी असत्य व टेढ़ी-मेढ़ी नजर आने लगी है, शीघ्र ही किसी सद्वैद्य की शरण लीजिए अन्यथा जीवन के लाले पड़ जायगे। दण्डीजी! किसी गाँवमें छत्री, घूमटी आदि बनादी गई तो इस से क्या आपका मन्दिर बनाना सिद्ध हो गया, कदापि नहीं। क्योंकि श्वे० स्था० विवेकवान् गृहस्थ पहिले तो धन और धर्म को गँवाने वाला ऐसा कोई विपरीत कार्य कभी भूल कर करेंगे ही नहीं। और यदि किसी न अज्ञानवश ममत्व भाव के आवेश में आकर ऐसा विपरीत काम करभी लिया तो वह केवल उसकी लोकाचार बुद्धिका काम है। इतने पर भी यह कृत्य उस व्यक्ति विशेष का एक स्मारक मात्र ही समझा जाता है। वहाँ जाकर कोई भी श्वे० स्था० गृहस्थ लोकोत्तर धर्म बुद्धि से सिर नहीं झुकाता। ऐसी ही भावना आपको तथा आपके अनुयायी लोगों की मन्दिर उनकी मूर्त्तियों, फोटो, आदि के सम्बन्ध में जिस दिन हो जायगी उसी दिन जगत् आपको कुछ रास्ते पर लगा देख पावेगा। इसके पहले आपके सुधार की कोई आशा नहीं की जा सकती।

दण्डीजी ने फोटो के दर्शन के लिए लिखकर व्यर्थ ही में अपना सिर खपाया और अपनी अविवेकता प्रकट की। क्योंकि लौकिक बुद्धि से दर्शन शब्द का अर्थ देखना होता है। अतः जिसके आँखें होंगी वह अवश्य फोटो ही क्या जगत की सम्पूर्ण वस्तुओं को जो दिख सकती हैं देखेगा या उनके दर्शन करेगा। फिर फोटो ही के दर्शन करने या देखने में ऐसी कौनसी आश्चर्यजनक और बड़ी बात समा गई थी जिसे लिख कर दण्डीजी अपने मन पण्डित बन बैठे हैं। और [illegible] समझ गये। यह दण्डियों की निरी मूर्खता

दण्डीजी पन्नवणाजी सूत्रमें मनुष्य के मुर्दे में दोदो घड़ी के बाद असख्य जीव पैदा हो जाना लिखा है। यह विषय सूत्रीय होने के कारण क्या आप और क्या हम सभी को सब काल में और सर्वत्र माननीय है फिर जैसे श्वे० स्था० साधु शव के लिए लोग चकडोल बनाने और शव को श्मशान तक ले जाने में लगता है। हमें एक बात की और याद आ गई। अन्तिम समय में अकसर देखा सुना जाता है कि जो जिस अवस्था और धार्मिक आम्नाय का व्यक्ति होता है उसे ठीक वैसे ही कपड़े नये खरीद कर पहनाये जाते हैं। उस समय पास के रक्खे हुए घरेलू कपड़ों को चाहे वह फिर एक दम नये ही क्यों न हों नहीं पहनाते। हम श्वे० स्था० साधु-समाज के लोगों में कभी कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। परन्तु दण्डीजी! यह सब होते हुए भी हमारे यहाँ तो शव को सफेद वस्त्र ही पहनाते हैं और आपके यहा दण्डी लोगों के शवों को पीला वस्त्र पहनाया जाता है। अस्तु हमारे ऊपर के अनुभव के अनुसार पीला वस्त्र तत्काल ही रगा कर लाने में, कुछ न कुछ समय तो अवश्य लग ही जावेगा। यों अन्तिम क्रिया में श्वे० स्था० साधुओं की अपेक्षा आप दण्डियों ही की अन्तिम क्रिया में अधिक समय लग जाता है। फिर दोनों के यहाँ दाग भी तो लकड़ी ही से दिया जाता है, जलदाग या भूमि दाग तो होता ही नहीं है। इसमें भी कुछ समय लग ही जाता होगा। इन सब रस्मों को पूरा करने में दो घड़ी से तो कितना ही समय अधिक लग जाता है। तब दण्डीजी कहिये श्वे० स्था० साधु ही के शव में दो घड़ी के बाद असख्य जीव उत्पन्न हो जावेंगे या उससे भी अधिक दण्डियों के शव में?

दण्डीजी! जैसी हिंसा पीतवसनधारी दण्डी साधु के मुर्दे को जलाने में होती है, वैसे ही श्वे० स्था० साधु के मुर्दे में भी होती है समान क्रिया का कार्य होते हुए भी एक प्रश्न घड़ना, यह केवल "बैठा

बनिया क्या करे, इधर के तोले उधर करे" इस कथन के अनुसार आप की बुद्धि के निक्षेपत्न को जग-जाहिर करना मात्र है।

आगे चल कर कुछ ही नीचे उतर कर दराडीजी फिर वहां कहते हैं—"दया भगवती के नाम से स्नान करने का त्याग करवाते हैं जिससे ढूंढिये साधु-साध्वी का मुर्दा जला कर बहुत ढूंढिये श्रावक स्नान नहीं करते।

दराडीजी! आँखों की गवाही देकर किसी बात को कलम के घर उतारते हैं लिखते हैं या आँखें बन्द करके दंडे से टटोलते हुए ही जो कुछ भी मन में आता है, लिख मारते हैं? महाराज! मुर्दा जला कर स्नान नहीं करना, ऐसा त्याग तो किसी भी श्वे० स्था० साधु ने कभी भी किसी श्रावक को नहीं कराया। यही क्यों? श्वे० स्था० के किसी माननीय ग्रन्थ में भी तो ऐसा उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता। फिर मन-घडन्त विचारों को यों ही झूठ-मूठ ही शब्दों का रूप देना। कागज़ों को व्यर्थ के और थोथे तथा गन्दे विचारों में यों ही काला पीला करना? यह तो मानो इन बैठे-ठाले दरिडयों को इनके पेट की ज्वाला को बुझाने वाला एक व्यवसाय ही मिल गया है। दराडीजी! बलिहारी है, आपकी ऐसी समझ की!"

पाठको! यह तो प्रकट ही है कि मरने बाद सूतक लगता है लोग इसीसे स्नान करते हैं। फिर दराडी लोगों में से किसी का अन्तकाल हो जाने पर उसी आश्रम में रहने वाले अन्य दराडी लोग स्नान करते हैं या नहीं? यदि कहोगे कि हां करते हैं, महाव्रतधारी ब्रह्मचारी साधुओं को स्नान करना, सूत्रों के द्वारा जहां तहां भगवन्तों ने निषेध बताया है। देखिये दशवैकालिक सूत्रके छटे अध्याय की तिरसठवीं गाथा में यों लिखा हुआ है—

तम्हा ते ण सिणायन्ति, सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाण महिट्ठगा॥

यदि इसी आज्ञा के अनुसार दण्डी लोग स्नान न करते हों तो क्या उनको सूतक नहीं लगता है ? हृदय पर हाथ रख कर कुछ समय तक इस प्रहेलिका को सुलझाने का ज़रा प्रयत्न करें।

कुछ ही आगे चल, स्नान नहीं करने की बाबत दण्डीजी ने इन्द्र का प्रसंग उस लेख-खण्ड में चलाया है। यहां भी दण्डीजी की समझ का सांठियाना ही हो सकता है। क्योंकि जब दण्डी लोगों की ओर के इस सम्बन्ध के सम्पूर्ण प्रश्नों का निराकरण यथोचित रूप से श्वे० स्था० साधुओं की ओर से एक ही उत्तर के द्वारा कर दिया जाता है कि "मुर्दे" को जलाने के बाद स्नान नहीं करने के के त्याग से हमारी ओर से न तो हमने कभी करवाये ही हैं और न कोई कभी करवाता ही है, तब भी बार बार पीसे हुए ही को पीसते रहना, यह उनकी मूढ़ता नहीं तो और क्या हो सकती है।

दण्डीजी लिखते हैं 'इन्द्रादिदेव भगवान् के शरीर का अग्नि संस्कार खास धर्म-बुद्धि से भगवान् की भक्ति के लिए करते हैं।

दण्डीजी को ऐसे ठोस गपोड़े मारना तो खूब ही आता है, पाठको! अग्नि-संस्कार करने कराने में भला कौनसा धर्म है। अग्निके आरम्भ में छः ही कायाके त्रस और स्थावर जीवों का नाश होता है इतने पर भी उसे धर्म का रूप देना यही तो बड़ा भारी अधर्म है। पाठको! अग्नि-संस्कार का मुख्य उद्देश्य तो केवल इतना ही है कि जो उष्णता-प्रधान देश होते हैं उनमें कोई वस्तु बहुत जल्दी सड़ घुस जाती है और तब वह अपने आस पास के हवा और पानी को भी खराब कर देती है परन्तु उसके वहां जला देने पर उसके रोगोत्पादक परमाणुओं का भी नाश हो जाता है। यही कारण है कि हमारे देश में जहां खेती बहुतायत से होती है गर्मी की भी काफी ज़रूरत पड़ती है, और गर्मी उसी क़दर पड़ती

भी है। तब यहाँ के पूर्वजों ने खास कर हवा पानी को साफ रखने और रोग के परमाणुओं को हवा आदि के साथ प्रसरण न होने देने के लिए ही अग्नि संस्कार की परिपाटी चलाई है परन्तु जिन देशों में ठण्डक की प्रधानता है और जहां जलाने के साधनों का सुभीता भी नहीं होता, वहाँ अक्सर मुर्दे को ज़मीन में गाड़ने की प्रथा का प्रचलन है। परन्तु कहीं कहीं गर्म देशों में जहाँ जल की विपुलता होती है, जल दाग भी दिया जाता है। अस्तु, बस श्वे० स्था० और पूजेरों में यही तो अन्तर होता है। हिंसा को भी धर्म का जामा पहना दिया जाय यह बड़े ही अचम्भे की बात है। तो फिर क्या, बकरे आदि के वध करने में भी धर्म ही कहना होगा।

आगे चल कर दण्डीजी उसी परिलेख में कहते हैं—"इन्द्रादि देव वहां से नन्दीश्वर द्वीप में जाकर वहां के शाश्वत चैत्यों (सिद्धायतनों) में शाश्वत जिन प्रतिमा को वन्दन, पूजन, भक्ति भाव से जिन गुण गाते हुए अट्ठाई महोत्सव करते हैं। यह अधिकार खास ढूंढियों के छपवाये जम्बूद्वीप पन्नति सूत्र में आदीश्वर भगवान के निर्वाण अधिकार जीवाभिगम् सूत्र में तथा स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में नन्दीश्वर द्वीप के वर्णन अधिकार में खुलासा लिखा है।"

पाठको! दण्डीजी के कुछ स्वभाव ही में यह हेर फेर हो गया है कि जो भी कुछ वे कहते सुनते या लिखते-लिखवाते हैं, सबके तले में मात्रे की बुद्धि की परछाई पराये की उधार ली हुई बुद्धि शक्ति की झाई भली भांति झलकती रहती है। परन्तु धाक दण्डीजी जमाते हैं। निज के दण्डे के दुर्दमनीय बल की! दण्डीजी इस जगह भारी भूल कर जाते हैं। उन्हें यह भली भांति जान लेना चाहिए कि जगत् में लाठी राज का मूल्य, भोली भाली जनता ने

तभी तक माना और वह मानती है। जब तक कि उन्हें अपने शरीर का जरा भी कुछ मोह रहता है परन्तु ज्यों ही उन्हें सद्गुरुओं की कृपा से आत्म-बल का परिचय प्राप्त हो जाता है। उन्हें उनके आत्मबल का अनुभव करा दिया जाता है। उसी समय बड़े से बड़े लाठीराज की दुर्दमनीय शक्ति निरी निकम्मी और न कुछ बन जाती है। उस दम उसकी सारी हस्ती मिट्टी में मिल जाती है। पाठको! यों दण्डीजी परायों की बुद्धि के मोहताज़ बन कर 'बात का बतंगड' और राई का पर्वत' बना डालते ह। ऐसा करना दण्डीजी के लिए स्वभाविक ही है। क्यों कि बात जब तक एक मुख रहती है उसका क्षेत्रफल छोटा होता है फिर जैसे २ वह एकसे दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी प्रकार आगे आगे वह अनेका मुखों को अपना क्षेत्र बनाती जाती है, उसका क्षेत्रफल भी उसी कदर स्वभावतः बढ़ ही जाता है। और अन्त में कोई बात जो पहले राईके रूपम थी कुछ दिन बाद पर्वत बन लोगोंकी आखों आड करने लगती हे। पाठको! दण्डीजी यहा भी वही बात का बतंगड पैदा कर रहे हैं जिन आर्ष ग्रन्थों का दण्डीजी न ऊपर नाम लिया है और उनकी ओट में लुक छिप कर जिन अनेकों अनोखी बातों को मदारी के पिटारे की भाति कन्धे पर लटकाई हुई अपनी झोली में स बाहर निकाल जनता के सम्मुख रक्खो ह उनमें से सिर्फ महोत्सव मनाते हैं इसके अतिरिक्त ओर किसी भी बात का जरा भी कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। दण्डीजी! स्वावलम्बन का मार्ग पकड़िये। यों भाड़े की बुद्धि स कब तक जीवन बसर करते रहेंगे।

दण्डीजी लिखते ह कि "ढूंढिये श्रावक कहें कि हम लोग यह सब कार्य ससार खाते करते हैं किन्तु धर्म-बुद्धि से नहीं?

दण्डीजी का यह लिखना भी अज्ञान स परिपूर्ण है? क्योंकि श्वे० स्था० श्रावक जिस किसी कार्य के करने में जो हिंसा होती है

उसे वे हिंसा ही कह कर पुकारेंगे। हिंसा को धर्म वे भूल कर भी न कहेंगे। फिर मिथ्यात्वी का लक्षण भी तो यही है कि वह हिंसा को धर्म और धर्म को हिंसाके रूपमें देखता व कहता है। तपस्या के महोत्सव में मण्डपादि का बनवाना, ध्वजा पताकादि का लगवाना साधुओं का फोटो उतरवाना, मुर्दों का महोत्सव मनाना उनके निमित्त छत्री, या घूमटी आदि स्मारक बनवाना आदि आदि कार्य जो श्रावकवर्ग करते हैं। उनके लिए श्वे० स्था० साधुओं के द्वारा उन्हें कभी भी कोई उपदेश नहीं दिया जाता। श्रावकवर्ग जो भी कुछ इस विषय में करते करवाते हैं। केवल अपने नगर की शोभा और लोकाचार को देख कर ही लोक-रंजन के लिए करते करवाते हैं परन्तु इन कामों के मूल में जहां भी कहीं हिंसा होती है, उसे वे सदा हिंसा ही कहते हैं। धर्म बुद्धि लाकर मोहवश हिंसा में धर्म है। ऐसा वे कभी भूले भटके भी नहीं कहते। बालक बालिकाओं को शिक्षादान, अनाथों के रक्षण का प्रबन्ध, पशुवध की रोक और उनकी रक्षा, गरीबों को निर्द्वन्द्व अन्नदान, औसर मौसर की बन्दी मादक द्रव्यों का कतई निषेध, सत्य, शील, संयम दया अहिंसा इन व्रतों का एकान्त पालन आदिके सम्बन्ध में तो स्वयं श्वे०स्था० साधु ही आगे होकर इन्हें यथोचित रूप से उपदेश देते हैं। क्योंकि इन कामों की नींवपर परोपकार का महल चुना जाता है। हमारा अनुमान है कि इस बात में तो क्या दण्डी लोगों के अनुयायी और क्या श्वे० स्था० श्रावक सभी एक मत होंगे। यही क्यों? सारे संसार के लोगों की इन कामों के करने कराने में सम्मति होगी और ऐसे परोपकारी कार्यों को करने कराने के लिए किसी को बाध्य भी नहीं किया जाता है, परन्तु हां, समय समय पर इनकी सुध मात्र दिला दी जाती है। फिर लोग स्वयं ही इनके द्वारा अपने और अपने राष्ट्र का अकथनीय हित देख इन कामों की शुरुआतकरने में

लगने हैं। अपना अपना हित सभी को प्यारा है। जब उन्हें इन कामों में लोक और परलोक के सुधार का पता लग जाता है तब इनके याद दिलाने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। ये उस समय अपने आप होते रहते हैं।

श्रावक लोग, धर्म किया करने के लिए उपाश्रय बनवाने में शास्त्रों के छपवाने में दीक्षा महोत्सव के भोजनादि का आरम्भ करने आदि में ऐसे अन्य कई कामों में जो हिंसा होती है उसे हिंसा ही कहते हैं। श्रावकवर्ग सम्पूर्ण प्रकार की हिंसाओं से बच नहीं सकते, क्योंकि वे संसारी हैं। इसी लिए अहिंसा के पुजारी महात्मा गाधीजी भी कहते हैं—"संसारी मनुष्य एक क्षण भी बाह्य हिंसा किये बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, तमाम क्रियाओं में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो तो समझना चाहिए कि वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर संयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढ़ती रहेगी। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

आत्म-कथा (गान्धीजी) भाग २

अस्तु, हिंसा को वह श्वे० स्था० श्रावक वर्ग त्रिकाल में भी धर्म नहीं कहेगा। इसी तरह से दण्डी लोग भी मन्दिरों के बनवाने मूर्त्तियों पर फूल वनस्पति आदि के चढ़ाने, मूर्त्तियों के लिए गर्म जल करने, जल-यात्रा कर घोड़ा तीर्थयात्रा, ढोलकी, झांझर, ताली आदि के बजाने आरती करने, आदि आदि कामों में जो

हिंसा होती है उसको यदि हिंसा कह दे और यदि स्वीकार करलें तो फिर हमारा तो पूरा पूरा विश्वास है कि श्वे० जैन समाज में वाद विवाद का कोई प्रश्न नाम को भी खड़ा नहीं रह सकता। यह तो हुई वाद विवाद के मिटने मिटाने की बात! और लाखों करोडों की सम्पत्ति की जो आज व्यर्थ ही धर्मके नाम पर पापों को कमाने के लिए बरबादी पानी के रूप में हो रही है, वह बच जाय सो अलग! यों सहज ही में रचित धर्म और धनका अनेकों अन्य मदों में सदुपयोग हो सकता है, जिनसे लोक सच्चे और परलोक बने। इतना ही नहीं, आज अनेकों प्रकार के धर्मों के नाम पर जो पापों का प्रचण्ड प्रवाह वह चला है, जिससे हमारा नाश तो अवश्यम्भावी है ही, परन्तु हमारी सन्तानों के जीवन और कर्म की जड भी पोपली होती जा रही है, उन्हें भी इसके द्वारा सहज ही में सुमार्ग पर लगाया जा सकता है। क्या हम आशा करें, कि जो आत्मार्थी भव्य जीव और सच्चे जैनी हैं, वे अब से आगे कभी हिंसा को धर्म मानने के मिथ्यात्व में भूलकर भी न फँसेंगे? भगवान् उन्हें परम सुन्दर सत्य और शिव या कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ करें।

दण्डीजी लिखते हैं कि "ढूंढ़िये साधु कहें कि तपस्या के पूर या महोत्सव आदि, ऐसे हिंसा के कार्य करने का हम नहीं कहते। यह भी मायाचारी प्रत्यक्ष झूठ है।"

दण्डीजी! जीवन के सारे काम केवल भाडे की बुद्धि से ही मत निकालिये। एक बार जो हम आपसे कह चुके हैं कि आरम्भादि कार्य करने के लिए श्वे० स्था० साधु किसी भी गृहस्थ को भूलकर भी कभी नहीं कहते, उसी बात को आप अपने भिक्षोपन और समझ तथा स्मरण शक्ति की कमजोरी से बार बार दुहराते हुए भी बाज नहीं आते। दण्डीजी फिर फर्माते हैं कि ढूंढिये साधु जिन मन्दिरों में जाने की सागन्द करवाते हैं। दण्डीजी का यह

कथन भी मायाचार से ओत प्रोत हो रहा है। पाठको! श्वे० स्था० साधु किसी भी श्रावक गृहस्थ को कभी मसजिद तक में जाने का त्याग नहीं करवाते हैं। तो फिर जिन-मन्दिर में प्रवेश करने का त्याग तो वे उन्हें करवा ही कैसे सकते हैं? आप विचार पूर्वक इसको सोचें समझें और दण्डीजी के हृदय के कमीनापन का अनुमान लगावें। जो गृहस्थ हैं वे चाहे जहां जा सकते हैं और समय पर उन्हें शत्रु मित्र तथा भली व बुरी सभी जगह आवश्यकता पड़ने से जाना भी पड़ता है। लौकिक स्वार्थ-सिद्धि के लिए गृहस्थ से सारे त्याग नहीं बन सकते। फिर श्वे० स्था० गृहस्थ के लिए जिन-मन्दिर के त्याग करवाने की बात का लिखना नितान्त झूठ और दण्डीजी के लिए बड़ी ही शर्म की बात है।

आगे चलकर उसी परिलेख में दण्डीजी फिर कहते हैं—तपस्या का पूर मुर्दा-महोत्सव आदि देने हिंसा के कार्य करने की ढूंढिये साधु मनाई कर दे, सौगन्द दिलवादे तो कभी न होने पावें।

दण्डीजी का यह लिखना भी नितान्त हास्यास्पद और अज्ञान मूलक है। क्या तपस्या का पूर भी हिंसा जन्य हो सकता है? नहीं कभी नहीं! क्योंकि तपस्या के पूर का मतलब तो केवल इतना ही है कि यदि किसी तपस्वी ने साठ दिन की तपस्या की तो साठवां दिन तपस्या के पूर का दिन है। अर्थात् साठवें दिन तपस्या की पूर्ति होती है। इसको हिंसा-जनक बतलाना और कहना यह जिनाज्ञा से बाहर की बात है। फिर साधु के मुर्दे के महोत्सव मनाने के लिए हम अभी अभी थोड़े ही पहिले विस्तार-पूर्वक कह आए हैं कि श्वे० स्था० साधु अपनी जबान से एक अक्षर भी नहीं निकालते। जो लोग ऐसा करते हैं वे भी केवल उस व्यक्ति विशेष के स्मारक रूप में लोकाचार और स्वनाम की शोभा का अनुमान कर लोक-रञ्जन के लिए ही करते हैं।

यदि इस प्रकार करने से हिंसा को दोष आता हो तो फिर दण्डी लोगों के मुर्दों को जलाने की शपथ दण्डी लोग अपने गृहस्थों को क्यों नहीं करवा देते हैं? क्या दण्डी लोग अहिंसा-प्रेमी चाहे फिर वे नाम ही के हों या काम के, नहीं हैं सो सौगन्द दिलाने को श्वे० स्था० साधुओं के प्रति कह रहे हैं? दण्डीजी! पहले अपना घर बुहारो, फिर दूसरों के घर की ओर निगाह डालो। "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" और—

"रण्डिन के रसिया बनें, उपदेशकजी आप।
औरों को कहते फिरें, वणिका-गण के पाप॥"

इन कथनों के अनुसार न बनो। पहले निजकी करणी और चरित्र को सोचो। तब यदि परायों की समालोचना के लिए आपने कभी क़लम उठाई भी तो अपने निज के आदर्श-बल की धाक उस पर बैठेगी निज के चरित्र को बिना आदर्श रूप दिये जो परायों की नुक्ताचीनी होती है वह केवल जूतम-फाक कराने वाली ही होती है। फिर यह जगत प्रति-ध्वनि-मय है। जैसे जैसे काम मनुष्य यहाँ करता है उन्हीं को झाँई उसे सर्वत्र भासती है। अस्तु। दण्डीजी! कल तो कदाचित् आप और बहार कर यह भी प्रस्ताव कर बैठेंगे कि "जितने भी गृहस्थी हैं यदि भोजन का बिलकुल त्याग कर देवें या सौगन्द ले लें तो हिंसा के अनेक काम आसानी से आपों आप रुक जावेंगे। परन्तु हमारा तो विश्वास है जनता आपके इस विचार को कभी कानी आँखों भी न देखेगी।

दण्डीजी! बौखलाहट में आकर ऐरी-गैरी पचक्खाणी मुंह से न उगल जाया करें। आपकी लेखनी के इन नये नये अनहोने आविष्कारों को देख कर आपकी बुद्धिपर तरस आती है। साधारण से साधारण बुद्धि-वाला पुरुष भी आपके इन अट-सट विचारों का अवलोकन कर आपकी मूर्खता पर हँसने लग जाता है। अस्तु। दण्डीजी! जो कुछ भी

कलम के घाट काला पीना आपके हाथों निकले क्या ही अच्छा हो कि उसमे पहले शास्त्र सन्तवाणी और निजू अनुभव की सम्मति आप ले लिया करें

आगे चल कर दण्डीजी वहीं लिखते हैं "आने वालों की मोजन-भक्ति वगैरह र सम्भाल करने वालों की तुम तो बड़े भक्त हो इत्यादि प्रशसा करते हैं दण्डीजीकी बुद्धि अबतो बड़ी भोंथरी होगई है। महाराज! इसे शीघ्रही शास्त्रावलोकन और सत्संगतिकी सानपर चढ़ाइये।अन्यथा सारा गुड गोबर हो जायगा। दण्डीजी यहाँ तक तो हमारी भावना का आप को ज्ञान नहीं है। और चले हैं भाडे की बुद्धि के बलसे अपने दण्डे की धाक बैठाने सारे जगत के ऊपर! दण्डीजी! श्वे० स्था० साधु आरम्भादि कार्य की कभी भूल कर भी कोई प्रसशा नहीं करते। व्यवहार में भक्ति शब्द सेवा या सेवा-शुश्रूषा या आदर-सत्कार का बोधक होता। विश्वास न होतो उठाइये दण्डा और चलेजाइये किसी प्राथमिक पाठशाला के विद्यार्थी के पास पढने के लिए! एक मिनट से भी कम समय में वह आपकी इस सम्बन्ध की शका का समाधान करदेगा। अस्तु। बाहर गाँव से आए हुओं की सार-सभाल करने चाहे भक्ति कहो या शुश्रूषा या आदर-सत्कार सब एक ही बातें हैं। अतएव आनेवालों की सेवा करने वालों को "तुम तो बडे भक्त हो, (अर्थात सेवक हो सेवा-शुश्रूषा करने वाले हो सार सभाल करने वाले हो) या आये हुओं की सेवा करने की तुम्हारे मन बडी ही दिलचस्पी है ऐसा कहने मात्र से कौनसी दोषापत्ति आजाती है? जगत की समझसे तो इस में कोई भी दोषापत्ति नहीं है पर दण्डीजी की बुध्दि में कुछ भ्रम हो गया है। जब से दण्डे को उसने अपने हाथ में धारण करना स्वीकार किया है उसी दिन से इन्होने "सत्य शिव सुन्दरम्' के दर्शन करना अपना आँखो से भुला दिया है। जगत में देखा भी ऐसा ही जाता है। जब मनुष्य दाँत और आँत दोनो का काम केवल आँत ही से निकालना चाहता है तब उसके दाँत अपना, यों अप-

मान होते देव अपने आप जितनी भी जल्दी होगा है गिर पडने की चेष्ठा करते हैं। अस्तु। दण्डीजी आँखें तो बेचारी निकम्मी बन ही बैठी हैं। तब उनकी बुध्दि भरमाती फिरे तो बेचारी उस बुध्दि का भी क्या दोष है। परन्तु हाँ-

चन्दन पड्यो चमार घर नित उठे छीले चाम।
रोवै चन्दन सिर धुनै पड्यो नीच से काम ॥
-कबीर

इस उक्ति के नाते, दण्डीजी से पाले पड़जाने के कारण वह बुध्दि बेचारी रोती धुनकती अवश्य है। अस्तु। फिर दण्डीजी ! सेवा धर्म है भी तो महान् कठिन। हृदय में शुध्द सेवा के भावों का उदय होना परम सौभाग्यके लक्षण माने जते हैं। औरयों जो महा भागा पुरुष अपने आत्मो ध्दार और निजके उत्थान के लिए परार्थों की सेवा म रहता है वही सच्च कर्म योगी कहलाता है। देखिये सूत्रों में भी तो कहा गया है कि जिसने साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका रूप इन चार तीर्थों की सेवा की है, जिसने इन्हें साता पहुचाई है, तीर्थंकर भगवानों ने उस महा भागा पुरुष की दिल खोल कर प्रशंसा की है। तब फिर श्रावक वाले श्रावकों की सेवा—भक्ति करने वाले को यदि किसी श्वे० स्था० साधु ने 'भक्त' कह दिया, तो उसमें दोष ही कौनसा होगया ! आपका उसमें कौनसा मान-अपमान होगया।

देखिये, दण्डीजी ! इसी शुद्ध सेवा भाव के पवित्र उद्देश्य को लेकर, आज जगत् भर के कौने कौने में बालचर (scout) और स्वयंसेवक (Volunteer) दलों की स्थापना हो रही है। इतने पर भी यदि आपका आत्म सन्तोष न हो, स्वयंसेवक बनने बनाने और उनकी प्रशंसा समय असमय पर करने कराने में किसी भी प्रकार के मत घडन्त शास्त्र की आड आपकी आंखों के सामने आती हो तो आप अपनी ओर से इस बात को अवश्य जाहिर

करवादे जिससे आप दण्डियों की विशाल विद्वत्ताका भी लोगों को भान भली भांति हो जायगा और किसी काम में पाप की परछाईं को देखते हुए भी लोगों को कुमार्ग पर न लाने के कारण जिस दून पाप के भागी आप बनते, उससे बाल बाल आप बच जायेंगे।

दण्डीजी लिखते हैं कि "तीन रोज के दही में बहुत रोज के बाजार के चूर्ण में तथा आटा, मैदा, मसाला, कच्ची खांड, मेवा, घृत आदि अनेक वस्तुओं में कालमान उपरान्त उनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।"

दण्डीजी ने यह लिख कर अपनी ज़बान के चटोरपन को छिपाने की तो खूब ही बारीकी की है। दण्डीजी! "तीन रोज के दही में" ऐसा यदि न कहते तो गरमागरम मालपुओं के साथ दही खाना आपका कतई बन्द हो गया होता! इसलिए खोज खाज कर के 'तीन दिन' के विशेषण का आविष्कार दही के साथ जोड़ने के लिए आपको करना पड़ा। फिर तीन रोज का दही बिलकुल खट्टा चूस भी तो बन जाता है और वह ज़बान को अधिक जायकेदार नहीं जान पड़ता। बस यही कारण है कि तीन रोज के दही में त्रस जीवों की पैदायश आपने बताई है। दो या एक रोज के दही की बात कह बैठते। तब तो दण्डीजी के सिर-कन्धों न मालुम कौनसा कठिनाई का वज्र आ टूटता! दण्डीजी! यह तो आपने अपने खोपड़े को अपने दण्डे से घिस घिसाकर तैयार की हुई रसायन का स्वाद चखाया। अब ज़रा संसार की किसी रसायनशाला में चल कर आपकी इस रसायन की तुलना, वहां की उसी जाति की रसायन से भी कर लेने की तकलीफ फर्माइए देखिये, जीव-विशाल शास्त्र और रसायन शास्त्र आदि का नियम है कि जब किसी भी वस्तु के स्वाद में या रंग में या रूप में कोई अन्तर पड़ जाता है, तब उसमें कुछ ही देर के बाद भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणुओं

पेदा हो जाते हैं। फिर दण्डीजी! आपके गृहस्थों के घरों में बहुतसी चीज ऐसी होती है जो काल उपरान्त भी रक्खी ही रहता है। उनमें लटें, तलटे आदि जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। वर्षा में आटे के थोड़े दिन रक्खा रहने पर, उनकी भी यही दशा हो जाती है परन्तु गृहस्थ उन वस्तुओं में से जीव जन्तुओं को निकाल और अलग कर अपने भोजनादि के काम में फिर से उन्हें लाते हैं। उस आटे की फिर से रोटियां भी बनाई जाती हैं। वही रोटियां आप दण्डियों को भी बहराई जाती हैं। हमने यह भी कहीं देखा सुना नहीं कि आटे में साधारण रूप में लटें पड़ जाने पर उसे फेंक दिया जाता है या उस आटे की रोटियां आप दण्डियों को नहीं बहराई जाती हैं। फिर दण्डीजी! लटें अण्डों से पैदा होता हैं और लटों के अण्डे के बारीक दानों से बिलकुल मिलते जुलते होते हैं बड़ी २ लटें जो साधारणतः आंखों से दिख पड़ती हैं वे तो आटे को साफ करते समय बाहर निकाल दी जाती हैं, पर दण्डीजी! उनके अन्डों का उत्तर तो आप अपने पेट ही से पूछियेगा। अब और उदाहरण देने की कोई आवश्यकता अभी प्रकट नहीं होती। समय पर ऐसे पचासों उदाहरण पेश किए जा सकते हैं। क्या अब भी आप विचार नहीं करेंगे कि आपके द्वारा औरों के दोष ढूंढने और निजके लिए उन्हीं या वैसे ही दोषों को छिपाने में किस कदर का भारी अन्तर आप दिखा देते हैं। दण्डीजी अब तो इन कूटनीति की चालों से बाज आइये!

झूंठी भूंठी बातों को लिखते लिखाते रहते हैं। और यों सच्चे आत्मार्थियों की भर पेट निन्दा कर, लोगों को बहकाने का दिनरात प्रयत्न ये करते रहते हैं। परन्तु साच को आंच कहां ? इनके यों सर पटक पटक कर मर जाने पर भी लोग सत्य की सुराह को छोड़ इनकी ऐसी भूल भुलैया में नहीं आते। अब शिक्षा का प्रचार बढ़ चलने से लोग इन दण्डियों के मायाचार, मिथ्यात्व और छल छन्दों को भली प्रकार रोज रोज अधिकाधिक रूप से समझते जा रहे हैं, फिर भी मोक्षाभिलाषी, सरल हृदयी पुरुषों को इन मायावी और तामसी प्रकृति के पुरुषों के छल-छन्दों से बचते रहने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

दण्डीजी लिखते हैं "भगवती, ज्ञाताजी, उपाशकदशा, अन्तगड़दशा, अनुत्तरोववाइ, प्रश्न व्याकरण, उत्तराध्ययन, ओघ निर्युक्ति, प्रवचन-सारोद्धार आदि बहुत से शास्त्रों में साधु को गोचरी जाने के समय अपने पात्रों को ढँकने के लिए झोली के ऊपर वस्त्र के पड़ले रखने को कहा है।"

दण्डीजी का यह लिखना प्रत्यक्ष झूंठ है अथसे इति तक झूंठ से भरा हुआ है। क्योंकि भगवती, ज्ञाताजी, उपाशिकदशा, अन्तगढदशा अनुत्तरोवाई प्रश्न व्याकरण, उत्तराध्ययन आदि बत्तीस ही सूत्रों में कहीं भी गोचरी की झोली पर ढकने के लिये भगवतों ने पडला रखने का नहीं फरमाया है। और झोली के चारों कोनों के पल्लों को एकत्रित करके पकड़ने पर अपने आपही उन पल्लों का पडला बन जाता है। तब ऊपर से दूसरा कपड़ा (पडला) ढांकने की कोई आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

प्रवचन-सारोद्धार और ओघ-निर्युक्ति ये ग्रन्थ शास्त्रों में नहीं गिनने चाहिये, थे क्योंकि ये अल्पज्ञों के बनाये हुए हैं। परन्तु दण्डीजी ने इन्हें शास्त्रों की श्रेणी में रखकर, इन्हें भी शास्त्रों के नाम से पुकारा है। दण्डीजी की ये ही तो अल्प-बुद्धि और बौखलाहट की बातें हैं।

पाठको ! दण्डियों की फ़रेवी इतने सेही में रुक नहीं जाती। कुछ बानगी और चाखिये ! नाम तो वे बड़े बड़े शास्त्रों का लेते हैं और उनमें कहीं पर भी तो झोली के ऊपर कपड़े के पड़ले रखने का उल्लेख न होते हुए भी आप उन पड़लों का रखना अपने मायाचार से बस सिद्ध करते हैं। और सदा हांकते रहते हैं कि "लगे जाय तो तीर, नहीं तो तुक्का ही सही।" कैसी शरम की बात है कि बिल कुल नापायेदार बातों को वे सिर-पैर के प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा वे करते हैं। फिर मजा यह है कि खुद दण्डी लोग ही गोचरी की झोलीके ऊपर वस्त्र के पड़ले नहीं रखते। देखा पाठको! उनका यह उपदेश परायों ही के लिए प्रसिद्ध है निजके लिए तो इसको अमल में लाने की कोई आवश्यकता उन्हें है ही नहीं। वाह! धन्य! हां यदि झोली के ऊपर फिर झोली सरीखे कपड़े ही को वे ढक लेते होते तो भी कुछ कालके लिए दण्डी लोगोंका यह कहना सही समझो जा सकता था, परन्तु वैसा भी तो वे नहीं करते। जो बात जरा भी शास्त्र सम्मत नहीं है उसे वे अपनी अड़ंगेबाजी और छल-छन्दसे सिद्ध करते हैं। और खुद ही की शोधी व सिद्ध की हुई बातके अनुकूल वे खुदतक नहीं चलते। दण्डीजी, ये दुरंगी चालें पाठको! संसार चाहे कुछभी कहता सुनता रहे, दण्डीजी ने तो बस अपना एकही रास्ता अख्तियार कर रक्खा है कि "यह दुनिया झूठी और माया की माया मात्र है अत, जबतक इसमें झूठा और मायावी बनकर मनुष्य नहीं रहता उसके अपने जीवन का निस्तार यहाँ पल-भर को भी नहीं होता।" हां तभी तो जान पड़ता है कि दण्डीजी, "रोटी खाना शक्कर से और दुनिया ठगना मक्कर से" वाली दो मुख्य बातों की स्थापना एक ही साथ कर रहे हैं।

पाठको! यदि दण्डीजी कहेंगे कि गोचरी की झोली तो हम चद्दर से ढक लेते हैं। तो फिर ऊपर के कहे हुए सूत्रों का झूठ मूठ ही नाम लेकर यही बात दण्डीजी को जगत् के सामने रखनी

चाहिए थी कि "बद्‌दर से ही गोचरी की झोली को ढकने के लिए भगवन्तों ने फरमाया है।' परन्तु दण्डीजी अपनी इस दौड़ से भी दौड़ कर कब तक बच सकते थे। जब तक सूत्रों के ज्ञाता किसी विद्वान्‌ की इनसे मुठभेड़ न होती, दण्डीजी की यह धम-मरी दुकान शायद तभी तक भोली भाली जनता के सामने खुली रहती! परन्तु अन्त में कभी, न कभी तो, एक दिन अवश्य ही ऐसा आता कि जब "मुल्लों की दौड़ मसजिद तक" काज़ी की दौड़ कुरान तक" और दण्डीजी की दौड़ उनकी दुरंगीचाल तक" इन उक्तियों के नाते किसी विद्वान्‌ से पाला पड़ते ही घट वे सूत्रों के बन्धन से बांधे जाकर ओंधे सिर लटका दिये जाते!

दण्डीजी! अब वह जमाना गया कि जिन दिनों साधुओं के पास से रोटियां छीन-झपट कर अन्य भिक्षुक या भिखमंगे लोग ले जाते थे और यही कारण था कि उन दिनों चादरमें छिपाकर गोचरी लाने की अन्धरूढ़ी दण्डियों ने चलाई थी। पर आजका ज़माना अब वह ज़माना नहीं है अतः दण्डियो! अब तो अपनी इस अन्धरूढ़ी टेक को अपने खोपड़े में से निकाल दो और उसी अन्ध परम्परा की चाल को बिना पाये के इधर उधर के प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करने के लिए भगवती, ज्ञाताजी आदि सूत्र रूप भगवदाज्ञाओं का झूठा ही नामोल्लेख मत करो।

फिर भी दण्डीजी गोचरी को तो चादर से ढक लेते हैं परन्तु त्रपणी वगैरह को जिसमें दाल शाक, खीर वगैरह लाते हैं न तो झोली ही में रखते हैं और न उसे चादर से ही ढांकते हैं तब क्या दण्डीजी! शाक, दाल, खीर आदि ये गोचरी में नहीं गिने जाते हैं? कदाचित्‌ आपकी समझ में ऐसा ही होगा। यही कारण है कि आप त्रपणी को हाथ में लटकाए हुए ही लाते हैं। इस भांति गरम जल के पात्र को भी आप खुला ही अक्सर लाते हैं किसी वस्त्र विशेष से इसे नहीं ढँकते। तब क्या दण्डीजी! भगवन्तों ने आप लोगों को

ऐसा ही फरमा दिया है कि सिर्फ गोचरी जिसमें आपकी राय सरीफ से, रोटी, थूली, लड्डु चावल वगैरह ही शामिल हैं, उनको वस्त्र के पलड़े से ढांक कर लाना चाहिये और दाल, शाक, खीर, रायता, आम-रस और गरम जल के पात्रों को बिना किसी वस्त्र के पलड़ों के बिना ढांके ही ले आना चाहियें? दण्डी जी ऐसा प्रमाण तो किसी भी सूत्र में कहीं भी नहीं पाया जाता है। बिना ही किसी प्रकार के शास्त्रीय प्रमाणों के शास्त्र सम्मत धर्म की अवहेलना करते हुए अपने हुआंते के लिए कुछ का कुछ मान कर करते रहना केवल अपनी मक्कारी और मन-चढन्त मनसूबों की फर्मायश मात्र है।

थोड़े नीचे चलकर दण्डीजी उसी परिलेख में फिर यों फर्माते हैं—"ढूंढिये खुली झोली में आहार-पानी लेकर आते हैं। तब कभी उसमें हवा से सचित रज आदि गिर जाती है। अकस्मात् वर्षा की जल बूंदें भी कभी उसमें गिर पड़ती हैं और अधिक हवा के जोर से इमली, नीम, बड़ आदि के पत्र, पुष्प, फल वगैरह भी उसमें गिर पड़ते हैं।"

दण्डीजी! आपके इस प्रकार का दोषारोपण हमारे ऊपर करने से हमें एक बात की याद आ गई। अकसर गांवों के लोग गांवों की सीमा ही के आस पास से बाड़ों आदि में टट्टी फरागत को जाया करते हैं। लोगों की रफ्तार भी वहां कभी ज्यादा और कभी कमती रूप से ज्यादा कमती होती ही रहती है। तब लोग कमर से नीचे के भाग को खुला कर टट्टी जाते जाते उठते तो नहीं हैं परन्तु हां शर्म के मारे या तो वे सिर को नीचा कर लेते हैं या आंखें बन्द कर गर्दन को नीचे की ओर झुकाए बैठे रहते हैं। और तब वे मन में समझ लेते हैं कि हमारे ऐसा कर लेने से संसार हमें देखता भालता नहीं है। पर बात दर असल में ऐसी नहीं होती। यह बिलकुल उसकी ओंधी होती है। संसार उनके कामों को तो

जरूर देखता है, परन्तु वे संसार की ओर न देखने का बहाना किए बैठे रहते हैं। पाठको! हमारे ऊपर लगाए हुए ऊपर के दोषारोपण में भी दण्डीजी की वही चाल अथ से इति तक पूरी २ घटित होती है। सज्जनो! दण्डीजी का कहना बिलकुल औंधा है। श्वे० स्था० जब कभी भी कोई आहार पानी लाते हैं, झोली ही में पात्रों को रख कर लाते हैं और उस झोली को चारों कोनों के चारों पल्लों से हाथ में ऊपर उठाये रहते हैं। झोली के भीतर का आहार पानी उसके चारों ओर के वस्त्र से पूरा पूरा ढका रहता है। वह कभी भी और किसी भी हालत में जरा भी खुला हुआ नहीं रहता और न संसार ही को वह खुला हुआ कभी नजर आता है। इस बात को क्या बच्चा और क्या बूढ़ा सभी और सब ठौर के लोग भली भाँति से जानते हैं। पहले तो आहार पानी की झोली को इस प्रकार सम्भाल कर लाया जाता है कि उसके ऊपर सचित रज वर्षा के जल की बूंदें, इमली, बड़, नीम आदि के पत्ते, फूल, फल, वगैरह किसी भी हालत में गिर ही नहीं सकते। इतनी सम्भाल के रखते हुए भी कदाचित कभी गिर भी जाय तो वे झोली के ऊपर ही ऊपर रह आयगे पर आहार पानी में तो किसी प्रकार भी गिरने नहीं पावेंगे। परन्तु पाठको! "जिसे पीलिया रोग हो जाता है, सारा संसार तब उसे पीला ही पीला नजर आता है।" और "सावन के अन्धे को सर्वत्र और सब काल फिर चाहे वह मरु-भूमि में भयकर ग्रीष्म के झोके ही क्यों न खा रहा हो, हरा ही हरा दीख पड़ता है" इन उक्तियों की सचाई के अनुसार बेचारे दण्डीजी भी अपने अनुभव की आप बीती बात संसार को बता रहे और कह रहे हैं। वह कैसे? सो देखिये! दण्डी लोग तर्पणी और पानी का पात्र खुल्लम खुल्ला हाथ ही में लाते हैं। उनमें दण्डीजी के कथनानुसार सचित रज और वर्षा के जल की बूंदें आदि आदि अवश्य ही और कितनी ही बार गिर पड़े होंगे और समय असमय आज भी गिरते रहते होंगे।

पाठकों बात तो दूर असल में यों थी, और घटा दिया उसे श्वे० स्था० साधुओं के ऊपर। वाह! धन्य शायद, इसी मक्कारी के बल मोलपुआ और दही के ऊपर हाथ सफा आप करते होवें। दण्डीजी सचमुच में ऊपर कही हुई हिंसा से आप खुद बचना चाहते हैं, तो श्वे० स्था० साधुओं की भांति झोली ही में रख कर अपनी और जल-पात्र आदि को लाइयें। परन्तु जहां तक आप ऐसा नहीं करेंगे आपही के मुख के न्याय के अनुसार आप हिंसा के पात्र बनेंगे।

आगे चल इसी परिलेप में, दण्डीजी फिर फरमायश करते हैं कि—"कभी गृहस्थ लोग बर्तनों का झूठा और मैला जल अपने मकानों के ऊपर से गली आदि में फेंकते होवें उस समय ढूंढिये साधु उस रास्ते से होकर जाते होवें, तो उसमें से जल के छींटे कभी आहार पानी आदि पर गिर जाते हैं।"

दण्डीजी का यह लिखना भी नितान्त मिथ्या है। इसके लिए भी हमारा ऊपर कहा हुआ कथन ही काफी था। परन्तु दण्डीजी यदि नहीं मानते हैं, तो एक दो बातों को, इसी से सम्बन्ध रखती हुई, निरपरी चटनी उन्हें और भी यहां चखाये देते हैं। दण्डीजी! हम अभी अभी कुछ ही ऊपर आपसे कह आये हैं कि श्वे० स्था० साधु अपनी गोचरी तथा पानी के पात्रों को खुले न रखकर सदा झोली ही के अन्दर, चलते फिरते समय रखते हैं। इस लिए आहार पानी में अशुद्ध व झूठे जल के छींटे कभी हरगिज नहीं लग सकते। यदि कभी दैववशात् ऐसा मौका आ भी जाय, तो वे छींटे झोली ही के ऊपर लग कर रह जावेंगे। परन्तु झोली के भीतर किसी भी हालत में उनका प्रवेश नहीं हो सकेगा। क्यों, कि, वहां झोली के चारों कोनों के चार पल्ले और उनको एकी करण करके अपने अधिकार में रखने वाला एक हाथ, ऐसे पाँच रक्षक प्रति समय मौजूद रहते हैं। इन पाचों रक्षकों का काम है, कि जहां अपने शरण में आये आहार पानी को, अशुद्ध व झूठे जल की बूंदों, और सचित्त

रज आदि के अचानक होने वाले आक्रमणों से रक्षा करते हैं। यहां उन्होंने सन्तों की सत्संगती के प्रभाव से, अपनी वृत्तियों को भी एकान्त रूप से अहिंसा-मय और प्रेम-पूर्ण बना लिया है। एक बार, जहां, ये आक्रमण कारी जल-बूंदों को उनके सम्मिश्र बनकर, उनके अपने रूप को अपने रूप में मिला लेते हैं, तो कभी कहीं दूसरी बार, सचित रज आदि के वारों को प्रेम-पूर्वक अपने सर-कन्धों भेल लेते हैं, और उन्हें झोली रूप किले के अन्दर जाने से बाहर ही बाहर रोके रहते हैं। कहिये पाठकों! सन्तों का समागम और सत्संगति का प्रभाव, जड़ और चेतन सभी पर, कैसा विचित्र जादू अपना डालता है, और उनके जीवन को किस कदर प्रेम पूर्ण और अहिंसामय बना देता है। यों दण्डीजी! झोली के अन्दर का आहार-पानी, तो गहले छींटों से बाल बाल बच जायेगा। बात रही अब झोली की। सो यदि ऐसा अवसर आ जाय तो झोली को धो डाली जावेगी। पर पूरी पूरी सराबी तो दण्डियों! इसमें आप ही की है। क्योंकि, शाक खीर, दही आदि को तपणी और जल के पात्रों को आप ही लोग अक्सर खुल्लमखुल्ला लाया करते हैं। और यों रास्ते में कहीं पर, कोई गृहस्थ झूठा या मैला पानी मकान के ऊपर से, अचानक फेंकता हो, या ऊपर मोरी आदि में पेशाब करता हो, कै करता हो, तो उसके छांटे, आपके खुले हुए पात्रों में प्रवेश कर, उनमें के पदार्थों में, क्षीर-नीर के न्याय से घुल-मिल जाते हैं। बताइये, दण्डीजी! बात सच है या झूठ? और यदि सच है, तो कौनसी रसायन क्रिया के द्वारा अब आप उन पात्रों के अन्दर के पदार्थों को शोधेंगे! अतः दण्डीजी! जल, तपणी, आदि पात्रों को झोली के अन्दर ही रख कर लाया करें। क्यों, सर्वज्ञ शासन की अवहेलना कर के, अधोगति के जान बूझ कर अधिकारी बनते हैं।

कुछ ही दूर चल कर दण्डीजी उसी लेख खण्ड में फिर यों कहते हैं—"कभी लोग मुर्दे का ले जाते होवें, तो उसकी छाया, आहार पानी पर गिर जाती है। आकाश में चील, कौए आदि यदि उड़ते हुए विष्टा करदें, तो उसके छांटे भी आहार पानी पर गिर जाते हैं।"

कम्बल ओढ़े रहना और उसके द्वारा आगामी संसार के सन्मुख कुरीतियों का आदर्श रखना, यह आपको मोहान्ध दशा का बताने वाला नहीं, तो और क्या है ?

दण्डीजी ! कम्बल रखने के लिए किसी साधु को मनाई नहीं है। दो सूती तो एक ऊनी वस्त्र सभी साधु अपने पास रख सकते हैं। श्वे० स्था० साधु अकसर इसी प्रकार वस्त्र अपने पास रखते भी हैं। परन्तु सूर्योदय के पश्चात् भी अपने सिर को दण्डियों के समान ढक कर, वे बाहर आते जाते नहीं। यदि जैन साधु लोग ही ऐसा आदर्श जगत् के सामने रखने लग जाँय, तो फिर भगवन्तों ने उन साधुओं के लिए शीत परिषह सहने को क्यों फर्माया ?

दण्डी जी की फर्मायश है कि "सर्व तीर्थङ्करों के दीक्षा समय में इन्द्र कम्बल कन्धे पर रखते हैं, इससे हम भी रखते हैं।"

दण्डियों ! क्यों अपनी अज्ञानता को जग जाहिर करते हो ! क्यों, अपनी बुद्धि का दिवाला खसकाते हो ! पहले तीर्थंकरों की करणी का उनके सद्गुणों के भण्डारों का सहस्त्रांश तो अनुकरण करना सीखलो ! तब उनकी बराबरी में अपने आपको रखने और गिनाने का प्रयत्न करो, तो तुम्हारा यों कहना कुछ फब भी सकेगा। अन्यथा तुम्हारे यों कहते रहने का यों जल्लाते रहने का, जगत कोई मूल्य नहीं समझता। फिर, यदि बराबरी ही करने चले, तो क्या केवल इसी बात में ? उनकी और कष्ट साध्य और लोक परलोक हित कारक बातों में नहीं ? दण्डी जी ! तीर्थंकर एक कम्बल के सिवाय और कोई भी वस्त्र अपने लिए नहीं रखते। फिर, क्यों नहीं आप भी एक कम्बल पर अपना जीवन बसर करते ? चादर चोलपट्ट आदि आदि वस्त्रों को तब आप क्यों रखते हैं ? वाह ! धन्य ! "मीठा मीठा गप गप और कड़वा कड़वा थू थू" करना और जगत को अपनी मक्कारी से ठगना तो आपने खूब ही सीखा ! दण्डियों ! तीर्थंकरों का नाम लेले कर, अपने बाये कन्धे पर, कम्बल रखते हुए, क्यों अनेक तीर्थङ्करों की नकल करते हो और महान् कर्म बन्धन के भागी बन रहे हो ? चेतो, अब भी समय है ! भगवान् आपकी बुद्धि को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

॥ ॐ ॥

णमो णाणस्स

जाहिर उद्घोषणा नं० ३ का उत्तर

शरीर शुद्धि का निर्णय

प्रिय पाठको ! दण्डी मणि सागरने जो जाहिर उद्घोषणा न० ३ लिखा है वह मिथ्या, भ्रम पूर्ण और द्वेष से लबालब भरा होने से क्रमश उसका उत्तर भी दे देना हम ठीक समझते हैं।

दण्डीजी ! शास्त्रों में (सूत्रों मे) चार प्रकार का आहार पानी रात्री में रखने का क़तई निषेध है। उसी के अनुसार श्वे० स्था० जैन मुनि कहते हैं और सूत्रानुसार उनका कथन यथातथ्य है। यदि तुम्हारे चक्षु हों तो प्रश्न व्याकरण का सवराधिकार देखो। भगवान् वहा क्या फरमाते हैं।

"जपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पगारमि समुपन्ने वायाहिकपित्तसभियतिरित्तकुवियतहसण्णिवायजाए वा उदय पत्ते उज्जलबलविउलकक्खडप्पगाढदुक्खे असुहकडुयफरुसचण्डफलविवागे महभए जीवियतकरणे सव्वसरीरपरितावणकरणे न कप्पई तारिसेवि तह अप्पणो परस्स व उसहभेसज्ज भत्तपाण च तपि सन्निहिकय।"

अर्थात्—भगवान् की आज्ञा में विचरने वाले साधु यदि कभी कर्म वश सुख से रहित विस्तीर्ण रूप अत्यन्त दुखदाई महा भयकर जीवन का अन्त करने वाले ज्वर, शूल, कफ, पित्त, वाय, विरेचन (दस्त) व्याधि आदि कई प्रकार की पीडा से दु खी हों तो भी व रात्रि में अपने पास औषध, आहार, पानी कुछ भी न रक्खें, रखना अकल्पनीय है। अर्थात् रखने की बिलकुल मुमानियत है।

तब फिर दण्डीजी सोचिये कि ऐसी भयकर वेदना के समय और दस्त की बीमारी में भी रात्रि को जल रखना मना है तो निरोग हालत में रात्रि के समय पास में जल रखने की आज्ञा होना कैसे सभव है ? अतएव आप अपनी बुद्धि ठिकाने रख शातता से कार्य करो तो ठीक हो।

आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि अन्न जल खाने पीने के वास्ते रात्रि में रखने का निषेध है किन्तु शुचि के लिए जल रखने का निषेध नहीं।

यदि दण्डीजी उपरोक्त मन घड़न्त गप्प आप न हाके तो पडित माने कौन ? क्योंकि उनके माननीय बत्तीस सूत्रों में तो कहीं भी रात्रि को शुचि के लिये जल रखने का विधान नहीं है। पाठकों ! यदि इसका प्रमाण होता तो क्या दण्डीजी वह प्रमाण लिखते हिचकिचाते? दण्डीजी को योग्य था कि इस प्रश्न के निपटारे के लिये कोई शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत कर पाठकों के सन्मुख रखते जिससे उनका कहना ठीक मालूम होता। पर दण्डीजी प्रमाण दें तो भी कहा से ? बत्तीस सूत्रों में तो कहा भी उल्लख है नहीं। हा, दण्डीजी ! मुह से चाहे जो कह दें क्योंकि वाचाल हैं। यदि एकाध भी प्रमाण मिल जाता तब तो कबूतर की तरह पेट फुला कर पाच चार पेज भर देते या उनकी देख रेख में बत्तीस सूत्र लिखे जाते या मुद्रित किये जाते तो निस्सदेह उसमें इस विषय को घुसाये बिना वे नहीं मानते। पर क्या करें। हाथ से बाजी निकल गई, अतएव दण्डीजी का रात्रि मे जल रखने का लिखना मिथ्या और नितान्त सूत्र विरुद्ध ठहरा।

आगे चल कर दण्डीजी ने श्वे० स्था० आम्नाय की ओर से प्रकाशित निशीथ सूत्र का प्रमाण दिया है कि शुचि नहीं करने वाले को दण्ड आता है।

दण्डीजी का यह लिखना निरी निर्विवेकता का है क्योंकि कौन ऐसा अघोरी है जो टट्टी फिर कर शुचि नहीं करता होगा ? श्वे० स्था० जैन मुनि का तो खास ध्येय ही यह है कि वे शुचि किये बिना शास्त्राध्ययन नहीं करते और इसी मन्तव्य पर वे आज तक डटे हैं। फिर क्या दण्डीजी ख्वाब देखने लगे कि श्वे० स्था० जैन मुनि शुचि नहीं करते (या उनको गुप्त सु पने गए) जिससे दण्डीजी ने शुचि नहीं करने का आरोप लिख दिया। सच पूछा जाय तो दण्डीजी को बुद्धि का अजीर्ण हो गया है नहीं तो वे ऐसी उटपटाग व असत्य बातें लिख कर पेज काले नहीं करते।

आगे चल कर दण्डीजी ने बतलाया है कि दिन में शुचि के लिये जल रखने की मर्यादा है तो फिर रात्रि में रखने में कोई दोष नहीं।

वाह! दण्डीजी! वाह!! सूझी तो खूब ही दूर की। भगवान् से भी बढ कर आपकी पूजा होनी चाहिये। आप तो भगवान् से उच्च पद पाने की लालसा में डूब पड़े। पाठको! क्या भगवान् सर्वज्ञ ज्ञानी को इस बात का ज्ञान नहीं था कि वे प्रश्नव्याकरण में रात को बुखार दस्त आदि मरणान्त कष्ट में तो जल रखने की मनाई नहीं करते ? फिर प्रश्न व्याकरण में निषेध लिख निशीथ सूत्र में जल रखने की भगवान् कैसे आज्ञा दे सकते हैं ? कभी नहीं, दण्डीजी का लिखना सरासर मिथ्या है।

महोदयो! निशीथ सूत्र म शुचि के कथन में जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय यह है कि साधु को प्रथम तो रात्रि में टट्टी जाने का काम ही बहुत कम पडता है यदि अकस्मात् किसी समय पड भी जाय तो रात्रि के समय शारीरिक शुचि के लिये जो विधि शास्त्र में बतलाई गई है उसी विधि के साथ रात्रि में शरीर को शुद्ध करते हैं। तदपि सूर्योदय होते ही साथ वाला दूसरा साधु शुचि के लिये जल ला देता है फिर उस जल से अपने शरीर को शुद्ध कर लेते हैं। यदि शरीर को

तब फिर दण्डीजी सोचिये कि ऐसी भयंकर वेदना के समय और दस्त की बीमारी में भी रात्रि को जल रखना मना है तो निरोग हालत में रात्रि के समय पास में जल रखने की आज्ञा होना कैसे संभव है ? अतएव आप अपनी बुद्धि ठिकाने रख शातता से कार्य करो तो ठीक हो ।

आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि अन्न जल खाने पीने के वास्ते रात्रि म रखन का निषेध है किन्तु शुचि के लिए जल रखने का निषेध नहीं ।

यदि दण्डीजी उपरोक्त मन घड़न्त गप्प आप न हाके तो पडित माने कौन ? क्योंकि उनके माननीय बत्तीस सूत्रों में तो कहीं भी रात्रि को शुचि के लिये जल रखने का विधान नहीं है। पाठको ! यदि इसका प्रमाण होता तो क्या दण्डीजी वह प्रमाण लिखते हिचकिचाते? दण्डीजी को योग्य था कि इस प्रश्न के निपटारे क लिये कोई शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत कर पाठकों के सन्मुख रखते जिससे उनका कहना ठीक मालूम होता। पर दण्डीजी प्रमाण दें तो भी कहा स ? बत्तीस सूत्रों में तो कहा भी उल्लेख है नहि । हा, दण्डीजी ! मुह से चाहे जो कह दें क्योंकि वाचाल हैं। यदि एकाध भी प्रमाण मिल जाता तब तो कबूतर की तरह पेट फुला कर पाच चार पेज भर देत या उनकी देख रख म बत्तीस सूत्र लिखे जाते या मुद्रित किये जात तो ,निस्सदेह उसमें इस विषय को घुसाये बिना वे नहीं मानते । पर क्या करें। हाथ से बाजी निकल गई, अतएव दण्डीजी का रात्रि में जल रखने का लिखना मिथ्या और नितान्त सूत्र विरुद्ध ठहरा ।

आगे चल कर दण्डीजी ने श्वे० स्था० आम्नाय की ओर से प्रकाशित निशीथ सूत्र का प्रमाण दिया है कि शुचि नहीं करने वाले को दण्ड आता है ।

दण्डीजी का यह लिखना निरी निर्विवेकता का है क्योंकि कौन ऐसा अघोरी है जो टट्टी फिर कर शुचि नहीं करता होगा ? श्वे० स्था० जैन मुनि का तो खास ध्येय ही यह है कि वे शुचि किये बिना शास्त्राध्ययन नहीं करते और इसी मन्तव्य पर वे आज तक डटे हैं। फिर क्या दण्डीजी ख्वाब देखने लगे कि श्वे० स्था० जैन मुनि शुचि नहीं करते (या उनकी गुदा सुंघने गए) जिससे दण्डीजी ने शुचि नहीं करने का आरोप लिख दिया। सच पूछा जाय तो दण्डीजी को बुद्धि का अजीर्ण हो गया है नहीं तो वे ऐसी उटपटाग व असत्य बातें लिख कर पेज काले नहीं करते।

आगे चल कर दण्डीजी ने बतलाया है कि दिन में शुचि के लिये जल रखने की मर्यादा है तो फिर रात्रि में रखने में कोई दोष नहीं।

वाह ! दण्डीजी ! वाह !! सूझी तो खूब ही दूर की। भगवान् से भी बढ कर आपकी पूजा होनी चाहिये। आप तो भगवान से उच्च पद पाने की लालसा में डूब पडे। पाठको ! क्या भगवान् सर्वज्ञ ज्ञानी को इस बात का ज्ञान नहीं था कि वे प्रश्नव्याकरण में रात का बुखार दस्त आदि मरणान्त कष्ट में तो जल रखने की मनाई नहीं करते ? फिर प्रश्न व्याकरण में निषेध लिख निशीथ सूत्र में जल रखने की भगवान् कैसे आज्ञा दे सकते हैं ? कभी नहीं, दण्डीजी का लिखना सरासर मिथ्या है।

महोदयो ! निशीथ सूत्र में शुचि के कथन में जो कुछ कहा है उसका अभिप्राय यह है कि साधु को प्रथम तो रात्रि में टट्टी जाने का काम ही बहुत कम पड़ता है यदि अकस्मात् किसी समय पड भी जाय तो रात्रि के समय शारीरिक शुचि के लिये जो विधि शास्त्रों में बतलाई गई है उसी विधि के साथ रात्रि में शरीर को शुद्ध करते हैं। ...ने, सूर्योदय होते ही साथ वाला दूसरा साधु शुचि के लिये जल ... २
फिर उस जल से अपने शरीर को शुद्ध कर लेते हैं। ...

शुद्ध किए बिना ही सूत्र का पठन पाठन करे तो उसके लिए दण्ड विधि है यह हमें और तुम्हें सभी को माननीय है।

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि—"यदि (स्थानकवासी साधु , कहे कि पहिले के साधु शरीर शुचि के लिये रात्रि में जल नहीं रखते थे इसलिये अब भी रखना उचित नहीं।"

यह भी दण्डीजी का लिखना नितान्त मिथ्या है क्योंकि जैसा दण्डीजी ने लिखा वैसा जैन श्वे० स्था० मुनि कभी नहीं कहते हैं क्योंकि पहिले के साधु भी सूत्रानुसार रात को जल नही रखते थे और अब भी सूत्रानुसार रात मे जल नही रखते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"पहिले के साधु २-४ दिन में अन्न खाते और जगल में रहते उनके ऊट, बकरी की मींगणी की तरह पाखाना होता वह भी निर्लेप बहुत दिनों में होता था।

दण्डीजी! तुम्हारी कल्पना कितनी हास्यास्पद है? क्योंकि टट्टी फिरने पर तो गुदा निर्लेप रह ही नही सकती किसी अनपढ बच्चे से भी पूछिये। महोदयो! भला जो अन्न खायगा चाहे वह जगल में ही क्यो न रहता हो दो दो चार चार रोज बाद ही क्यों न खाता हो पर जब खाते थे तो टट्टी भी जाते ही थे। फिर टट्टी मींगणी की तरह ही निकलती हो पर गुदा पर कुछ न कुछ लेप तो अवश्य लगना ही था। फिर गुदा निर्लेप होने की कल्पना कितनी असगत है?

यह कभी नही हो सकता कि जगल में रहने वाले ध्यानी, तपस्वी साधु की जठराग्नि बहुत तीव्र होने से पाखाना नही होता हो। प्रत्युत जठराग्नि की प्रबलता से बहुत जल्द पाचन हो कर जल्द २ पाखाना होता होगा, और यह भी नहीं कि आसन एवम् क्रिया के योग से पाखाना ही नही होता हो तो कहिए दण्डीजी! तपस्वी और ध्यानी साधु जगल व पहाड़ों में रहने वाले अकस्मात् रात को टट्टी होने पर

किस प्रकार शुचि करते होंगे ? क्योंकि उनके पास रात्रि में जल तो रहता ही नही था। गांव में गए भी उन्हें दो २ तीन २ दिन हो जाते थे फिर जल कहां से आता ? पाठक ! दण्डीजी केवल अज्ञता के वश रात में उनको जंगल पेशाब का काम नहीं पड़ता ऐसा लिख कर भोलों को भरमाने का प्रयास करते हैं पर क्या कोई मान सकता है ? ध्यानी साधु अन्न खाने पर अकस्मात् रात्रि को टट्टी नहीं फिरे या पेशाब नहीं करें यह कोई विचार शील व्यक्ति सच मान सकता है ? नहीं, कोई नही मान सकता। पेशाब तो रात्रि को कई बक्त जानेका अवसर आता है और टट्टी भी कभी २ रात्रि को अकस्मात् आने का मौका हो ही जाता है।

पाठको ! इससे यह बात सिद्ध हुई कि जंगल पहाड़ों में रहने वाले जैन साधु रात को जल नहीं रखते थे और यह बात दण्डीजी भी आगे जाकर इसी उद्धोरणा के इसी पेरे में स्वीकार भी करते हैं। अत एव जंगल में रहने वाले साधु टट्टी फिरने पर जिस प्रकार रात्रि के व्यतीत होते ही सूर्योदय होने पर शुचि कर लेते थे उसी प्रकार अब भी पहिले साधुओं की तरह श्वे० स्था० जैन मुनि शुचि कर लेते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"स्वाद के लोभ से दिन भरमें तीन २ बार अच्छे २ पक्वान्न और दूध दही, घृत, खीर, बड़े, पकौड़ी, रायता आदि गरिष्ठ पदार्थ अधिक खाकर १०–५ बार खूब गहरा जल पीते हुए शरीर को पुष्ट करते हैं।"

यह भी दण्डीजी का लिखना नितान्त मिथ्या एवम् द्वेष जनक है क्योंकि श्वेताम्बर स्था० जैन मुनि न तो स्वाद के लोभ से प्रमाण से अधिक तीन २ चार २ बार भोजन खाते हैं और न प्रमाण से अधिक जल पीते हैं इसके ज्वलन्त उदाहरण एक नहीं अनेक हैं।

देखिये ! श्वे० स्था० जैन मुनियों में बहुत से मुनि महिने महिने, दो २ महिने ढाई २ महिने की तपस्या करते हैं। कोई एकान्तर बेले २

दण्डीजो ! पहिले के तपस्वी, ध्यानी, ज्ञानी साधुओं का अनुकरण करना यही चारित्र का मूल मन्त्र है। और उसी का अनुकरण करने के लिये अनेकों पयन्ने रचे गए और आज भी पूर्वजों का अनुकरण करने के लिये सैकडों इतिहास तैयार हो रहे हैं। वे इतिहास पूर्वजों के सदृश शूर, वीर, धीर होने का उपदेश दे रहे हैं। कौन ऐसा मतिमन्द है जो अपने पूर्वजो का अनुकरण न करता हो यदि कोई आज पहिले के तपस्वी, ध्यानी, ज्ञानी पूर्वज साधुओं का अनुकरण नहीं करेगा तो उसे चारित्री (साधु) कौन कहेगा ? जिस प्रकार पहिले के साधु श्वेत वस्त्र पहनते थे उसी का अनुकरण कर आज भी सूत्रों में श्वेत वस्त्र पहिनने का उल्लेख है। उसी प्रकार पच महाव्रत, छट्ठा रात्रि भोजन निवृत्ति व्रत आदि सभी कुछ साधु की क्रिया पहिले जैसी अभी भी करने का जगह २ उल्लेख है तो फिर कहिए दण्डीजी ! पूर्वजों का अनुकरण करने में ऐसा कौन मूर्खों का सरदार है जो दोष कह बैठेगा ! जिसको कुछ भी ज्ञान एवम् ऐतिहासिक जानकारी होगी वह तो पूर्वजों के अनुकरण में कभी दोष न कहेगा।

जिनागमों में अनेक जगह पहिले जैसे साधु का अनुकरण नहीं करे तो उसे दोषी और कुलिंगी साधु कहा है।

दण्डीजो ! पहिले के साधु स्त्री को नहीं छूते थे इसी प्रकार उनका अनुकरण करने वाले साधु स्त्री का स्पर्श नहीं करते है। बस इसीको अनुकरण कहते और इसी प्रकार अनुकरण करने वाले को साधु कहते हैं। अतएव अनुकरण करने मे ही चारित्र है। तात्पर्य यह है कि पहिले के तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी साधु रात्रि को जल नहीं रखते थे उसी प्रकार अब भी साधु सूत्रानुसार जल नहीं रखते हैं।

दण्डी जी ! जैन सूत्रों मे जैन मुनियों के लिये रात्रि को चारों ही प्रकार के आहार खाना या अपने भोग मे लना मना है और इसी आज्ञा को दृढी भूत करने के लिये भगवान् ने दूसरी यह भी आज्ञा

चित्र परिचय के लिये



(६) प्रभाचन्द्र राजर्षि से राज सम्बन्धी सन्देश सुना रहा है।

प्रतिपादन की कि चारो ही प्रकार के आहारो मे से किंचिन्मात्र भी अन्न जल रात को जैन मुनि अपने पास नहीं रक्खे। इन दोनों आज्ञायों मे रात का खान पान और पास रखना भी निषेध हो चुका। दण्डी लोग किस आधार पर रात को अपने पास जल रखते हैं यह नहीं समझ मे आता, यह उनका केवल हठाग्रह है।

यदि दण्डी लोग कहेंगे कि रात को जल पीने के लिये रखने का निषेध है किन्तु शुचि के लिये रखने का निषेध नहीं है। यह भी दण्डी लोगों की हठ बुद्धि है। क्योंकि सूत्र मे सर्वथा प्रकार से अपने भोग अर्थात् काम मे लाना मना किया है तो फिर शुचि के लिये जल रखना बाकी कहा से रह गया? रात को खाना पीना नहीं और पास भी रखना नहीं इन दोनों स्पष्ट आज्ञाओं से ज्ञात होता है कि कोई मुनि शरीरादि पर ममत्व ला असह्य कष्ट होने पर प्रासुक अन्न जल देख रात के स्वल्प दोष को समझ सेवन करले पौष्टिक पाक या औषधादि खा लेवे, लेपादि का उपयोग कर लेवे, जल पी लेवे, या धाने धाने के कार्य में ले लेवे इसलिये भगवान् ने खाने पानेकी वस्तु मात्र रातको पास रखने और उसे अपने काम मे लाने को सर्वथा मनाइ की है।

महोदयो! भगवान् की इस प्रकार आज्ञा होन पर आत्मार्थी विशुद्ध चारित्री साधु अन्न जल रात में पास रख कर भोग म तो लेंगे ही नहीं किन्तु वे अपने पास रखने की मन करके भी वाञ्छा नहीं करेंगे और न ऐसे मुनि विहारादि करते समय वनादिक में नदी तलावों का सचित जल पीने को इच्छा ही करेंगे। इनके विरुद्ध भगवद् आज्ञा विराधक उत्सूत्र भाषी कुलिंगी साधुओं के लिये तो कहना ही क्या है? वे तो अन्न जल औषधि आदि रात में अपने पास रख भी ले और कष्टादि के समय जल एवम् औषधि रात को भोग भी ले तथा विहार करते समय मार्ग में नदी तालावों का कच्चा जल पी भी लें तो ऐसे पतितों के सामने प्रभु आज्ञा करे भी तो क्या?

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि "चूना डाला हुआ पानी पीने से जठराम, कण्ठ, कलेजा फट जाता है।"

यह भी दण्डीजी का लिखना महा मिथ्या है क्योंकि भगवान् की आज्ञानुसार रात में पास जल रखना नहीं यह उचित है किन्तु भगव दाज्ञा के विरुद्ध रात को पास जल रखना अनुचित है। यह अनपढ़ यथा भी जान सकता है कि जो भगवान की आज्ञा का पालन करते हैं वही उचित है अतएव दण्डीजी का लिखना अनुचित हुआ। इसका विशेष खुलासा इसी घोषणा में प्रथम लिखा जा चुका है। अब धोवण जीवाकुल लिखा यह भी दण्डीजी का लिखना सूत्रानुसार विरुद्ध है क्योंकि सूत्रों में जैन मुनियों को धोवण पीने का भगवान् ने हुक्म दिया है और धोवण कितने प्रकार का होता है यह भी बतलाया है, तो फिर दण्डीजी! यदि धोवण जीवाकुल होता तो सर्वज्ञ भगवान धोवण पीने की आज्ञा क्यों देते? अस्तु, इसका विशेष खुलासा जाहिर उद्घोषणा न० २ के उत्तर में सविस्तृत हो चुका है अतएव पाठक वहां देख कर दण्डीजी की अक्ल को परख लें।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में चूना डाला हुआ पानी रात में रखने का लिखा यह भी दण्डीजी के लिये विचारणीय है क्योंकि जैसा दण्डीजी ने पहिले चूने के पानी से कण्ठ कलेजा आदि को व्याधि होना लिखा है उसी मुआफिक क्या गुदा को व्याधि नहीं होगी?

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि "रात्रि में कितना २ जल रखना चाहिये इसका कोई वजन प्रमाण सूत्र में नहीं है इसलिये रखना योग्य नहीं है यह भी अनसमझ की बात है।

यह लिखना दण्डीजी का सरासर अज्ञानता का है क्योंकि कौन ऐसा श्वे० स्था० जैन मुनि होगा जो भला सूत्र में पानी रात को रखने का निषेध होने पर भी जल रखने का वजन और प्रमाण मांगेगा? जब सर्वथा रखना ही निषेध हो चुका तो फिर वजन और प्रमाण किसके लिये माना जाय?

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में बतलाया है कि "जितने

जल से तृषा शांत हो सके उतना जल पीकर अपनी तृषा शांत करले इसका कोई वजन और प्रमाण नहीं इसी तरह से जितने जल से शुचि होसके उतना जल रात्री में रख ले।"

महोदयो! इस प्रकार निग्र पर दण्डीजी पाता अक्षर भैंस बराबर वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। क्योंकि उनको उनके मान नीय सिद्धान्तों का भी बोध नहीं है। देखिये, दण्डी लोगों के माननीय और उन्हीं की ओर से प्रकाशित व्यवहार सूत्र के पृष्ठ पर जो भी दिन में शुचि के लिये तीन पसली ही पानी लेना लिखा है तो फिर इन दण्डी लोगों के माननीय सिद्धान्त को त्याग शुचि के लिये कितना जल होना चाहिये, अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता रही? अतएव शुचि के लिए जल का प्रमाण नहीं ऐसा लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है।

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि "रात्रि में जल रखने पर भी जल ढुलने पर या बहुत दस्त लगने पर अशुचि रहना पड़ता है यह भी श्वे० स्था०) साधुओं की अनसमझ की बात है।"

फिर भी दण्डीजी का उक्त कथन अनभिज्ञता है क्योंकि जो प्रश्न सिद्धान्तों से बाधित हो चुका उसीको बार २ दुहराना पहिले दर्जे की नादानी है। जब जल रात को रखना ही शास्त्र सम्मत नहीं तो फिर ढुलने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? यह तो हम पहिले ही बतला चुके हैं कि रात बीतने पर सूर्योदय होते ही शुचि कर लेना मुनि का खास मन्तव्य है, बिना शुचि किए शास्त्र का एक अक्षर भी पढ़ना उचित नहीं है और जो जैन मुनि नाम धरा कर सूत्र के विरुद्ध रात को पास में जल रखते हैं उनके लिये तो यह प्रश्न सहज ही खड़ा हो सकता है कि रात को रखा हुआ जल ढुलने पर क्या करते होंगे? इसी सवाल को हल करने के लिये दण्डीजी ने आगे चल कर उसी पैरे में लिखा है कि —

"साधु साध्वी और सवेगी साधु साध्वी हमेशा रोजीना आहार

ऐसे नहीं हैं कि जल ढुल जाने को देखकर रात मे जल नहीं रखते हों। वे तो केवल भगवान् की आज्ञानुसार ही रात्रि को पास में जल नही रखते हैं। और न श्वे० स्था० मुनि अशुचि ही रखते हैं। केवल दण्डी जी का लिखना ही महा अज्ञानता का है क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि तो शुचि कर पवित्र ही रहते हैं जिसका विस्तृत खुलासा प्रथम दे चुके हैं।

आगे चलकर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि " (श्वे० स्था०) साधुओं को रात्रि मे दस्त होने पर उनकी शुचि के लिये फजर मे जल लाकर शुचि करवाने की दूसरे साधु व्यवस्था नहीं करते।"

महोदयो! दण्डीजी कोरे लिफाफे हैं। असत्य बात कहने की इन्हें बान सी है। ये मिथ्या बात लिख कर संसार मे अपना नाम प्रसिद्ध करना चाहते हैं नहीं तो ऐसी असगत बातें लिख कर मनुष्य कर्त्तव्य पर कुठाराघात नहीं करते। जिन्हें झूठ बोलने और झूठ लिखने की आदत है वे अपनी आदत से कैसे बाज आ सकते हैं? परन्तु विद्वानों की दृष्टि में वे बहिष्कृत और गपोड़ी समझे जाते हैं। क्योंकि स्था० सम्प्रदाय मात्र तो अकस्मात् रात को दस्त लगने पर दूसरे साथ वाले मुनि द्वारा जल मगवा कर सूर्योदय होते ही शुचि होने की व्यवस्था कर लेते हैं।

१२—आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि—" (श्वे० स्था० साधु) कहते हैं कि ठाणांग सूत्र के पाचवें ठाणे के ३ रे उद्देशे में पाँच प्रकार की शुचि लिखी है उस मुजब हम को जब रात्रि में दस्त लगे तब शुचि कर लेते हैं।

दण्डीजी! तुम्हारा यह लेख मिथ्याभाषी होने का सबूत दे रहा है क्योंकि 'उस मुजब हमको रात्रि में दस्त लगे तो शुचि कर लेते हैं।" ऐसा कोई भी श्वे० स्था० जैन मुनि नहीं कहता है और न इनकी रचित पुस्तकों में कहीं ऐसा प्रमाण है, फिर दण्डीजी ने ऐसा अनुचित गजब ढाने का प्रयास कैसे किया? ठाणांग सूत्र जी में मट्टी, जल, अग्नि,

मंत्र, ब्रह्मचर्य ये पाच प्रकार की शुचि लिखी हैं उसको लोग व्यवहार में ला ही रहे हैं। मट्टी (धूल) से टट्टी फिरने पर गुदा साफ हो ही नहीं सक्ती। कौन ऐसा महामूढ है जो कि धूल मे गुदा का शुचि होना कहता या लिखता हो। हा, यह बात तो जग प्रसिद्ध है कि जल से गुदा की शुचि होती है और इसी तरह श्वे० स्था० जैन मुनि भी जल से शुचि करते हैं। मिट्टी से तो लोग बर्तन आदि की शुचि करते हैं। फिर दण्डीजी का लेख सरासर मिथ्या ठहरा न ? अतएव दण्डीजी का मिथ्या लेख प्रपचो से भरा हुआ है।

१३—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि —"(श्वे० स्था०) कहते हैं कि बृहत्कल्पसूत्र में और व्यवहारसूत्र में मूत्र लेने का लिखा है। इसलिये हम भी कभी काम पड़ जावे तो उससे अपना काम कर लेते हैं।"

दण्डीजी! झूठ की सख्या बढ़ाते ही जाते हो। क्योंकि "हम भी कभी काम पड जावे तो उससे काम कर लेते हैं।" ऐसा श्वे० स्था० जैन साधु न तो कहते हैं और न उनके प्रकाशित ग्रन्थो मे कहीं ऐसा उल्लेख है।

महोदयो! दण्डी के सफेद झूठों की गिनती लगाइये। इन्होंने झूठी ९ बातों से पोथा लिख ही डाला है। किसी कवि ने कहा है कि— "मापेषु कति कृष्णा विविच्यन्ते" अर्थात् उड़दोंन से काले उड़द निकाल दो। बस इसी तरह दण्डीजी के लेख का हाल समझिये।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में बताया है कि "कष्ट वाले रोगी का जीव वैद्य ने अपवित्र वस्तु खिला कर बचा लिया।"

दण्डीजी! ये घृणा की बातें तुम्हे अत्यन्त पसन्द हैं। पर हम तो इन्हे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। क्या दण्डी लोगों में मरणान्त कष्ट पड़ने पर मूत्र पीकर व्याधि मिटा लेते हैं ? क्या आपमें मूत्र पीना मना

ऐसे नहीं हैं कि जल ढुल जाने को देखकर रात में जल नहीं रखते हों। वे तो केवल भगवान की आज्ञानुसार ही रात्रि को पास में जल नहीं रखते हैं। और न श्वे० स्था० मुनि अशुचि ही रखते हैं। केवल, दण्डी जी का लिखना ही महा अज्ञानता का है क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि तो शुचि कर पवित्र ही रहते हैं जिसका विस्तृत खुलासा प्रथम दे चुके हैं।

आगे चलकर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि "(श्वे० स्था०) साधुओं को रात्रि में दस्त होने पर उनकी शुचि के लिये फजर में जल लाकर शुचि करवाने की दूसरे साधु व्यवस्था नहीं करते।"

महोदयो! दण्डीजी कोरे लिफाफे हैं। असत्य बात कहने की इन्हें बान सी है। ये मिथ्या बात लिख कर संसार में अपना नाम प्रसिद्ध करना चाहते हैं नहीं तो ऐसी असगत बातें लिख कर मनुष्य कर्त्तव्य पर कुठाराघात नहीं करते। जिन्हें झूठ बोलने और झूठ लिखने की आदत है वे अपनी आदत से कैसे बाज आ सकते हैं? परन्तु विद्वानों की दृष्टि में वे बहिष्कृत और गपोड़ी समझे जाते हैं। क्योंकि स्था० सम्प्रदाय मात्र तो अकस्मात् रात को दस्त लगने पर दूसरे साथ वाले मुनि द्वारा जल मगवा कर सूर्योदय होते ही शुचि होने की व्यवस्था कर लेते हैं।

१२—आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि—" (श्वे० स्था० साधु) कहते हैं कि ठाणाग सूत्र के पाचवें ठाणे के ३ रे उद्देशे में पाँच प्रकार की शुचि लिखी है उस मुजब हम को जब, रात्रि में दस्त लगे तब शुचि कर लेते हैं।"

दण्डीजी! तुम्हारा यह लेख मिथ्याभाषी होने का सबूत दे रहा है क्योंकि "उस मुजब हमको रात्रि में दस्त लगे तो शुचि कर लेते हैं।" ऐसा कोई भी श्वे० स्था० जैन मुनि नहीं कहता है और न इनकी रचित पुस्तकों में कहीं ऐसा प्रमाण है, फिर दण्डीजी ने ऐसा अनुचित गजब ढाने का प्रयास कैसे किया? ठाणाग सूत्र जी में मट्टी, जल, अग्नि,

मत्र, ब्रह्मचर्य ये पाच प्रकार की शुचि लिखी हैं उसको लोग व्यवहार में ला ही रहे हैं। मट्टी (धूल) से टट्टी फिरने पर गुदा साफ हो ही नहीं सकती। कौन ऐसा महामूढ है जो कि धूल से गुदा का शुचि होना कहता या लिखता हो। हा यह बात तो जग प्रसिद्ध है कि जल से गुदा की शुचि होती है और इसी तरह श्वे० स्था० जैन मुनि भी जल से शुचि करते हैं। मिट्टी से तो लोग बर्तन आदि की शुचि करते हैं। फिर दण्डीजी का लेख सरासर मिथ्या ठहरा न ? अतएव दण्डीजी का मिथ्या लेख प्रपचों से भरा हुआ है।

१३—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि —"(श्वे० स्था०) कहते हैं कि बृहत्कल्पसूत्र में और व्यवहारसूत्र में मूत्र लेने का लिखा है। इसलिये हम भी कभी काम पड़ जावे तो उससे अपना काम कर लेते हैं।'

दण्डीजी ! झूठ की सख्या बढाते ही जाते हो। क्योंकि "हम भी कभी काम पड जावे तो उससे काम कर लेत हैं।" ऐसा श्वे० स्था० जैन साधु न तो कहते हैं और न उनके प्रकाशित ग्रन्थों मे कहीं ऐसा उल्लेख है।

महोदयो ! दण्डी के सफेद झूठों की गिनती लगाइये। इन्होंने झूठी २ बातों से पोथा लिख ही डाला है। किसी कवि ने कहा है कि— "माषेषु कति कृष्णा विविच्यन्ते" अर्थात् उड़दोंम से काले उड़द निकाल दो। बस इसी तरह दण्डीजी के लेख का हाल समझिये।

आगे चलकर दण्डीजी ने उसी पैरे में बताया है कि "वन्द बाने रोगी का जीव वैद्य ने अपवित्र वस्तु लिला कर बचा लिया।"

दण्डीजी ! ये घृणा की बातें तुम्हे अत्यन्त पसन्द हैं। पर हम तो इन्हे घृणा की दृष्टि से देखते ह। क्या दण्डो लोगों में भर पड़ने पर मूत्र पीकर व्याधि मिटा लेते हैं ? क्या आपमें मूत्र

है ? अगर मना होता तो उसकी स्मृति यहां नहीं हो आती। क्या आप के पचप्रतिक्रमणसूत्र के पृष्ठ पर सर्व अनिष्ट जाति का मूत्र पी लेना नहीं लिखा है ? क्या आपने आपका माननीय पचप्रतिक्रमणसूत्र देखा है ? सच पूछो तो यह अघोरियों का कृत्य है। भगवान् ऐसा काम किसी से स्वप्न में भी न करवावे। रोग में वैद्य कभी मांस खाना बता दे तो क्या सब ब्राह्मण, बनिये माँस खावेंगे ? कभी नहीं। दण्डीजी का लेख ही गन्दा और अपवित्र है।

आगे चल कर दण्डीजी उसी पैरे में लिखते हैं कि—"मूत्र को शुद्ध समझ कर दस्त लगने पर मूत्र से व्यवहार करते हैं।"

दण्डीजी! स्वय जिस बात के मानने वाले हो उसे दूसरों पर डालकर अनुचित लाभ उठाना चाहते हो, यह तुम्हारी अज्ञानता है। क्यों कि मूत्र को शुद्ध समझ कर उसका व्यवहार करना तो तुम्हीं ही दण्डी लोगों को मुबारिक है। कारण कि तुम्हीं लोगों ने सर्व जाति के अनिष्ट मूत्र को शुद्ध समझा होगा तभी तो उसको पीने के लिये पौषध व्रत में स्वीकार कर रखा है। यह तुम्हारे लिये कितनी लज्जास्पद और घृणास्पद बात है ?

१४—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"मूत्र का उपयोग करलें तो उसमें कोई दोष नहीं है।"

दण्डीजी! यह लेख तुम्हारा कूट नीति से लबालब भरा हुआ है। क्योंकि "मूत्र का उपयोग कर लें तो उसमे कोई दोष नहीं है।" ऐसा न तो हम कहते हैं और न हमारी रचित पुस्तकों में ही कथित है। न जानें फिर दण्डीजी ने [illegible] गप्प कहा [illegible] दण्डीजी के कपाल में गप्पों का [illegible] ? या अ[illegible] मूत्र पीने की चाट को दबाने के [illegible] मिथ्या [illegible] आप ओट में छिपना चाहते हैं ? [illegible] भी [illegible] सच प्रकट हो।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—
पेट अन्न खाने वाले को रात्रि में दस्त लगना। महान् कारण नहीं,
स्वाभाविक नियम की बात है।"

महोदयो! दण्डीजी वैद्य भी बन गए। वैद्यक के ग्रन्थ ढ
कर क्या ही पते की बात बताई है। अगर सभी भर पेट खाना खा
छोड़ेंगे तो दस्त से नदी बहने लग जायगी और दण्डीजी को वृथ
तकलीफ होगी। अतएव पर उपकारार्थ इतने सच्ची औषधि बताई
पाठक कभी भर पेट अन्न न खावें।

दण्डीजी! मूर्ख भी कहते हुए शरमायगा कि भर पेट खाने
के लिये रात में दस्त लगना स्वाभाविक नियम सा ही है? पर
नहीं हिचकिचाये। आपको तो पोथा भरना और नाम पानाथा न?
गप्प छोड़े गप्पीनाथ को कभी चैन पड़ सकती है? पर ऐसे मूर्ख स
में कम हैं, जो ऐसी असत्य बातों पर ध्यान दें।

फिर देखिये! श्वे० स्था० जैन मुनि तो सायंकाल को अनो
करते हैं अर्थात् भूख से पहिले ही कम खाते हैं। जिससे रात्रि को द
होने की आशंका ही नहीं रहती। पर दण्डी लोग तो नैमित्तिक स्वा
भोजन की चाट पर खूब डाट २ कर खाते होंगे जिससे उन्हें रात्रि
दस्त लगने की आशंका अवश्य बनी रहती होगी और दण्डीजी ने
तो आपने अनुभव भी कर लिया होगा। तभी तो आपने स्वाभा
नियम वाली बात बताई है। अस्तु।

दण्डीजी! मूत्र पीना तुम्हारे यहां लिखा है तो क्या जठरा
पानी से प्रदीप्त नहीं हो सकती, इसलिये मूत्र का व्यवहार कर उसे प्र
करना चाहते हो? या और कोई अन्य कारण है? परन्तु चाहे जो
यह कार्य है सर्वथा जिनाज्ञा विरुद्ध, जैनागम विरुद्ध, और समाज
व्यवहारके भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है। कौनसा ऐसा शास्त्र है जिसमें मूत्र पी
व्यवहार शुद्ध समझा गया हो? अतएव जैनागमों को लज्जित क

वाने मूत पीनेके घृणित व्यवहार को निन्दनीय और अनुचित समझकर दण्डी लोग यदि उसे त्यागेंगे तो उत्तरदाता अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

१५—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"(श्वे० स्था०) श्रावक श्राविका को रात्रि में दस्त का कारण बन जावे तो अनुचित व्यवहार कर लेते हैं।"

ऐसा लिखना दण्डीजी का ओत प्रोत मिथ्या है क्योंकि कोई भी श्रावक श्राविका दस्त होने पर अनुचित व्यवहार नहीं करते। केवल दण्डीजी का लिखना ही धृष्टता का है।

दण्डीजी! श्वे०स्था० जैन श्रावक श्राविका तो अनुचित व्यवहार नहीं करते हैं पर दण्डी लोग मूत्र पीने का सप्रमाण अनुचित व्यवहार करते हैं। क्या यह धर्म है? गन्दा व्यवहार करने से धर्म कभी नहीं हो सकता। प्रत्युत दण्डी लोगों की बुद्धि मलीन हो जाती है और जैन शासन की अवहेलना रूप महान् अधर्म पैदा होता है। ऐसा अघोरी अधर्म परित्याग करना ही अच्छे आदमियों का काम है।

आगे चल कर दण्डीजी ने साधु गुण परीक्षा के दृष्टान्त को लिख कर खण्डन करने का साहस किया है। यह भी दण्डीजी की भारी अज्ञानता है। क्योंकि जो दृष्टान्त उस पुस्तकमें दिया है वह अकाट्य है। यदि दण्डीजी के दादे भी परलोक से आकर उस दृष्टान्त को काटना चाहे तो नहीं कट सकता है।

१७—आगे चल कर दण्डीजी ने बताया है कि "कभी ब्राह्मण को वैसा कारण बन जावे तो गाव में गए बाद शुचि हो।"

दण्डीजी! यह ठीक है। जैसे ब्राह्मण अटवी जगल में जल के अभाव में दस्त होने पर ... रहता ... फिर जहा जल मिलता है वहा जाकर शुचि होत ... होने पर जल से शुचि अवश्य कर ... श्रम की आव

श्यकता नहीं इस विषयमें दण्डीजीने काले कागज करजो अपनी नाक ऊंची रखना चाही है, वह निरर्थक है। प्रायश्चित्त विधि तो दण्डीजी के बत्तीस सूत्रों की तरह हमारे यहाँ भी है। क्योंकि ३२ सूत्र तो तुम्हें और हमें एक से मान्य हैं। फिर दण्डीजी को लिखते शर्म नहीं आई कि—' प्राय श्चित्त की विधि भी के शास्त्रों में नहीं है।" अतएव ऐसा लिखना दण्डीजी का नितान्त मिथ्या है।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"सत्र ब्राह्मण समाज हमेशा ही जल बिना शौच करने को कभी स्वीकार नहीं कर सकता।"

अरे अविवेकी दण्डीजी! जल के अभाव मार्ग में तो जितने और जिनको दस्त होंगे वे उसी प्रकार अपना मार्ग तय करके जल के पास आकर शुचि करेंगे और हे मूढमते! जल बिना शुचि होना कौन मूढमति मानता है? हा, तुम्हारे यहाँ भले ही जल बिना शुचि मानी हो। और अगर यह बात सच हो तो तुम्हारा यह अवश्य लज्जनीय और घृणित व्यवहार है।

आगे चल कर दण्डी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"अटवी, युद्ध, दुष्काल वगैरह आफत काल में किसी ने अपने प्राण बचानेके लिये मरे हुए मनुष्य का मांस खाकर व खून पीकर अपना जी बचा लिया या किसी ने कुत्ते कौवे आदि को खा लिए।"

दण्डीजी! ऐसा लिख कर तुम संसार भर के हास्य पात्र बन बैठे। क्योंकि उत्तम ब्राह्मण, बनिये तो दुष्काल युद्ध या आफत कैसी भी क्यों न हो पर मॉस कभी नहीं खा सकते और न खून पी सकते हैं। प्राणों की परवाह करके मांस व खून का आहार करना सच्चे मनुष्य का कर्तव्य नहीं है और कौए कुत्ते का मांस तो माम भक्षी मनुष्य भी नहीं खा सकता तो शाकाहारी ब्राह्मण, बनियों को मांस व खून खाते पीते

लिख कर दण्डीजी ने स्वय अपने हाथ से अपने मुह पर कालिमा पोत ली है।

फिर भी दण्डीजी जरा सोचिये ! पाखाना होने पर मांस, खून खाने पीने का दृष्टान्त देना, यही तुम्हारी निरी निर्विवेकता है। क्योंकि खाना, पीना तो अपने आधीन है पर दस्त होना अपने आधीन नहीं है। दस्त तो न मालूम कब और कहा लग जाय। और मास खाना न खाना खून पीना न पीना अपने आधीन है। जबरन मुंह में आकर गिरता नहीं है। अतएव चाहे जैसा क्यों न प्राणान्त कष्ट हो। उत्तम मनुष्य ब्राह्मण, बनिये तो मास व खून कभी नहीं खा पी सकते। इसीलिए दण्डीजी का लेख ही दण्डीजी को एवम् ससार भर को निसूग बनने को प्रोत्साहित करता है। अत दण्डीजी का लिखना बड़ी अज्ञता का है। बस,इसी पर से दण्डी लोगो का शुचि नहीं करना लिखना, सरासर मिथ्या साबित होता है।

देखो ! जल के अभाव में दस्त लगने पर व कुछ देर तक जल का योग न मिले वहा तक शास्त्रोक्त विधि की शुचि से रहने में ही दण्डी लोग झूठी २ बातें लिखकर अपनी विद्वत्ता दिखाने में अग्रसर बन बैठे हैं। पर दण्डी लोगों के माननीय ग्रथ के प्रमाण से मूत पीने की दण्डी लोगों में जो चाट पड़ी हुई है उसकी शुचि अर्थात् पेट में मूत गए बाद मुह और पेट की शुचि दण्डी किस प्रकार करते होंगे ? भला दस्त लगने पर और जहा तक जल न मिले वहा तक शास्त्रोक्त विधि से शुचि के साथ रहने में ही दण्डी लोग दूसरों की झूठी टीका कर आप पवित्र होने की चेष्टा करते हैं। किन्तु जल के अभाव मे थोड़ी देर वैसे ही शास्त्रोक्त विधि से रहना उतना बुरा नहीं है जितना कि दण्डी लोगों का मूत पीने जैसा घृणित, पतित, महा खराब व्यवहार करना।

यूरोपियन लोग भी टट्टी फिर कर गुदा को कारबून पेपर से साफ कर लेते हैं। इसी तरह और भी बहुत से मनुष्य

जल क अभाव में मिट्टी, ढेला, कपड़ा, कागज आदि से गुदा साफ कर लेते हैं यह प्रसिद्ध बात है ? उन लोगों के लिये दण्डी लोग क्यों न कलम उठाते ? उठावें भी तो किस तरह ? स्वय भी तो पवित्र रहना नहीं जानते। मिट्टी, ढेला, कपड़ा, कागज से गुदा साफ कर फिर पानी से साफ कर लेना उतना अपवित्र और घृणित व्यवहार नही है जितना मूत पीकर पेट व मुह को अपवित्र बनाना। इसके लिये तो दण्डी लोगों को चुल्लू भर पानी में डूब मरना चाहिये। दण्डीजी! तुम स्वय ऐसा अपवित्र व्यवहार करते हो और तुमसे बढ़ कर पवित्र रहने वालो की तुम टीका करते हो, यह तुम्हारी धृष्टता नही तो और क्या है ?

देखिये, पानी न मिलने पर गुदा तो फिर भी साफ हो सकती है पर पेट में मूत गए बाद पेट व मुह का साफ करना बड़ा जटिल कार्य है। दण्डीजी! गुदा द्वार से मल निकलता है इसलिये वह तो अपवित्र ही है पर पवित्र मुंह मूत पीकर अपवित्र करना सिर्फ दण्डियोंकी मूर्खता का द्योतक ही है। चतुर मनुष्य ऐसे पतितों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"सैकड़ो साधु साध्वियों को रात्रि में दस्त होने का हजारो बार काम पड़ चुका है।"

दण्डीजी! तुम्हारे इस लेख से तो प्रतीत होता है कि जहा श्वे० स्था० जैन मुनि दस्त फिरने जाते थे आप वहां स्वय झाड़ू लेकर खड़े रहे थे। क्योंकि बिना अनुभव के ऐसा नहीं कह सकते। अस्तु, दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन मुनि तो सूखा रूखा समय पर जो मिल जाता है वही प्रमाण से खाकर अपना सयम समय बिताते हैं। अत इन्हें रात में दस्त जाने का प्राय कार्य ही नही पडता। अगर शरीर दण्ड से रात को दस्त का काम पड भी जाय तो जैसे दण्डी लोग प्रमाण से रखा हुआ जल ढुल जाय या एक या दो बार की दस्त से पानी

खतम हो जाय तो रात व्यतीत कर सूर्योदय होने पर शुचि कर लेते हैं, उसी प्रकार श्वे० स्था० जैन मुनि भी शुचि कर लेते हैं।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"बिना जल दस्त होने पर अपना काम चलाने का मान्य करते हैं।"

दण्डीजी! यह लिखना मिथ्या है। क्योंकि कोई भी श्वे० स्था० जैन मुनि तुम्हारे लेखानुसार न तो ऐसा करता है और न ऐसा कहता ही है। फिर तुम केवल अपने वचन का दुरुपयोग कर धृष्टता करते हो और चाहे जो लिख मारते हो, यह तुम्हारी अज्ञानता है।

फिर भी आगे चल कर दण्डीजी उसी पैरे मे लिखते हैं—"जल से शुचि करते नहीं।'

दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन मुनि दस्त लगने पर बिना शुचि किये न तो उपदेश ही देते हैं और न आहारादि लेने ही जाते हैं, जैसा कि हम पहिले ही लिख चुके हैं। पर दण्डीजी को तो झूठ भर कर पोथा रचना था न, वे सत्यका खयाल क्यों करें? हा, ऐसी बातें लिखते हुए वे किसी श्वे० स्था० के प्रमाणित ग्रथों का प्रमाण रखते तो अवश्य सच समझा जाता। जैसा प्रमाण दण्डी लोगों के मूत पीने का हम उन्हीं के प्रमाण भूत ग्रंथों का रखते हैं। पर ऐसा सबूत वे श्वे० स्था० मुनि के बारे में कहा से लावें? क्योंकि श्वे० स्था० मुनि कभी अशुचि रखते ही नहीं। वास्तव में पूछा जाय तो अघोरी सिवाय अशुचि में रहने वाला तुम सा कोई दृष्टिगत नहीं होता। अतएव ऐसा अनुचित व्यवहार त्याग कर शाति मार्ग का पाठ यदि आप सीखो तो कल्याण हो।

रात्रि मे जल न रखने से २१ दोषों की प्राप्ति रूप प्रलाप का उत्तर

दण्डीजी लिखते हैं कि—"रात्रि में जल न रखने से दस्त लगने पर अशुचि रहती है" यह लिखना तुम्हारा नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जैन मुनि अशुचि से कदापि नहीं रह सकते। रात्रि में शुचि के लिये

जिनागमों में अनेक विधि बतलाई हैं उन विधियों से जैन साधु अपने अशुचि शरीर को शुचि कर लेते हैं। जब तक शुचि नहीं कर लेते तब तक प्रतिक्रमण व जपादि एवम् सूत्र पठन पाठन नहीं करते। इसलिये दण्डीजी का लिखना नितान्त मिथ्या है ॥१॥

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"अशुचि के भय से दस्त को दबा कर रोक लेवे तो रोग की उत्पत्ति होती है।"

यह भी दण्डीजी का लिखना सर्वथा निर्मूल है क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनियों को शुचि करना याद है। इसलिये वे ऐसा कदापि नहीं करते। किन्तु शायद तुम दण्डियोंको शुचि करना याद नहीं हो अतएव अशुचि के भय से दस्त दबाते होंगे और स्वय रोगी बनते होंगे। तभी अनुभव सिद्ध बात लिख मारी है ॥२॥

दण्डीजी! दस्त की व्याकुलता तुम्हीं दण्डी लोगों को विशेष सताती होगी। कारण, बड़े २ सेठों के घर से माल लाते हो तथा स्वामी वात्सल्य, उपधान, तपोत्सव आदि मे नाना प्रकार क माल, मसाले, नमकीन, चरकी चीजें, चटनिय आदि बहर लाते हो और ठोस २ कर खाते हो। इसलिये दण्डी लोग सूर्य निकलते ही नहीं, बल्कि उसके पहिले भी शौचादि क्रिया करने के लिये व्याकुल बन भगते पाये जाते हैं। जिसके प्रमाण स्वरूप तुम्हारे आचार्य कृपाचन्द सूरि जिनका कि विक्रम सवत् १९८१ में मदसौरमें चातुर्मास था। वहा पर उक्त दण्डीजी व इनके ज्ञान सागर अथवा मगलसागर आदि शिष्य गण अधेरे २ शौचादि को जाते थे। अतएव दस्त से व्याकुल होने की घटना तुम दण्डियों पर ही घटित होता है, न कि भगवान् के अनुयायी श्वे० स्था० जैन मुनियों पर ॥३॥

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि "सूर्योदय होते ही जल लेकर निकलता देख कर किसी को रात्रि में वहा रहने की शका पड़ जावे।"

दण्डीजी ! सूर्योदय होते ही जल लेकर तो जभी निकलें स
है जब कि सूर्योदय के पहले ही रात में गृहस्थ के घर जा पहु
श्वे० स्था० जैन मुनि तो ऐसे समय गृहस्थ के घर जाकर याचन
कभी करते ही नहीं पर जो ऐसा करते हैं, उनकी अनुमोदना
नहीं करते । प्रत्युत ऐसा करने वाले को गृहस्थ ही समझते हैं । अ
सूर्योदय होते ही जल लेकर निकलना अक्षरशः मिथ्या है । और गृ
को सन्देह भी उन्हीं पर हो सकता है जो रात को टट्टी फिरने चले
और अंधेरे २ में वापस आ जाय । जैन श्वे० स्था० मुनि के तो अ
विहार आदि सभी कार्य सूर्य की साक्षी में होते हैं । इसलिये उन
शंका आ ही नहीं सकती । शंका आती है तो सिर्फ दण्डियों पर,
भगवान् की आज्ञा न मान रात को ही टट्टी फिरने चले जाते और
में ही वापस आ जाते हैं ॥४॥

दण्डीजी ! ऐसी निर्मूल और मिथ्या शंकाएं कर श्वे० स
जैन मुनियों की अवहेलना कर रहे हो और उन पर मिथ्या दोषारो
कर रहे हो, यह तुम्हारे लिये अधोगति का रास्ता खुल रहा है, जि
पर चल कर कि तुम्हें भव भ्रमण करना पड़ेगा ॥५॥

दण्डीजी ! मिथ्या बातें लिख कर दूसरों की हंसी नहीं होसक
अगर होती हो तो सूर्य पर धूल फैंक देखो । सूर्य का कुछ नहीं बिगड़े
बिगड़ेगा तुम्हारा ही । इसी प्रकार मिथ्या बातें लिखने से तुम्हारी अ
तुम्हारे अन्य दण्डियों की ही प्रतीत उठ जायगी । इसलिये सावधानी
भगवद् वचन पर अमल करो ॥६॥

दण्डीजी ! सूर्योदय होने पर ही पशु पक्षी अपने २ स्थान
घोंसलों को त्याग चुगने के लिये जाते हैं और मनुष्य भी सूर्योदय
समय शौचादि कृत्यों से निवृत्त हो इष्ट देव को याद करते हैं, स्त्रियां
अपने २ गृह कार्य में प्रवृत्त होती हैं, दान पुण्य करने वाले दान पुण्यादि
करने लगते हैं ।

सोया ही पड़ा रहेगा। अतएव सूर्योदय के समय गृहस्थों के घरों में बहू, बहिन, बेटी आदि सोते पडी रहें, ऐसा लिखना दण्डीजी का सर्वथा मिथ्या है। दण्डीजी ! सूर्योदय के समय कल्पनीय वस्तुए जो साधुओं के लिये आवश्यकीय हों, ला सकते हैं और भगवान् ने भी ऐसी आज्ञा दी है। किसी भी सूत्र में सूर्योदय के समय नहीं जाना, ऐसा विधान नहीं है। इसलिये सूर्योदय के समय याचना करने मे दण्डीजी ने जो दोप दिखाया, यह उनकी अज्ञानता और सूत्र के कम ज्ञान का द्योतक है। सूर्योदय के समय कोई दोप नहीं लगता। परन्तु दोप कहने वाले स्वय दण्डीजी दूषित होते हैं और वे भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कह कर अनन्त ससार परिभ्रमण करने का सामान जुटाते हैं ॥७॥

आगे चल कर दण्डीजी ने इसी पैरे में लिखा है कि—"सूर्योदय के समय बहुत श्रावक श्राविका सामायक प्रतिक्रमण आदि अपने २ नित्य कर्तव्य में बैठे होते।'

दण्डीजी ! यह लिख कर तो तुमने अपने पैरों पर ही कुल्हाडी चलाई है। क्योंकि पहिले तो लिख दिया कि—"बहू, बहिन, बेटी सोई पडी हों और अब लिखते हो कि सामायक प्रतिक्रमण कर रही हों।" धन्य है तुम्हारी प्रखर जड बुद्धि को कि कुछ देर पहिले लिखी बात भी तुम्हे याद नहीं रहती। सच है—"मिथ्या भाषी एक झूठ के छिपाने के लिये दस झूठ बोलता है। अस्तु। अब गप्पोंसे लोग बहकेंगे नहीं, अब तो सत्य की कसौटी पर कसने से, ही सच झूठ की परीक्षा कर लोग असली भेद को पायगे।

फिर देखिये ! सामायक आदि पिछली रात को ही कितने ही कर लेते हैं और सूर्योदय से ही घर कार्य में लग जाते हैं। अतएव उस समय धोवन, गर्म जल आदि सुगमता से प्राप्त हो सकता है और गृहस्थ को पश्चाताप का अवसर नहीं प्राप्त होता है। थोडी देर के लिये मान भी लिया जाय कि सामायक करने बैठे हों तो क्या सारा घर एक

ही वक्त सामायक करने बैठ सकता है ? नहीं, जो खुला होगा वही बहरा देगा। फिर पश्चात्ताप का कारण नही रहेगा। हां, शायद दण्डियों के अनुयायी गृहस्थ दण्डियों को न बहरा कर पश्चात्ताप ही क ते हों तो मालूम नहीं ॥८॥

दण्डीजी ! सूर्योदय होते ही गृहकार्य में गृहस्थ लगें, इसमें तो कुछ नवीनता है नहीं, पर कई जगह तो प्रात घडी भर रात रहते ही मनुष्य अपने गृह कार्य व झाड बुहार मे लग जाते हैं। इसलिये प्रासुक गर्म जल एवम् धोवण आदि निर्दोष प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा कौन एहशी प्रमादी है, जो सूर्योदय होने पर भी सोता पडा रहता है और अपने गृह कार्य धन्दे में प्रवृत्त नहीं होता ? अतएव सूर्योदय होते ही शुद्ध जल का नही मिलना ऐसा दण्डीजी का लिखना व कहना नितान्त मिथ्या है ॥९॥

दण्डीजी ! चूल्हे पर का हो या भट्टी पर का हो या बम्बे का हो, चाहे जैसा हो, जो जल अच्छी तरह अचित्त हुआ होगा उसे ही श्वे०स्था० मुनि ग्रहण करते हैं और करते रहेंगे। इसके प्रतिकूल कच्चा जल लेंगे भी नहीं और उसे छूएंगे भी नहीं। इसका विस्तृत वर्णन प्रथम किया गया है ॥१०॥

दण्डीजी ! श्रावक श्राविका साधु के निमित्त धोवण, गर्म जल व आहार कभी नहीं करते। वे अपने घरोंमें सदैवानुसार अपने कार्य के लिये जो करते हैं, वही बहराते हैं और उसीको साधु ग्रहण करते हैं। हां,आधा कर्मी तो क्या पर आरा कर्मी और स्थपना आदि दोष के सेवन कर्ता तो दण्डी लोग ही हैं। इसमें कोई सन्देह है नहीं। क्योंकि प्रथम सप्रमाण लिखा जा चुका है ॥११॥

दण्डीजी ! प्रमाण से खाने वाले और ऊनोदरी रखने वाले श्वे० स्था० जैन मुनि तो प्रात काल का प्रतिक्रमण और प्रतिलेखना आदि बड़े शात चित्त के साथ करते हैं। हां, आधाकर्मी, गरिष्ठ स्वादिष्ट भोजन और चरके बडे पकोड़े खाने वाले दण्डी लोगों को सुबह ही बड़े जोर

की हाजत होती होगी और उसमें प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि में शांति न रहती होगी, तो हम नहीं कह सकते ॥१२॥

दण्डीजी! रात्रि में दस्त लगे और जैनागमानुसार शौच कर लेवें तो विष्टा से लिप्त शरीर कभी नहीं रह सकता और न कोई दूसरा वस्त्र ही खराब होता है। इसका विशेष खुलासा पहिले किया जा चुका है अतएव पिष्टपेषण की आवश्यकता नही। दण्डीजी! इस प्रकार जैनागमों का उड़ाह करके और जैन साधुओं की निन्दा करके क्यों अनन्त ससारी बन रहे हो, जरा परभव से तो डरो। ऐसी मिथ्या निन्दा करने वाले परभव में परिभ्रमण रूप विडम्बना की फांसी में कुछ कम नही फसेंगे ॥१३॥

दण्डीजी! जिस प्रकार दण्डी लोगों के रात के परिमित रखे जल के ढुल जाने या दस्तों के लगने से खर्च हो जाने बाद प्रातःकाल वर्षादि शुरू हो जाय और घरों में जाकर पानी लाना न कल्पे और दस्त की हाजत बड़े जोर से हो आई हो, उस समय जिस तरह दण्डी लोग समय बिताते हैं, उसी तरह श्वे० स्था० जैन मुनि आगमानुसार विधि कर समय बिताते हैं। पर व्यर्थ ही निन्दा कर आत्मा को कलुषित नही करते ॥१४॥

दण्डीजी! हम यह अवश्य मानते हैं कि शौचादि किये बिना शास्त्र स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, व्याख्यान आदि किसी को भी कोई कार्य नही करना चाहिये और उसी अनुसार श्वे० स्था० जैन मुनि कोई कार्य तब तक नही करता है जब तक कि वह शुचि न हो जाय ॥१५॥

फिर भगवान की आज्ञा उल्लंघन ही कैसे हो सकती है? ॥१६॥

वे रात्रिमें आलस्य, भय, शुचिके लिये मात्रा इकट्ठा नहीं करते हैं। श्वे०स्था० के किसी भी ग्रन्थ में मात्रा इकट्ठा करने का उल्लेख नही है। तदपि दण्डीजी ने लिख मारा, यह उनकी धृष्टता है और भोले लोगों को अपनी माया में फसाने का प्रपंच है ॥१७॥

ही वक्त सामायक करने बैठ सकता है ? नहीं, जो सुला होगा व
देगा। फिर पश्चात्ताप का कारण नही रहेगा। हा, शायद द
अनुयायी गृहस्थ दण्डियों को न बहरा कर पश्चात्ताप ही क ते
मालूम नहीं ॥८॥

दण्डीजी ! सूर्योदय होते ही गृहकार्य में गृहस्थ लगें, इसमें
नवीनता है नहीं, पर कई जगह तो प्राय घडी भर रात रहते
अपने गृह कार्य व झाड़ बुहार में लग जाते हैं। इसलिये प्रासुक
एवम् धोवण आदि निर्दोष प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा कौन एह
है, जो सूर्योदय होने पर भी सोता पडा रहता है और अपने
धन्दे में प्रवृत्त नहीं होता ? अतएव सूर्योदय होते ही शुद्ध
नही मिलता ऐसा दण्डोजी का लिखना व कहना नितान्त मिथ्य

दण्डीजी ! चूल्हे पर का हो या भट्टी पर का हो या बम्बे
चाहे जैसा हो, जो जल अच्छी तरह अचित्त हुआ होगा उसे ही
मुनि ग्रहण करते हैं और करते रहेंगे। इसके प्रतिकूल कच्चा जल
नहीं और उसे छूएगे भी नहीं। इसका विस्तृत वर्णन प्रथम
गया है ॥१०॥

दण्डीजी ! श्रावक श्राविका साधु के निमित्त धोवण, गर
आहार कभी नहीं करते। वे अपने घरोंमे सदैवानुसार अपने का
जो करते हैं, वही बहराते हैं और उसीको साधु ग्रहण करते हैं।
कर्मी तो क्या पर आधा कर्मी और स्थपना आदि दोप के से
तो दण्डो लोग ही हैं। इसमे कोई सन्देह है नहीं। क्योंकि प्रथम
लिखा जा चुका है ॥११॥

दण्डीजी ! प्रमाण से खाने वाले और ऊनोदरी रखने व
स्था० जैन मुनि तो प्रात काल का प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन
बड़े शात चित्त के साथ करते हैं। हा, आधाकर्मी, गरिष्ठ स्वादिष्ट
और चरके बडे पकोड़े खाने वाले दण्डी लोगों को सुबह ही ब

की हाजत होती होगी और उसमें प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि में शांति न रहती होगी, सो हम नहीं कह सकते ॥१२॥

दण्डीजी! रात्रि में दस्त लगे और जैनागमानुसार शौच कर लेवें तो विष्टा से लिप्त शरीर कभी नहीं रह सकता और न कोई दूसरा वस्त्र ही खराब होता है। इसका विशेष खुलासा पहिले किया जा चुका है अतएव पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं। दण्डीजी! इस प्रकार जैनागमों का उद्दाह करके और जैन साधुओं की निन्दा करके क्यों अनन्त संसारी बन रहे हो, जरा परभव से तो डरो। ऐसी मिथ्या निन्दा करने वाले परभव में परिभ्रमण रूप विडम्बना की फांसी में कुछ कम नहीं फसेंगे ॥१३॥

दण्डीजी! जिस प्रकार दण्डी लोगों के रात के परिमित रखे जल के ढुल जाने या दस्तों के लगने से खर्च हो जाने बाद प्रात काल वर्षादि शुरू हो जाय और घरों में जाकर पानी लाना न बने और टट्टी की हाजत बड़े जोर से हो आई हो, उस समय जिस तरह दण्डी लोग समय बिताते हैं, उसी तरह श्वे० स्था० जैन मुनि आगमानुसार विधि कर समय बिताते हैं। पर व्यर्थ ही निन्दा कर आत्मा को कलुषित नहीं करते ॥१४॥

दण्डीजी! हम यह अवश्य मानते हैं कि शौचादि किये बिना शास्त्र स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, व्याख्यान आदि किसी को भी कोई कार्य नहीं करना चाहिये और उसी अनुसार श्वे० स्था० जैन मुनि कोई कार्य तब तक नहीं करता है जब तक कि वह शुचि न हो जाय ॥१५॥

फिर भगवान की आज्ञा उल्लंघन ही कैसे हो सकती है? ॥१६॥

वे रात्रिमें आलस्य, भय, शुचिके लिये मात्रा इकट्ठा नहीं करते हैं। श्वे०स्था० के किसी भी ग्रन्थ में मात्रा इकट्ठा करने का उल्लेख नहीं है। तदपि दण्डीजी ने लिख मारा, यह उनकी धृष्टता है और भोले लोगों को अपनी माया में फसाने का प्रपंच है ॥१७॥

ही वक्त सामायक करने बैठ सकता है ? नहीं, जो खुला होगा वही बहरा देगा। फिर पश्चात्ताप का कारण नहीं रहेगा। हां, शायद दण्डियों के अनुयायी गृहस्थ दण्डियों को न बहरा कर पश्चात्ताप ही क ते हों तो मालूम नहीं ॥८॥

दण्डीजी ! सूर्योदय होते ही गृहकार्य में गृहस्थ लगें, इसमें तो कुछ नवीनता है नहीं , पर कई जगह तो प्रायः घडी भर रात रहते ही मनुष्य अपने गृह कार्य व झाड बुहार मे लग जाते हैं। इसलिये प्रासुक गर्म जल एवम् धोवण आदि निर्दोष प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा कौन एहसी प्रमादी है , जो सूर्योदय होने पर भी सोता पडा रहता है और अपने गृह कार्य धन्दे में प्रवृत्त नहीं होता ? अतएव सूर्योदय होते ही शुद्ध जल का नहीं मिलना ऐसा दण्डीजी का लिखना व कहना नितान्त मिथ्या है ॥९॥

दण्डीजी ! चूल्हे पर का हो या भट्टी पर का हो या बम्बे का हो, चाहे जैसा हो, जो जल अच्छी तरह अचित्त हुआ होगा उसे ही श्वे०स्था० मुनि ग्रहण करते हैं और करते रहेंगे। इसके प्रतिकूल कच्चा जल लेंगे भी नहीं और उसे छुएगे भी नहीं। इसका विस्तृत वर्णन प्रथम किया गया है ॥१०॥

दण्डीजी ! श्रावक श्राविका साधु के निमित्त धोवण, गर्म जल व आहार कभी नहीं करते। वे अपने घरोंमें सदैवानुसार अपने कार्य के लिये जो करते हैं, वही वहराते हैं और उसीको साधु ग्रहण करते हैं। हां,आधा कर्मी तो क्या पर आधा कर्मी और स्थपना आदि दोष के सेवन कर्ता वो दण्डी लोग ही हैं। इसमें कोई सन्देह है नहीं। क्योंकि प्रथम सप्रमाण लिखा जा चुका है ॥११॥

दण्डीजी ! प्रमाण से खाने वाले और ऊनोदरी रखने वाले श्वे० स्था० जैन मुनि तो प्रात काल का प्रतिक्रमण और प्रतिलेखना आदि बड़े शांत चित्त के साथ करते हैं। हां, आधाकर्मी, गरिष्ट स्वादिष्ट भोजन और चरके बड़े पकोड़े खाने वाले दण्डी लोगों को सुबह ही बड़े जोर

की हाजत होती होगी और उसमें प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि में शांति न रहती होगी, तो हम नहीं कह सकते ॥१२॥

दण्डीजी ! रात्रि में दस्त लगे और जैनागमानुसार शौच कर लेवें तो विष्टा से लिप्त शरीर कभी नहीं रह सकता और न कोई दूसरा वस्त्र ही खराब होता है। इसका विशेष खुलासा पहिले किया जा चुका है अतएव पिष्ट पेषण की आवश्यकता नहीं। दण्डीजी ! इस प्रकार जैनागमों का उडाह करके और जैन साधुओं की निन्दा करके क्यों अनन्त संसारी बन रहे हो, जरा परभव से तो डरो। ऐसी मिथ्या निन्दा करने वाले परभव में परिभ्रमण रूप विडम्बना की फांसी में कुछ कम नहीं फसेंगे ॥१३॥

दण्डीजी ! जिस प्रकार दण्डी लोगों के रात के परिमित रखे जल के ढुल जाने या दस्तों के लगने से खर्च हो जाने पर प्रातःकाल वर्षादि शुरू हो जाय और घरों में जाकर पानी लाना न करने और दस्त की हाजत बडे जोर से हो आई हो, उस समय जिस तरह दण्डी लोग समय बिताते हैं, उसी तरह श्वे० स्था० जैन मुनि आगमानुसार विधि कर समय बिताते हैं। पर व्यर्थ ही निन्दा कर आत्मा को कलुषित नहीं करते ॥१४॥

दण्डीजी ! हम यह अवश्य मानते हैं कि शौचादि किये बिना शास्त्र स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, व्याख्यान आदि किसी को भी कोई कार्य नहीं करना चाहिये और उसी अनुसार श्वे० स्था० जैन मुनि कोई कार्य तब तक नहीं करता है जब तक कि वह शुचि न हो जाय ॥१५॥

फिर भगवान की आज्ञा उल्लंघन ही कैसे हो सकती है ? ॥१६॥

वे रात्रिमें आलस्य, भय, शुचिके लिये मात्रा इकट्ठा नहीं करते हैं। श्वे०स्था० के किसी भी ग्रन्थ में मात्रा इकट्ठा करने का उल्लेख नहीं है। तदपि दण्डीजी ने लिख मारा, यह उनकी धृष्टता है और भोले लोगों को अपनी माया में फसाने का प्रपंच है ॥१७॥

ही वक्त सामायक करने बैठ सकता है ? नहीं, जो खुला होगा वही वहरा देगा। फिर पश्चात्ताप का कारण नहीं रहेगा। हां, शायद दण्डिया के अनुयायी गृहस्थ दण्डियों को न वहरा कर पश्चात्ताप ही करते हों तो मालूम नहीं ॥८॥

दण्डीजी ! सूर्योदय होते ही गृहकार्य में गृहस्थ लगें, इसमें तो कुछ नवीनता है नहीं, पर कई जगह तो प्रायः घडी भर रात रहते ही मनुष्य अपने गृह कार्य व झाड बुहार में लग जाते हैं। इसलिये प्रासुक गर्म जल एवम् धोवण आदि निर्दोष प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा कौन एहदी प्रमादी है, जो सूर्योदय होने पर भी सोता पडा रहता है और अपने गृह कार्य धन्दे में प्रवृत्त नहीं होता ? अतएव सूर्योदय होते ही शुद्ध जल का नहीं मिलना ऐसा दण्डीजी का लिखना व कहना नितान्त मिथ्या है ॥९॥

दण्डीजी ! चूल्हे पर का हो या भट्टी पर का हो या बम्बे का हो, चाहे जैसा हो, जो जल अच्छी तरह अचित्त हुआ होगा उसे ही श्वे० स्था० मुनि ग्रहण करते हैं और करते रहेंगे। इसके प्रतिकूल कच्चा जल लेंगे भी नहीं और उसे छूएंगे भी नहीं। इसका विस्तृत वर्णन प्रथम किया गया है ॥१०॥

दण्डीजी ! श्रावक श्राविका साधु के निमित्त धोवण, गर्म जल व आहार कभी नहीं करते। वे अपने घरों में सदैवानुसार अपने कार्य के लिये जो करते हैं, वही वहराते हैं और उसीको साधु ग्रहण करते हैं। हां, आधा कर्मी तो क्या पर आधा कर्मी और स्थापना आदि दोष के सेवन कर्ता तो दण्डी लोग ही हैं। इसमें कोई सन्देह है नहीं। क्योंकि प्रथम सप्रमाण लिखा जा चुका है ॥११॥

दण्डीजी ! प्रमाण से खाने वाले और ऊनोदरी रखने वाले श्वे० स्था० जैन मुनि तो प्रातःकाल का प्रतिक्रमण और प्रतिलेखना आदि बड़े शांत चित्त के साथ करते हैं। हां, आधाकर्मी, गरिष्ठ स्वादिष्ट भोजन और चरकें बडे पकोड़े खाने वाले दण्डी लोगों को सुबह ही बड़े जोर

दण्डीजी के कथनानुसार सचमुच वैसा ही होता हो तो फिर खुद दण्डी लोग ही ज्ञान, ध्यान की विशेष प्राप्ति के लिये क्यों ऐसा नहीं कर लेते कि रोज २ टट्टी न जाकर एक २ दिन छोड कर जाया करते या मल द्वार बन्द ही कर लेते, जिससे वे टट्टी जाना छोड प्रखर विद्वान् बन जाते। उनके सामने कालिदास से विद्वान् भी हार खाते।

धन्य है दण्डीजी! तुम्हारी प्रखर जड बुद्धि को जो कि जगल के टाइम में से भी टाइम बचाने की कोशिश करती है और अच्छा समझती है। भगवान् ने तो फरमाया है कि जगल की बाधा आ गई हो तो चाहे जैसा क्यों न ज्ञान ध्यान कर रहे हों उसे तुरन्त ही छोड़ कर शीघ्र शौच क्रिया करने जाना चाहिये। यहां तक कि जोर से पानी की वृष्टि हो रही हो उस समय भी टट्टी जाना भगवान् ने नहीं निषेधा है।

फिर देखिये दण्डीजी! आप ही स्वय दिन मे एक दफा टट्टी जाना लिख आये हो पर इससे तुम्हारे स्वास्थ्य को अवश्य हानि पहुँचेगी। इसलिये दिन में दोनों समय टट्टी जा आया करो, जिससे रातको भी टट्टी न जाना पड़ेगा और भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध रात को जल भी न रखना पड़ेगा। अतएव दिन में एक वक्त टट्टी फिरने के मिस रात्रि मे भगवदाज्ञा के प्रतिकूल जल रखने का हठ करना दण्डी लोगों की बड़ी भूल है॥१९॥

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि—"रात्रि मे जल नहीं रखने वाले पेशाब की शुचि नहीं कर सकते, वे जान बूझकर पेशाब की अशुचि रखते हैं।"

यह लिख कर तो दण्डीजी ने अपने आप ही,को अपवित्र सिद्ध किया है क्योंकि दण्डी लोग पेशाब करने के बाद हाथ तो धो भी लेते होंगे पर पुरुष चिन्ह तो धोते भी नहीं होंगे। फिर शुचि कैसे हुई? केवल हाथ धोलेना आधी शुचि है। इसलिये दण्डीजी के कथनानुसार दण्डीजी स्वय पेशाब की अशुचि रहत और वही पेशाब का बूद लगा हुआ

आगे चल कर दण्डीजी ने पत्थर, काष्ठ, घास आदि के टुकड़ों से शुचि कर लेने को लिखा परन्तु ऐसा लिखना दण्डीजी का सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि पत्थर, काष्ठ, घास आदि के टुकड़े से शुचि कर लेना सर्वथा शास्त्र विरुद्ध समझते हैं। और ऐसा करने वाला दण्ड पाता है। जरा आँखें खोल कर सूत्र देखो। कहीं स्वप्न में ऐसा देखकर तो नहीं लिख मारा ? या पक्षान्धता के मारे पत्थर, काष्ठ, घास के टुकड़ों से शुचि करना मिथ्या लिख दिया है? ऐसा लिख कर तो दण्डीजी ने अपने मुह पर आप ही कालिमा पोतने का प्रयत्न किया है।

दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि तो सूत्र विरुद्ध और लोक विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करते हैं। हाँ, जो कहीं करते पाये जाते हैं तो सिर्फ दण्डी ही। इसकी फिर कभी समालोचना समय मिलने पर की जायगी ॥१८॥

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि—"हमेशा अल्प आहार करके संतोष रखने वाले सैंकड़े १-२ साधु साध्वी निकलेंगे।"

दण्डीजी ! उपरोक्त लेख तुम्हारा कूट २ कर मिथ्या बातोंसे भरा हुआ है। क्योंकि सैकड़े १-२ साधु साध्वी तुम्हारे में ही आधाकर्मी, गरिष्ठ आहार नहीं करने वाले मिलेंगे और तो सैकड़े ९८-९९ आधाकर्मी और गरिष्ठ खूब पेट भर खाने वाले हैं। जैसी तप प्रवृत्ति श्वे० स्था० जैन मुनि में है वैसी दण्डी लोगों में नहीं पाई जाती। इस बात को आबाल वृद्ध सभी जानते हैं। अतएव दण्डीजी का सैंकड़े १—२ लिखना सर्वथा मिथ्या है। और दो टाइम जंगल जाने में ज्ञान ध्यान की अन्तराय पड़ती है, ऐसा भी तुम्हारा लिखना केवल निरक्षरता का है। क्योंकि दिन में दोनों बार टट्टी हो जाने वाले का चित्त साफ और प्रायः तन्दुरुस्त रहता है। अतः ज्ञान, ध्यान में अन्तराय न पड़ कर प्रत्युत उसमें विशेष वृद्धि होती है। इसके अलावा दिन में दो बार टट्टी हो जाने वाले को रात्रि में प्रायः टट्टी जाने का काम नहीं पड़ता है। यदि

अगर गृहस्थ वहां मौजूद होंगे तो आपसे घृणा भी करेंगे।

यदि दण्डी लोग कहेंगे कि टट्टी की हाजत हम रात्रि मे निवृत्त किया करेंगे तो यहां भी दण्डी लोगों की भूल ही दीखेगी क्योंकि रात्रि में कहीं विष्ठा पड़ी हो तो पग भर जाय या कहीं पतली दस्त पड़ी तो पग पड़ कर फिसलने पर कपड़े और सारा शरीर भर जाय और रात को रक्खा हुआ पानी यदि दुल जाय या थोड़ा हो जाय तो शरीर उस समय पवित्र नहीं हो सकता। रात भर वैसी अवस्था में ही काटना पड़े या कोई सर्पादि जानवर पर पांव लगने से काट खाय या वे प्राणी मर जाय तथा कोई लोहे की कील आदि पांव मे घुस जाय या गृहस्थ को शंका पड़ जाय कि इतनी रात को महाराज कहाँ जा रहे हैं। इत्यादि दोषों को समझकर दिन मे ही दो बार श्वे० स्था० जैन मुनि की तरह टट्टी हो आया करो। दिन में एक बार टट्टी फिरने का मुहावरा रख रात्रि को टट्टी फिरने के मिस भगवदाज्ञा के विरुद्ध जल रखना तुम्हारी बड़ी अज्ञता है।

लोक विरुद्ध घृणित व्यवहार को छोड़ो।

२०—दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि के लिये तो कोई भी शंकास्पद बात नहीं है। हां, जो है सो तुम्हीं दण्डियों की मूत पीने की बात शंकास्पद है और सर्वत्र फैली हुई है और इसी मूत पीनेके बाबत अनेक गाँव व शहरों में अनेकों बार निन्दास्पद लज्जनीय क्लेश हो चुका है और इस सम्बन्ध में किताबें, विज्ञापन आदि प्रकाशित हुए और झगड़े टंटे खड़े होकर सैंकड़ों रुपयों का पानी हुआ और होता भी है। इससे व्यर्थ लोगों के कर्म बंधन होते हैं और दण्डी लोगों की समाज की अवहेलना अपवित्रता, अवज्ञा, अतिभ्रष्टता का आरोप आदि अनेक अनर्थ हुए हैं और होते भी हैं। इसलिये दण्डी दण्डिनी आदि सर्व साधु साध्वी से मेरा यहां कहना है कि मूत पीने का गन्दा आरोप दूर कर दिन मे जितना उतना अचित्त जल पीकर समाज को उज्वल करो।

पुरुष चिन्ह कपडे के लगा कर सूत्र पढ़ लेते हैं, यह दण्डी लोगों को बताई हुई दण्डियों की बडी भारी प्रत्यक्ष भूल है ॥२०॥

आगे चल कर श्वे० स्था० जैन मुनि के वैसा नहीं कहने पर भी दण्डीजी ने अपने आप ही अपने मुह से झूठी बात खड़ी कर लिख डाली है कि—"कोई कहेंगे कि पेशाव से गुदा धोकर शुचि कर लेंगे।"

अरे मिथ्यावादी दण्डी ! तेरा यह लिखना सर्वथा अनुचित और मिथ्या है क्योंकि हम श्वे० स्था० जैन मुनि तेरे लिखे मुआफिक न तो ऐसा कभी कहते हैं और न कहा ही है। फिर तुमने झूठ लिख कर जिन धर्म की विराधना करने के साथ २ मिथ्यात्व का बोझा ढोहने का क्यो प्रयत्न किया है ? और न तूने तेरी कही हुई बात को प्रमाणित करने के लिये कोई प्रमाण ही दिया है ? बस इससे साफ सिद्ध होता है कि दण्डीजी ने जो भी लिखा, वह ईर्षा वश झूठ ही लिखा है।

दण्डीजी ! तुम्हारे मथानुसार तुम्हारा मूत्र पीना हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके, पर तुम्हें इस घृणित लोक विरुद्ध व्यवहार करते फिर भी शरम नहं आती। तुम्हारे ऐसा करने से सारे जैन समाज को कलक का टीका लग रहा है ॥२१॥

इस बात को छिपाने के लिये दण्डीजी ने अनेक वागूजाल रचे, पर कलक का टीका कैसे छिप सकता है? हा, यदि उस कलक को जड़ से उखाड़ना चाहते हो तो सीधा मार्ग यह ठीक है कि दिन में जितनो प्यास हो उतना अचित्त जल पी लिया करो। जब पानी भरपूर मिल जायगा तो मूत पीने की षरूरत नही रहेगी। दण्डीजी! दिन मे दो २ तीन २ वक्त स्वाद के लिये गरिष्ठ आधाकर्मी भोजन खाओगे और फिर कहोगे कि हम तो दिन मे एक समय ही जगल जावेंगे तो ऐसा हो नही सकेगा। नमकीन और चरके पदार्थ खाकर यदि टट्टी फिरने का आलस्य कर जाओगे तो वस्त्र खराब होंगे, जगह खराब होगी और गृहस्थ भी आपके इस व्यवहार की कड़ी टीकाए करेंगे।

द्वितीय आवृत्ति से मूत पीने का विषय ही निकाल दिया। जिससे सिद्ध होता है कि इन दण्डियों में मूत पीना मना नहीं है।

२२– आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—

"अनाहार में गो मूत्रादि पेशाब"

महोदयो! दण्डीजी ने लिखने में बहुत ही होशियारी दिखलाई है। दण्डीजी मूत पीनेके सम्बन्ध में शरम आ जानेसे गोमूत्रादि पेशाब ही लिख कर रह गए, पर उन्होंने पूरा २ वाक्य नहीं लिखा। भला कैसे लिखते? जो अपवित्र गन्दा व्यवहार है और जिसके लिये जनता उनकी हसी मजाक करता है वे वैसी बात ही क्यों लिखते? किन्तु दण्डीजी की माया चल नहीं सकती?

देखिये, मूत पीने के बारे में दण्डी लोगों के यहा ऐसा उल्लेख है 'गोमुत्र आदे दइ न सर्व जातिना अनिष्ट मूत्र" इस प्रकार के वाक्य में सव शब्द के अन्तर्गत गधे, घोडे का भी मूत आ जाता है। अफसोस! शतस अफसोस!! कि दण्डी लोगों के माननीय ग्रन्थ में मूत पीने के सम्बन्ध में लोक के विरुद्ध घृणित व्यवहार का उल्लेख है। फिर भी तुर्रा यह कि उपवास करने में अनिष्ट जाति का भी मूत पी जाने पर उपवास व्रत भग नही होता। इस पर से मेरा ऐसा अनुमान है कि दण्डियों के वैसा करने से एक क्षुद्र मनुष्य भी उन्हे घृणा की दृष्टि से देखे तो अत्युक्ति नही है।

२३—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"आहार करने का त्याग करने वालों को कभी रोगादि कारण से अनाहार वस्तु लेनी पड़े तो आहार त्याग रूप व्रत का दोष नहीं आता।"

दण्डीजी! ऐसा लेख और कर्तव्य तुम्हारे लिए ही मुबारिक हो। क्योंकि अपनी २ इच्छा है, मर्जी हो वैसा करो। पर दण्डीजी! किस आधार से ऐसा लिख रहे हो कि उपवास भग नही होता? अफसोस,

हठाग्रह करना बुद्धिमानों का काम नही है। जिस बात से समाज की निन्दा हो, उस बात को जड से उखाड फेंकिये और दिन मे एक ही बार टट्टी फिर कर रात मे जाने के मिस भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध जल रखने का झूठा हठ परित्याग कीजिये।

दण्डीजी लिखते हैं कि अन्य लोग पत्थर आदि फैंकते हैं, यह लिखना भी अनसमझ का है क्योंकि अव्वल तो कोई पत्थर आदि फैंकते नही और अगर मान लें कि फैंकते हैं तो वे फैंकने वाले अनसमझ बालक हैं, जो अज्ञानवश श्वे० स्था० जैन मुनि पर ही फैंक कर नही रह जाते, दण्डी लोगों पर भी फैंकते हैं। तो क्या उन अज्ञानियों के कारण जैन साधुओं की साधु वृत्ति छोड दी जाय। जिससे वे अज्ञानी फिर पत्थर नहीं फैंक पावे। पर ऐसा तो हो ही नहीं सक्ता। देखिए भगवान् महावीर को भी अज्ञानियों ने कई तरह के कष्ट दिए और पत्थर फैंके पर भगवान् अटल रहे। मूर्ख उन्हे उनके मार्ग से न हटा सके। उनकी प्रशसा हुई। सिर्फ पत्थर फैंकने पर ही निन्दा का कारण समझ लेना, दण्डीजी की बुद्धि का अजीर्ण है।

२१—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—"अपने अनेक दोषों को छुपाने के लिये प्रतिक्रमण सूत्र के नाम से सवेगियों पर मूत पीने का आरोप रखते हैं।"

दण्डीजी! जनता को धोके मे डालना, यह तुम्हारा ही काम है। मायावी लेख से सत्य तो कभी छिप नही सकता। श्वे० स्था० जैन मुनि दण्डियों पर जो मूत पीने का सच्चा आरोप रखते हैं, वह तुम्हारे ही ओर से प्रकाशित माननीय पच प्रतिक्रमण सूत्र के आधार से ही लिखते हैं। पाठक उस सूत्र को देख सत्य झूठ का पता पा सकते हैं।

पाठको! यह भी ध्यान रहे कि जब दण्डी लोग मूत पीने के सच्च आरोप से लज्जित हो गए तो उनने पच प्रतिक्रमण सूत्र की

"तथा (सुराइजलके) सुरादि जल ते मदिरादिकना पाणी जाणवा ए अभक्ष मा (नहीं पीवामां) भले छे"

इस उपरोक्त लेख मे दारु ताड़ो तो अभक्ष अर्थात् उसका नहीं पीना सिद्ध होता है पर अनिष्ट जाति के मूत की जगह ऐसा उल्लेख नहीं कि मूत अभक्ष है तो फिर मूत पीने के बारे में कुछ भी शका करने का काम नहीं रहा। परन्तु दण्डीजी! तुम्हारे पूर्वाचार्यों के लिखे अनुसार अनिष्ट जातिका मूत कल्पे अर्थात् पी ले, यह सिद्ध होता है। अब तुम लाख प्रयत्न करो तो भी मूत पीने के आरोप से दूर नहीं हो सकते। लौकिक लज्जा से तुम अपने दूषण को अब छिपाना चाहो तो वह नहीं छिप सकता।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—'वैसे ही अनाहार वस्तु में राख, आक, पेशाब, थोयर सब तरह के विष आदि के नाम बतलाये हैं। यह सब किसी भी साधु श्रावक के रात्रि में व दिन में खाने पीने के काम में कभी नहीं आते।'

दण्डीजी का यह लिखना भी सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि दण्डी लोगों के पूर्वाचार्य स्पष्ट लिख चुके हैं कि अणाहार में जितनी गिनाई हुई वस्तु वे सब साधु श्रावक ले सकते हैं, खा सकते हैं। उसमें उसका चौविहार उपवास भग नहीं होता है। फिर "खाने पीने के काम मे नहीं आते" ऐसा दण्डीजी का लेख दण्डीजी के पूर्वाचार्य के लेख से ही झूठा ठहरा।

फिर भी देखिये, दण्डीजीके लेख से ही दण्डीजी का लेख बाधित होता है। क्योंकि दण्डीजी ने अपने पैरे में लिखा है कि "अनाहार वस्तु लेनी पड़े तो आहार त्याग रूप व्रत भग का दोष नहीं आता" बस इस से स्वय सिद्ध हो चुका कि अनाहार की वस्तुओ में से खाने पीने के काम में सभी आ सकती हैं। अत दण्डीजी के वाक्य से भी अणाहार की वस्तुओंमें से एक का भी निषेध नहीं [illegible]ये उस अना-

दण्डीजी ! और तो विशेष आचार अलग रहा पर लोक लज्जा से तो डरो। 'गोमूत्रादि' शब्दानुसार गौ का मूत्र से प्राणी का मूत्र मात्र पी लेने पर उपवास भग नही होता तो क्या गधे, घोड़े आदि का मूत पीना उपवास में वर्जित नहीं है ? बस २ दण्डीजी ! इसी बल पर अपनी पवित्रता दिखाते हो ?

आगे चल कर दण्डीजी उसी पैरे में लिखते हैं कि—"ऊपर की सब वस्तु श्रावक के खाने पीने के काम में कभी नहीं आती किन्तु जो वस्तु जिसके योग्य होवे वही वस्तु ग्रहण कर सकेगा, परन्तु सब नहीं।" दण्डीजी ! यह लेख तुम्हारी आम्नाय से भी नितान्त मिथ्या है क्योंकि तुम्हारे उसी पचप्रतिक्रमण सूत्र में लिखा है कि "चउविहार उपवासे तथा रात्रि ने चउविहारे वावरी कल्पे ते अणाहार वस्तु जाणवी।"

दण्डीजी ! इस उपरोक्त वाक्य में जितनी भी अणाहार वस्तु की गिनती है उन सब वस्तुओंक काममें लेने का विधान है। तबही तो उन्होंने यह शब्द दिया है कि "कल्पे" याने अणाहार वस्तुओंमें से कोई भी वस्तु अपने काम में ले तो दोष नहीं। फिर दण्डीजी ! तुमने "अणाहार में योग्य होवें वे ही वस्तु ग्रहण करें।" ऐसा अर्थ कहा से लगाया ? तुम्हारे पूर्वाचार्य्य तो स्पष्ट लिख चुके है कि अणाहार वस्तु में से कोई भी वस्तु कल्प सकती है अर्थात् ले सक्ते हैं। उसमें मूत भी तो आ गया। फिर तुम्हारे पूर्वाचार्यों के उल्लेख से तुम दण्डी लोग क्यों शरमाते हो ?

यदि तुम कहोगे कि हमारे पूर्वाचार्य्य दारू का उल्लेख भी तो उसी ग्रंथ में कर गए तो क्या इससे पीना सिद्ध हो गया ? ऐसा समझना भी दण्डी लोगों की अज्ञानता है। क्योंकि जहा ताड़ी (दारू) आया वहा उन्होंने उसी के साथ २ नहीं पीने का भी उल्लेख कर दिया है कि यह बिलकुल अभक्ष्य है। देखो पच प्रतिक्रमण सूत्र के ४७९ वें पृष्ठ की प्रथम पंक्ति में—

मून, चोल मजीठ, करायर फूल, कुआर, थोहर, अर्कादिक पच फूल, खारो, फटकड़ी थिमेड़ इत्यादि सर्व वस्तु अनिष्ट स्वादवान छे अने इन्छा विना जे चीज मुखमा प्रक्षेप करीये तो सर्व अणाहार जाणवी ए उपवासमा पण लेवी सूजे अने आयंबिल मध्ये पाणहार पचग्गाण कन्या पछी सूजे ए आहारनु त्रीजु द्वार थयु, उत्तर भेद १८ थया ॥ १५ ॥

अब कहिये दण्डीजी! उपरोक्त प्रमाण से मूत पीने में क्या कमी रही? तुम्हारे ही आचार्य जो कि कलिकालसर्वज्ञ कहे जाते हैं स्पष्ट लिख रहे हैं कि चौविहार उपवासमे मूत भी वह चाहे अनिष्टजाति वालों का ही क्यों न हो, उसके लेने में अर्थात् पीने में कोई दोष नहीं है।

आगे चल कर दण्डीजी ने अपने मूत पीने के खण्डन में राजा बादशाह का दृष्टांत दिया है। यह भी दण्डीजी की अज्ञता है। क्योंकि राजा के यहा मास मदिरा का भोजन होने पर न राजा उन ब्राह्मणों से मास मदिरा खाने पीने का आग्रह करता है और न ब्राह्मण उनिये कभी खाते ही हैं, प्रत्युत उसका निषेध ही करते हैं। इसी तरह मूत पीने की जगह तुम्हारे पूर्वाचार्य उल्लेख कर देते कि मूत कभी पीना नहीं, यह अभक्ष्य है तो तुम्हारा कहना सही होता, पर वे तो खुले शब्दों मे कह गए, लिख गए कि चऊविहार उपवास म अणाहार में जितनी वस्तु गिनाई उनमें से कोई भी खाने व पीने तो उपवास भग नहीं होता। और तुम भी तुम्हारी उद्घोषणा में यही लिख चुके हो तो फिर मूत पीने के टोके से कैसे बच सकते हो?

यदि तुम दण्डी लोग कहोगे कि अणाहार मे विष भी तो शामिल है तो क्या हम विष भी खाते हैं? पर यहाँ यह तर्क ठीक नहीं। क्योंकि विष भी खाया जाता है। देखिये, बहुत से अफीम खाते हैं और वह भी नियमित, कितने ही पुष्टीके लिये विष मिश्रित औषधि खाते हैं। इसलिये दण्डीजी! मूत पीने के ऐब को छिपाने के लिये विष का नाम लेकर जनता को भ्रम मे डालने का क्यो व्यर्थ प्रयत्न करते हो? जनता अब

हार की गिनतीमें अनिष्ट जाति का मूत भी शामिल है। सो दण्डी लोगों के पीना भी निर्विवाद सिद्ध है। दण्डीजी का यह घृणित व्यवहार अब लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं छिप सकता।

आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है कि—"द्वेष बुद्धि से संवेगी साधुओं को पेशाब पीने का झूठा कलंक लगाते हैं।"

दण्डीजी! यह लिखना तुम्हारा नितान्त मिथ्या है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि संवेगियों (दण्डियों) पर मूत पीने का झूठा कलंक नहीं देते हैं। श्वे० स्था० जैन मुनि तो तुम दण्डी लोगों के लिखे हुए ग्रंथों पर से ही मूत पीने के प्रमाण का उल्लेख करते हैं। देखो, जरा आंखें खोल कर सं० १९५१ निर्णय सागर प्रेस बम्बई में श्रावक भीमसिंह माणक का छपाया और तुम्हारे ही दण्डी आनन्द विजयजी कलिकाल सर्वज्ञका बनाया हुआ "प्रतिक्रमण", उसकी ४७९वें पृष्ठकी ७वीं पंक्ति—

" अणाहारे मोय निंबाई " ॥ १५ ॥ दार ॥ ३ ॥

पुन देखो उपर्युक्त ग्रंथ के पृष्ठ ४८० की पंक्ति ११ वी में—

"हवे अणाहार वस्तु कहे छे। अने पूर्व कहेला चारे आहार माहेला कोई पण आहार मा न आवे, परन्तु चउविहार उपवासें तथा रात्रिने चऊविहारें वावरी कल्पे, ते अणाहार वस्तु जाणवी तेना नाम कहे छे (अणाहारे मे) अनाहार ने विषे कल्पे ते वस्तु कहे छे। (मोय के लघु नीति जाणवी अने निंबाइ के) निंबादिक ते निंबनी शली पानडा प्रमुख पांचे अंग ए सर्व अनाहार वस्तु जाणवा। आदि शब्द थकी त्रिफला, कडू, करियातु, गलो नाहि, धमासो, फेरडामूल, बोरछालिमूल, बावल छालि, कथेर मूल, चित्रो, खयरसार, सूखड, मलयागरु, अगरु, चीड, अनर, कस्तूरी, राख, चूनो, रोहिणी वज, हलिद्रा, पातली, आस गधी, कुंदरू, चोपचीनी, रिंगणी, अफिणादिक सर्वजाति ना विष, साजी खार, चूनो, जाको, उपलेट, गूगल, अतिविष, पूयाड एलीऊ, चूर्णफल, सुरोखार, टंकण खार गोमूत्र आदि देइने सर्वजातिना अनिष्ट

कार्य करके दण्डी लोग अपने समाज की घोर निन्दा करवाते हैं। लोगों के आपस में क्लेश होने में कारण भूत बनते हैं। जिससे श्वे०स्था० जैन मुनि दण्डियों को बरावर समझाने बुझाते हैं कि ऐसे अनुचित कार्य मत करो। जिस पर दण्डी लोग अपनी भूलों को सुधारते नहीं, प्रत्युत सघ म क्लेश फैला कर द्वेष बुद्धि का परिचय देते हैं।

२५—दण्डीजी! वैद्यक ग्रन्थ में रोगादि कारण मे मूत्र पीने को लिखा है, ऐसा उदाहरण दे देने से दण्डी लोगो के मूत पीने का सच्चा आरोप हट नहीं सकता। रोगादि कारण मे गौमूत्र पी लेने के वैद्यक लेख के उदाहरण दे देने से दण्डी लोगो का मूत पीना तो और भी सिद्ध हुआ। फिर भी देखिये वैद्यक तो गौमूत्र बताते हैं जो कि ससार मे उसे कोई इतना अपवित्र नहीं मानता पर दण्डीजी के ग्रंथो में तो "गोमूत्र आदि दइने सर्व जाति ना अनिष्ट मूत्र" का उल्लेख है। इस उल्लेख से तो गौमूत्र से लगा कर सर्व अनिष्ट जाति में गधा, घोडा, मनुष्य, ऊट, हाथी, कुत्ता, बिल्ली आदि सभी के मूत का समावेश हो जाता है। इनके मूत को पी लेने पर भी व्रत भग नहीं होता ऐसा दण्डी लोगों के वैद्यक उदाहरण से सिद्ध हो चुका। यदि दण्डी लोग कहेंगे कि "रोगादि कारण मे जैसा वैद्य कहते हैं वैसा ही हमारा उद्देश समझो" तो यह भी दण्डी लोगों का उत्तर मिथ्या जचता है, क्योंकि मूत पीने की जगह तुम्हारे आचार्य रोगादि कारण का उल्लेख नहीं कर गए। इसलिये अब रोगादि का बहाना करना दण्डियों का मिथ्या प्रलाप है। यदि दण्डी लोग कहेंगे कि एक के ऐसा लिख देने से वश परम्परा वाले मूत पीयकड कैसे ठहर सकते हैं? यह तर्क भी अज्ञता की द्योतक है क्योंकि जो तुम्हारे आचार्य, वे भी कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि धारण करने वाले, लिख गए हैं उनके द्वारा विधान की हुई प्रमाणावली से दण्डी लोग वश परम्परा से ऐसा करने वाले निर्विवाद सिद्ध होते हैं।

भ्रम मे आने वाली नहीं है। जनता के दो नेत्रों के सिवाय दो नेत्र हृदय के भी हैं। अत दण्डी लोगों के भ्रम पूर्ण जाली वाक्यों को जनता हृदय के नेत्रों मे देख लेगी।

आगे चल कर दण्डीजी ने जो हेडिग मे लिखा है, वह बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि श्वे० स्था० जैन मुनि में से कोई भी कपट और द्वेष बुद्धि नहीं रखता है। कपट और द्वेष तो सिर्फ दण्डी लोग करते हैं, जो अप्रमाण और झूठी बातें लिख कर व्यर्थ द्वेष बुद्धि का परिचय देते हैं।

२४—महोदयो! अणाहार की वस्तुओं में मूत को छोड़ कर विष के बहाने मूत न-ी पीने की सचाई लोगो के सामने दण्डी लोग रखते हैं, यह दण्डिगो का मायाजाल है और अपने घृणित दोष को छिपाने की कुचेष्टा है "आज तक किसी भी सवेगी साधु ने रात या दिन मे कभी पेशाब नही पिया।" ऐसा लिख देने मात्र से मूत पीने के दूषण से तुम दूर नहीं रह सकते। जब कि दण्डी लोगो के पूर्वाचार्यो ने बहुमान्य से मूत पीने को लिखा है? क्या यह असम्भव बात है कि आज तक नही पिया हो?

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी पैरे में लिखा है कि—"लोग गुरु का मुर्दा जला कर स्नान करते नहीं।" यह लिखना भी दण्डीजी का मिथ्या है क्योकि श्वे० स्था० जैन मुनि मुर्दा का जला कर लोग स्नान करते हैं, यह जग प्रसिद्ध बात है। इसमें प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं। फिर दण्डी लिखते हैं कि "गरिष्ठ वस्तु खाने वाले" यह लेख भी दण्डीजी के पहिले लेखों में बाधित किया जा चुका है। दण्डी लोग भगवदाज्ञा के विरुद्ध पीले कपड़े पहनते हैं, खुले मुह बोलते हैं, टट्टी अंधेरे २ फिरने का मुहावरा रखते हैं, रात्रि मे पानी के बजाय चौविहार उपवास में मूत पीने की आज्ञा देते हैं, इत्यादि अनेक लोक विरुद्ध, समाजविरुद्ध, भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध, अनुचित व अपवित्र

रजस्वला की अशुद्धि पूरी २ मानों और उसी अनुसार वर्ताव करो।

३०—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—'११-१२ रोज जिसके घर में जन्म हुआ या मृत्यु हुई उसके घर का आहार पानी नहीं लेता।'

दण्डीजी! तुम्हारे लेख के अनुसार तुम्हारे भक्त श्रावक लोग पालन कहा करते हैं? क्योंकि घोसी दूध वाले आदि लोगों के यहा जन्म होवे तदपि कोई सूतक रखते नहीं। और उनके घर में कोई मर जाय तो कोई सूतक पातक रखने नहीं। फिर वहाँ से दूध, दही, घी, तेल, इलायची, केशर, कपूर, लवग, काली मिरच आदि अनेक वस्तु ले आते हैं और खा जाते हैं और तुम दण्डी लोगों को भी वही सूतक पातक का लाया हुआ बहरा देते हैं। इसी तरह शाक, भाजी, फल वगैरह के लिये भी समझिये। अब कहिये, दण्डीजी! कहा गया तुम्हारा सूतक पातक?

३१—दण्डीजी! अशुद्ध जगह में व शरीर व वस्त्र की मलीनता में श्वे० स्था० जैन साधु न कोई स्वाध्याय करते हैं और न पठन पाठन ही करते हैं। इसी प्रकार साध्वी भी रजस्वला अवस्था में न शास्त्र पढती और न गोचरी आदि के लिये अन्य घरों में जाती हैं। केवल दण्डीजी का लेख ही नितान्त मिथ्या है।

३२—दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन साधु साध्वी श्रावक श्राविका सो जन्म मरण वगैरह की अशुद्धि सूतक का पूरा २ ज्ञान रखते हैं और उसका पालन भी यथायोग्य करते हैं। ऐसा न करने का उल्लेख दण्डीजी का मिथ्या है। दण्डीजी! तुम लोग व तुम्हारे अनुयायी लोग सूतक पातक जैसा रखना चाहिये वैसा कहा रखते हो? केवल अपनी पवित्रता की छाप जनता के सामने बैठाने के लिये ही सूतक पातक पुकार रहे हो पर वास्तविक में देखा जाय तो महा मलीनता का कार्य, सिर नीचा करने जैसा तुम लोगों के आचार्य ने तुम्हारे ग्रन्थ में- रचना

स्वीकार नहीं करेगा। फिर दण्डीजी को कहने का साहस ही कैसे हो जाता है यह नहीं मालूम होता। क्या दण्डीजी तत्व ज्ञान से कोरे हैं?

फिर देखिये, दण्डीजी ने कहा कि मन में स्मरण करने से पाप बंधन नहीं, उच्चारण में पाप बंधन है तब तो इन दण्डियों के कथनानुसार मन से हिंसा करने वालों को तो पाप बंधन ही नहीं होता होगा, यदि ऐसा ही मानते हैं तो दण्डीजी को जैन कहना भी दोष है।

फिर भी देखिये, दण्डी लोग रजस्वला स्त्री को नवकार का उच्चारण करनेसे पाप बंधन होता है, ऐसा कहते हैं; पर उन्हीं के आम्नाय की बनी दण्डी लोगों की रची "गप्प दीपिका समीर" नाम की पुस्तक जो स० १९४८ मे मुद्रित हुई उसके पृष्ठ १०४ पर निम्न प्रकार से लिखा है—

"आर (और) जे कर उस माणस को ऐसा नियम होवे कि मैंने पूजा करा विना तथा सामयिक करा विना कोई भी वस्तु मुंह में पानी नहीं तो उस माणस को सूतक वा पातक कुछ भी नहीं है तथा हम (आम) जगत् व्यवहार मे भ्रष्ट नहीं है।"

देखिये, इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि सामायक करे उसमें सूतक पातक कुछ नहीं और दण्डीजी लिखते हैं कि नवकार गिनने में पाप बन्धन, तो इन दोनों मे से सच्चा कौन? यह साहजिक प्रश्न खड़ा होता। इसके उत्तर में दोनों मे से कोई एक झूठा अवश्य ठहरता है।

दण्डी लोग अपनी झूठी पवित्रता दिखाने के लिये कह पड़ते हैं कि रजस्वला से परहेज करना और ग्रंथों में लिखते हैं कि सूतक पातक कुछ नहीं, यह उनकी दुरंगी चाले जनता को धोके में ले जाने वाली मायावी जाल से कुछ कम नहीं हैं।

२९ दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन तो अच्छी तरह से रजस्वलाओं की अशुद्धि मानते हैं पर तुम दण्डी लोग भी दुरंगी चाल छोड़

कर रजस्वला की अशुद्धि पूरी २ मानों और उसी अनुसार वर्ताव करो।

३०—आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि—'११-१०' रोज तक जिसके घर में जन्म हुआ या मृत्यु हुई उसके घर का आहार पानी नहीं लेता।'

दण्डीजी! तुम्हारे लेख के अनुसार तुम्हारे भक्त श्रावक लोग पालन कहां करते हैं? क्योंकि घोसी दूध वाले आदि लोगों के यहा जन्म होवे तदपि कोई सूतक रखते नहीं। और उनके घर में कोई मर जाय तो कोई सूतक पातक रखने नही। फिर वहाँ से दूध, दही, घी, तेल, इलायची, केशर, कपूर, लवग, काली मिरच आदि अनेक वस्तु ले आते हैं और खा जाते हैं और तुम दण्डी लोगों को भी वही सूतक पातक का लाया हुआ बहरा देते हैं। इसी तरह शाक, भाजी, फल वगैरह के लिये भी समझिये। अब कहिये, दण्डीजी! कहा गया तुम्हारा सूतक पातक?

३१—दण्डीजी! अशुद्ध जगह में व शरीर व वस्त्र की मलीनता में श्वे० स्था० जैन साधु न कोई स्वाध्याय करते हैं और न पठन पाठन ही करते हैं। इसी प्रकार साध्वी भी रजस्वला अवस्था में न शास्त्र पढती और न गोचरी आदि के लिये अन्य घरों में जाती हैं। केवल दण्डीजी का लेख ही नितान्त मिथ्या है।

३२—दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन साधु साध्वी श्रावक श्राविका तो जन्म मरण वगैरह की अशुद्धि सूतक का पूरा २ ज्ञान रखते हैं और उसका पालन भी यथायोग्य करते हैं। ऐसा न करने का उल्लेख दण्डीजी का मिथ्या है। दण्डीजी! तुम लोग व तुम्हारे अनुयायी लोग सूतक पातक जैसा रखना चाहिये वैसा कहा रखते हो? केवल अपनी पवित्रता की छाप जनता के सामने बैठाने के लिये ही सूतक पातक पुकार रहे हो पर वास्तविक में देखा जाय तो महा मलीनता का कार्य, सिर नीचा करने जैसा तुम लोगों के आचार्य ने तुम्हारे ग्रन्थ में रचना

स्वीकार नहीं करेगा। फिर दण्डीजी को कहने का साहस ही कैसे हो जाता है यह नहीं मालूम होता। क्या दण्डीजी तत्व ज्ञान से कोरे हैं?

फिर देखिये, दण्डीजी ने कहा कि मन में स्मरण करने से पाप बधन नहीं, उच्चारण में पाप बधन है तब तो इन दण्डियों के कथनानुसार मन से हिंसा करने वालों को तो पाप बधन ही नहीं होता होगा, यदि ऐसा ही मानते हैं तो दण्डीजी को जैन कहना भी दोष है।

फिर भी देखिये, दण्डी लोग रजस्वला स्त्री को नवकार का उच्चारण करनेसे पाप बधन होता है, ऐसा कहते हैं, पर उन्हीं के आम्नाय की बनी दण्डी लोगों की रची "गप्प दीपिका समीर" नाम की पुस्तक जो स० १९४८ में मुद्रित हुई उसके पृष्ठ १०४ पर निम्न प्रकार से लिखा है—

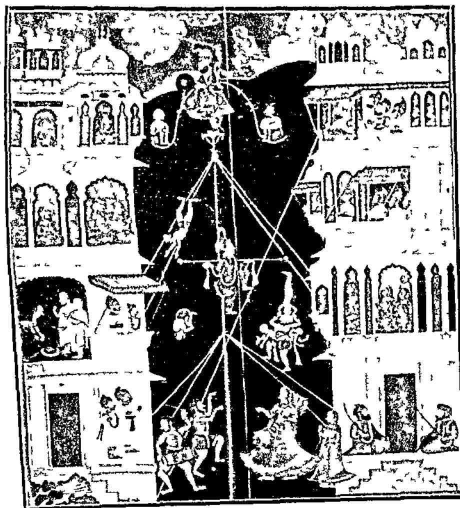
"आर (और) जे कर उस माणस को ऐसा नियम होवे कि मैंने पूजा करा बिना तथा साम यिक करा बिना कोई भी वस्तु मुंह मे पानी नहा तो उस मागस को सूतक वा पातक कुछ भी नहीं है तथा हम (आम) जगत् व्यवहार से भ्रष्ट नहीं है।"

देखिये, इसमें स्पष्ट उल्लेख है कि सामायक करे उसमें सूतक पातक कुछ नहीं और दण्डीजी लिखते हैं कि नवकार गिनने में पाप बन्धन, तो इन दोनों में से सचा कौन? यह माहजिक प्रश्न खड़ा होता है। इसके उत्तर में दोनों में से कोई एक झूठा अवश्य ठहरता है।

दण्डी लोग अपनी झूठी पवित्रता दिखाने के लिये कह पड़ते हैं कि रजस्वला से परहेज करना और ग्रथों में लिखते हैं कि सूतक पातक कुछ नहीं, यह उनको दुरगी चालें जनता को धोके में ले जाने वाली मायावी जाल से कुछ कम नहीं हैं।

२९ दण्डीजी! श्वे० स्था० जैन तो अच्छी तरह से रजस्वलाओं की अशुद्धि मानते हैं पर तुम दण्डी लोग भी दुरगी चाल छोड़

चित्र परिचय के लिये



(७) नाटक करते हुवे इलायची कुंवर शान्त स्वभावी मुनि श्री को देख कर वैराग्य को प्राप्त हुवे।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

दण्डीजी! बासी, विदल, शहद, आचार, कदमूल, मक्खन आदि का उत्तर भली प्रकार पहिले लिख चुके हैं। पाठकगण उसे पढ़ कर स्वय निष्कर्ष निकाल लें। दण्डीजी! तुम श्वे० स्था० जैन साधु पर सम्प शान्ति उच्छेदन का आरोप लगाते हो यह भी सर्वथा मिथ्या है। दरअसल सम्प शांति का मजा देखना हो तो धुलेवे या हत्याराड, बम्बई में कलह काड आदि २ का मजा अवलोकन करो ताकि मालूम हो जाय कि घर २ में क्लेश फैलाने वाले कौन हैं?

३५—आगे चल कर दण्डीजी ने टोले शब्द का उपहास्य किया है-और कहा है कि टोले पशुओं के होते हैं। धन्य है तुम्हारी प्रखर जड बुद्धि को! दण्डीजी! जरा निरे निरक्षर मत बनिये। टोला शब्द समुदाय वाचक है। यह शब्द सब तरह की वस्तुओ के समुदाय में घटित होता है। यदि पाच दस दण्डी लोग मिल कर कहीं जाते हो तो उन्हें भी लोग कहेंगे कि टोले के टोले कहा जा रहे हैं? क्या उन्हें ऐसे कह देने मात्र से दण्डी लोग पशु बन गए? नहीं, टोला-समुदाय, गच्छ, कुल, शाखा चाहे जो कहा जाय ये सब ही शब्द, समुदाय अर्थ के द्योतक शब्द हैं।

फिर देखिये! दण्डी लोग टोले शब्द का उल्टा अर्थ पशु का टोला करते हैं तो क्या दण्डी लोगों के माने हुए कुल और शाखा शब्द का अर्थ इस प्रकार नहीं हो सकता कि कुल भगी या चमार का और शाखा बड या पीपल की।

३६—दण्डीजी! अब जो तुम शब्दार्थ पर ही उतर पड़े तो चलो पहिले तुम तुम्हारे घर को तो देख लो कि "खरतर" शब्द की क्या व्याख्या है और उसका क्या अर्थ निकलता है। "खर=गधा, तर= विशेषार्थ द्योतक। दण्डीजी अब क्या बाकी रहा। आपके शब्दार्थ का उत्तर भली भाति मिल चुका। विशेष लिखना अनुपयुक्त है।

दण्डीजी ! स्थानकवासी कहने से मकान के मालिक नहीं कहला सकते क्योंकि मकान साधुजी का नहीं है और न उस पर उनकी मालकी ही है। इसलिये मठवासी का दृष्टान्त बिलकुल अघटित है। हाँ, तुम दण्डी लोगों पर घटना हो तो हमें मालूम नहीं। बिना स्थान, बिना जगह बिना कोई ठहर ही नहीं सकते। अतः तुम हम सब ही को स्थानकवासी कहलाने में कोई दोषापत्ति नहीं है। क्योंकि आश्रय, स्थान, स्थानक, उपाश्रय, मकान, घर, हवेली आदि नामों से पुकारे जाते हैं और विश्राम लेने को उसी में ठहरते हैं।

दण्डीजी ! तुम लोग देहरावासी कहलाते हो तो यह बड़ी भारी अज्ञान दशा है। क्योंकि तुम लोग देहरे में तो रहते ही नहीं। तो फिर देहरा वास कैसे? अतः सच्चे जैनियों को देहरवासी कहलाना सर्वथा जिनाज्ञा विरुद्ध है।

२७—दण्डीजी ! आगे चल कर तुमने लिखा है कि—"जिनेश्वर भगवान् रूप महाराजा के आचार्य उपाध्याय रूप मन्त्री (दीवान) कोतवाल के हाथ के नीचे साधु पद जो एक छोटा सिपाही समान है। तथा भगवान् का सर्वज्ञ मार्ग अर्हन्त मार्ग आदि नामों के बदले साधु-मार्गी नाम चलाते हैं, इससे साधुमार्गी नाम चलाने वाले सब लोग जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा उत्थापन करने के गुन्हेगार बनते हैं।" वगैर वगैर।

दण्डीजी ! यह तुम्हारा लिखना सिर्फ मिथ्यात्व का द्योतक है। क्योंकि "साधुमार्गी धर्म" यह भगवान् का मार्ग है इसलिये साधुमार्गी कहने से भगवान् की आज्ञा उत्थापन करने के अपराधी नहीं हो सकते। तुमने इस प्रकार अनेकों मिथ्या बातें लिख कर रसातल के कपाट का स्वकर कमलों से उद्घाटन करने का सुन्दर संकल्प किया है। तो जल्द ही प्रशंसा मय निपटारा हो जायगा। फिर देखिये "अर्हन्त" प्रभु का पद साधु पद से अलग नहीं है और [illegible] पद से

1

अर्थात् पांच समिति, तीन गुप्ति, यह आठ प्रवचन मृया माता के हैं। यह धर्म कैसा है ! (सच्चं) सच्चा है (अणुत्तर) सर्वोत्तम, प्रधान (केवलियं) केवली भगवान् के द्वारा प्रतिपादन किया हुआ, (पडिपुण्णं) सकल गुणों कर प्रतिपूर्ण-भरा हुआ (णेयाउयं) न्याय मार्ग है (संसुद्ध) अत्यन्त शुद्ध मायादि कलक रहित, (सिद्धिमग्गं) मोक्ष का मार्ग है (मुत्तिमग्गं) अहितार्थ से मुक्त करने वाला मार्ग (निज्जाणमग्गं) सकल कर्मों का क्षय करने वाला ऐसा मोक्ष का मार्ग (निव्वाणमग्गं) संसार मार्ग से उत्तीर्ण होने के लिये एकान्त निर्वाण मार्ग (निव्वाणमग्गं) संसार सागर से उत्तीर्ण होने के लिये एकान्त निर्वाण मार्ग है।" इति वचनात्।

दण्डीजी ! उक्त आवश्यक सूत्र के प्रमाण से स्वयं सिद्ध है कि श्रमण साधुओं का ही धर्म प्रभु का प्रतिपादित धर्म समझो। तुम दण्डियों का जड़ोपासना रूप धर्म तो उक्त प्रमाण से निर्विवाद आधुनिक है और साधु मार्गियों का, मुनियों का धर्म जिनागम विहित और न्याय जिनेश्वर मार्ग अनादि सिद्ध है तो केवल यही एक साधु मार्ग है।

दण्डीजी ! फिर भी श्रमण धर्म की प्राचीनता के विषय में देखिये आनन्दजी आदि दस श्रावकों और श्राविकाओं ने वीर परमात्मा के मुख कमल से वाणी श्रवण कर प्रभु प्रतिपादित द्वादश विधि गृह वास का धर्म धारण किया और पंच महाव्रत धारी श्वे० स्था० जैन मुनियों के ही उपासक बने। निम्नोक्त प्रमाण पढ़िये—

"तत्तेणं से आणंदे समणोवासए जाते अभिगए जीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरति।" ६५। तथाहि—

"तत्तेणं सासि वाणंदा भारिया समणोवासिया जाया जाव पडिलाभेमाणि विहरति" ६६। इति वचनात्।

अर्थात् जब "आनन्दजी" नाम के श्रमणोपासक श्रावक श्रीवीर परमात्मा के मुख कमल से परम वैराग्य रस मयी वाणी सुन कर द्वादश विध गृह वास का धर्म धारण कर जीवाजीव के जानकार बन के

पृथक् नहीं है। एक "सिद्ध पद" के अतिरिक्त चारो ही पद एक "स
पद" ही मे समावेश होते हैं। अर्थात् एक साधु पद के चारों ही वि
पण हैं। न कि पृथक् २। जैसे मति, श्रुति, अवधि और मन पर्यव,
चारों ज्ञान केवल ज्ञान के अन्तगत के भेद हैं और जब केवल ज्ञान
होता है तो उक्त चारो ही ज्ञान केवल ज्ञान में प्रविष्ट हो जाते हैं। इ
प्रकार "अर्हत, आचार्य, उपाध्याय और मुनि ये चारों पद एक "स
पद" मे आ जाते हैं। ऐसा महद् पद जिसके लिये दण्डी आचार्य उ
ध्याय रूपी मन्त्री (दीवान) कोतवाल के हाथ के नीचे साधु पद तो ए
छोटे सिपाही का पद ऐसी उपमाए देते हो यह तुम्हें ही शोभा देता है
फिर साधुमार्गियों को आज्ञा उत्थापक कह कर तो तुमने कमाल कि
है। क्योंकि मुनि मार्ग यह जब खास सर्वज्ञ प्रभु का माग सिद्ध है अ
केवल वीर परमात्मा ने ही नहीं चौवीसों परमात्माओ ने अपने पवि
मुख से मुनि धर्म प्रतिपादित किया है और ससारी मार्गों मे वल इ
मार्ग को सच्चा मार्ग प्ररूपित किया है तथा यही मार्ग ससार भर मे सर्वो
त्तम एवम् न्याय सगत पवित्र मोक्ष का देने वाला है तो फिर श्रमण ध
के समान ससार से तिराने वाला अन्य मार्ग ही कौन है? देखो, इस
विषय में आवश्यक सूत्र में परमात्मा का उल्लेख है। कि —

"नमो चउवीसाए, तित्थयराण उसभाई, महावीराण, पज्जवसाणाए
इणमेव निग्गथ, पावयण, सच्च, अणुत्तर, केवलिय, पडिपुण्ण, णेया
उय, ससुद्ध, सलगत्तण, सिद्धिमग्ग, मुत्तिमग्ग निज्जाणमग्ग निव्वाग
मग्ग' इति वचनात्।

(नमो) नमस्कार हो (चउवीसाए) चौवीसो (तित्थयराण तीर्थ
करों को (उसभाई) ऋषभदेवजी से लेकर (महावीराण) श्री चौवीसवे
महावीर स्वामी (पज्जवसाणाण) पर्यन्त अर्थात चौवीसी जिनराज को
(इणमेव यह निग्रन्थो का धर्म आठ प्रवचन मय द्वादशागी रूप तीर्थकरों
ने प्रतिपादन किया (निग्गथ) निग्रथों का धर्म (पावयण) आठ प्रवचन

भगवान् गर्दभाली नामक अणगार के समीप जिन शासन अर्थात् सर्वज्ञ मार्ग में दीक्षित हो सकल कर्म क्षय कर केवल ज्ञान केवल दर्शन पा मोक्ष में जा विराजे।

दण्डीजी! उक्त श्रीमद्उत्तराध्ययन सूत्र के प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध है कि धर्म अनादि है और सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् का ही है न कि आधुनिक और किसी अल्प व्यक्ति का चलाया हुआ।

दण्डीजी! इन शास्त्रोक्त प्रमाणों से तो श्वे० स्था० जैन मुनियों का ही मार्ग अनादि और जिनागमानुकूल मोक्ष प्रदायक सिद्ध है और साधुमार्गी को अजैन कहने में जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा के उत्थापन करने के कारण अपराधी नहीं। इसलिये तुम्हारा लिखना सर्वथा मिथ्या है। हां, तुम दण्डी लोग तो भगवदाज्ञा के अवश्य अप राधी हो सकते हो क्योंकि तुम पीताम्बरी दण्डी लोगों को जब २ कोई पूछता है तो तुम लोग सर्वज्ञ-शासन, जैनमार्ग अर्हंत प्रवचन, श्रमण-धर्म आदि शास्त्र विहित नामों के बदले में दुजेरे मूर्तिपूजक, तपगच्छीय, खरतरगच्छीय, अचल गच्छीय आदि नाम बतलाते हो। इसलिये तुम्हीं दण्डी लोग भगवान् की आज्ञा के उत्थापक और सर्वज्ञ प्रणीत श्रमण धर्म के लुम्पक हो तथा जिस प्रकार राजा महाराजा के नाम की सुन्दर मर्यादा उत्थापन कर अपने नाम की कुत्सित मर्यादा चलाने वाला सि पाही बड़ा अपराधी होता है इसी प्रकार भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध जडोपासना रूप धर्म की स्थापना करके तुम दण्डी लोग ही महान् गुन्हेगार बनते हो और प्रभु आज्ञा के विरोधक होते हो।

दण्डीजी! आवश्यक, उववाई आदि जिनागमों में निर्ग्रन्थ, प्रव चन का जो नाम आया है, वह तीर्थङ्कर भगवान् के दिये हुए उपदेश का तथा गणधरों की रची हुई द्वादशांगी का नाम है। यह बिलकुल ठीक है और उसमें निर्ग्रन्थ प्रवचन यह नाम तीर्थंकर गणधरों का कहा जाता

(श्राम्यन्ति–तपश्चरन्तीति श्रमणा) ऐसे श्वेताम्बर जैन श्रमणों (साधुओं) के उपासक बन कर यावत् (श्रमण) निर्ग्रंथों को चतुर्दश प्रकार का प्रासुक दान प्रति लाभते विचरने लगे अर्थात् इसी प्रकार आनन्दजी, श्रावक की शिवानन्दा नाम की भार्या ने भी श्री महावीर प्रभु की वाणी श्रवण कर द्वादश विध गृहवास का धर्म धारण किया व श्रमणोपासक श्राविका बनी और चतुर्दश विधि युक्त प्रासुक दान निर्ग्रंथ मुनियों को प्रतिलाभ करती हुई अर्थात् दान देती हुई विचरने लगी।'

दण्डीजी उक्त प्रमाण से भी श्रमण' साधुओं का धर्म अनादि सिद्ध है और तुम दण्डियों द्वारा प्रतिपादित जिनागम विरुद्ध जटो पासना रूप धर्म ही आधुनिक सिद्ध हुआ।

दण्डीजी! 'श्रमण-धर्म अनादि सिद्ध है' इस विषय में श्री श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी ने मोक्ष पधारते समय श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र के १८ वें अध्ययन में भी श्रमण धर्म को ही जिन शासन अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग प्रतिपादन किया है। यथा, निम्नलिखित प्रमाण अवलोकन कीजिये—

'संजओ चइउ रज्जं निक्खन्तो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ, अणगारस्स अन्तिए ॥१९॥'

अर्थात् भगवान गर्दभाली मुनि की परम वैराग्य रस मयी वाणी सुन कर (संजओ) वह संजय नाम का राजा उसी समय (रज्जं) राज्य का (चइउ) त्याग करके (भगवओ) भगवान (गद्दभालिस्स) श्रीगर्दभाली नाम के (अणगारस्स) मुनि निग्रंथ के (अन्तिए) समीप (जिण-सासणे) जिन शासन—अर्थात् सर्वज्ञ मार्ग के विषय (निक्खन्तो) निकले अर्थात् दीक्षा ग्रहण की।

भावार्थ—श्रमण भगवान गर्दभाली मुनि की परम वैराग्य रस मयी वाणी सुन कर कम्पिलपुर का नगरीश संजय नामक राजा राज्य ऋद्धि अन्त पुरादि सकल परिवार त्याग कर उक्त मुनिराज श्रमण

आदि नाम छोड़ के मूर्तिपूजक, सवेगी, खरतरगच्छी, तपगच्छी आदि नाम से प्रसिद्धि में आने का प्रयत्न करते हैं, जिससे जिनमार्ग के उत्थापन करने के दोष के भागी बन अनन्त संसार बढ़ाते हैं।

दंड—दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि अपना मूल नाम "सौधर्म गच्छीय" ऐसा बतलाते हैं किंतु हमारी इसका लोंकाशाह से है ऐसा कोई भी जानकार मुनि नहीं कहता, तो मूलनाम "लुंकागच्छ" कहते हैं ऐसा तुम्हारा लिखना मिथ्या है। इसी प्रकार "यति लोकों के पास लुंका अशुद्ध पुस्तक लिखने लगा तब यतियों ने लुंका से पुस्तक लिखवाना बन्द कर दिया तो लुंका की आजीविका (रोजी) मारी गई जिससे लुंका यतिया पर नाराज होकर निंदा करता हुआ यतियों की प्रतिष्ठा व आजीविका का उच्छेद करने लगा व उसने जिन प्रतिमा की उत्थापना कर स० १९३५ में अपना नया मत चलाया।" इस प्रकार दण्डीजी तुम्हारा लिखना मिथ्या है। क्योंकि कोई वे घर के गरीब नहीं थे। वे तो सरकारी अहलकार थे, उनके अक्षर बड़े ही शुद्ध और सुन्दर थे इसलिये परिग्रहधारी द्रव्य लिंगी निरक्षर भट्टाचार्य यति लोगों ने जिनके कि पास भंडार जैनागम के भरे थे वे उन्हें जीण रेणी दीमक आदि के खाये हुए दृष्टिगत हुए तो उन यतियों, निरक्षर भट्टाचार्यों ने जिनागमों की हालत देख विचार किया कि यदि इन आगमों को किसी शुद्ध व सुन्दर लेखक से पुनः लिखवा लें तो अत्युत्तम है, नहीं तो जिनेन्द्रागम के विच्छेद होजाने पर समस्त जैनधर्म ही समूल विच्छेद हो जायगा इस पर से सारे अहमदाबाद में सुन्दर व शुद्ध लेखक को तलाश करते वे द्रव्य लिंगी परिग्रह धारी यति लोक घूमते घामते कालूपुर के रहने वाले कारकून लौंकाशाह के पास आये और आपकी शुद्ध व सुन्दर लिपि देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे उन्हें नम्रता पूर्वक हार्दिक भाव से कहने लगे तो लौंकाशाह ने अपना श्रावक का कर्तव्य तथा जिन शासन की अभिवृद्धि व उपकार का कारण समझ बिना किसी वेतन के उ

है। जिससे जैन समाज में जितने साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाएं होती हैं वह सब जिनेश्वर भगवान् के उपदेश दिये हुए मार्ग के अनुसार चलने वाली हैं और जैनी कहलाती हैं। दण्डीजी! यह लिखना तो तुम्हारा बिलकुल ठीक है। तुम्हारे इस लेखानुसार चलने वाली अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन को सादर सप्रेम आखो पर चढा के चलने वाली है तो केवल एक श्वे० स्था० जैन समाज ही है और यही समाज श्वे० जैन होने का सच्चा दावा रखती है। पीताम्बर समाज नहीं, क्योंकि वीर परमात्मा ने जैन निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थनियों के लिये श्वेत (सफेद) मानोपेत वस्त्र ही धारण करना सूत्रों में प्रतिपादन किया है। इस वीर वाक्य के अनुसार मानोपेत श्वेत वस्त्र धारण करने वाली है तो एक श्वे० स्था० जैन समाज, जिसके निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनियां—साधु-साध्वियां निर्ग्रन्थ प्रवचनों के अनुयायी हैं। इसी धर्म को श्रमणधर्म—निर्ग्रंथधर्म-साधु-धर्म, साधुमार्गी सर्वज्ञमार्ग, जैनधर्म आदि अनेक नाम से पुकारते हैं। इसलिये दण्डीजी! साधुमार्गी, निर्ग्रंथधर्मी, श्रमणधर्मी आदि कहने में किसी प्रकार का लोप व आशातना नहीं है। खासकर जिनेश्वर भगवान् ने ही श्रमणोपासक—अर्थात् साधुओं के उपासक ऐसा शब्द प्रतिपादन किया है किन्तु जडोपासक, जड़ की उपासना करने वाले तथा मूर्ति पूजने वाले आदि शब्द किसी भी सूत्र में कहीं भी नहीं प्रतिपादन किये। तथा सवेगधर्मी, खरतरगच्छी, तपगच्छी, अचलगच्छी आदि एक भी शब्द जिनागमों में नहीं लिखा। तथा न पीले वस्त्र धारण करने का ही बयान जैन शास्त्रों मे वर्णित किया। इससे सिद्ध है कि पीताम्बरी संवेगी दण्डी लोग भगवदाज्ञा के विरुद्ध चलने वाले हैं अर्थात् भगवदाज्ञा के बाहर हैं और पीले वस्त्र भी जिनाज्ञा विरुद्ध धारण करते हैं। इसलिये पीत वस्त्रधारी जैन मुनि नहीं हैं। जैन मुनि तो वे ही हैं जो शास्त्रानुसार मानोपेत श्वेत वस्त्र धारण करते हों। दण्डी लोग अपने नये पथ की प्रसिद्धि के लिये निर्ग्रन्थ प्रवचन श्रमणोपासक, सर्वज्ञ धर्म

आदि नाम छोड़ के मूर्तिपूजक, सवेगी, खरतरगच्छी, तपगच्छी आदि नाम से प्रसिद्धि में आने का प्रयत्न करते हैं, जिससे जिनमार्ग के उत्थापन करने के दोष के भागी बन अनन्त ससार बढ़ाते हैं।

देख—दण्डीजी ! श्वे० स्था० जैन मुनि अपना मूल नाम "सौधर्म गच्छीय" ऐसा बतलाते हैं किंतु हमारी हमदा लौंकाशाह से है ऐसा कोई भी जानकार मुनि नहीं कहता, तो मूलनाम "लु पागच्छ" कहते हैं ऐसा तुम्हारा लिखना मिथ्या है। इसी प्रकार "यति लोकों के पास लु का अशुद्ध पुस्तक लिखने लगा तब यतियो ने लु का से पुस्तक लिखवाना बन्द कर दिया तो लु का की आजीविका (रोजी) मारी गई जिस से लु का यतिया पर नाराज होकर निंदा करता हुआ यतियों की प्रतिष्ठा व आजीविका का उच्छेद करने लगा व उसने जिन प्रतिमा की उत्थापना कर स० १९३५ में अपना नया मत चलाया।" इस प्रकार दण्डीजी तुम्हारा लिखना मिथ्या है। क्योंकि कोई वे घर के गरीब नहीं थे। वे तो सरकारी अहलकार थे, उनके अक्षर बड़े ही शुद्ध और सुन्दर थे, इस लिये परिग्रहधारी द्रव्य लिगी निरक्षर भट्टाचार्य यति लोगों ने जिनके कि पास भडार जैनागम के भरे थे वे उन्हे जीर्ण रेणी दीम आदि के खाये हुए दृष्टिगत हुए तो उन यतियो, निरक्षर भट्टाचार्यों ने जिनागमों की हालत देख विचार किया कि यदि इन आगमो को किसी शुद्ध व सुन्दर लेखक से पुन लिखवा ले तो अत्युत्तम है, नहीं तो जिनेन्द्रागमों के विच्छेद होजाने पर समस्त जैनधर्म ही समूल विच्छेद हो जायगा इस पर से सारे अहमदाबाद में सुन्दर व शुद्ध लेखक को तलाश करते वे द्रव्य लिंगी परिग्रह धारी यति लोक घूमते घामते कालुपुर के रहने वाले कारकून लौंकाशाह के पास आये और आपकी शुद्ध व सुन्दर लिपि देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे उन्हे नम्रता पूर्वक हार्दिक भाव से कहने लगे तो लौंकाशाह ने अपना श्रावक का कर्त्तव्य तथा जिन शासन की अभिवृद्धि व उपकार का कारण समझ बिना किसी वेतन के उन

यतियो की हार्दिक भावना स्वीकृत की। तब यतियो ने बड़े ही आनन्द के साथ केवल एक दशवैकालिक की प्रति लाकर लौंकाशाह को दी तब लौंकाशाह ने सहर्ष कर कमलो में ग्रहण की और लिखने के पूर्व उक्त सूत्र को समग्र पढ़ा तब आपको ज्ञात हुआ कि जिनेश्वर प्रणीत मार्ग तो "पुढवि न खणे न खणाविए, सी ओदग न पिए न पियावए। अगणि सत्थ जहा सुनिसिअ, त न जले, न जलावए जे स भिक्खू" इस प्रकार है और यति लोग तो जल, फूल, धूप हिंसाजनक मूर्तिपूजन, आदि के तथा मन्दिर बनवाने या जिर्णोद्धार, जल यात्रा, स्नान पूजा, स्वामी वात्सल्य, प्रतिष्ठा आदि छः काया के हिंसा जनक उपदेश स्वय देते और दिलाते हैं और विहारादि के समय गाडी, तागे, श्रावक, नौकर आदि साथ रखते हैं तथा दाल बाटी आदि नित नये उम्दा २ भोजन, उष्ण जल आदि बनवा के खाते पीते हैं तथा मोल मगवा कर खाते हैं, जिनागमों के विपरीत प्ररूपणा करते हैं, आगमों को भडार में रख छद्मस्थो के बनाये स्वकपोल कल्पित कथा, ढाल, चौपाई, शत्रु जयमहात्म्य आदि व्याख्यान द्वारा सुनाते हैं, शास्त्रानुकूल टीका, चूर्णि, दीपिका, भाष्य आदि भडारगत कर नवीन टीका, चूर्णि, नियुक्ति, दीपिका आदि में मूर्तिपूजा आदि हिंसाजनक विषय रख कर मोक्ष पिपासु जैन जनता को प्रतिकूल मार्ग दिखा रहे हैं। उनने सोचा इस समय यदि इस विषय में इनसे कुछ कहा सुना जायगा तो ये पेटार्थी लिखने को सूत्र न देंगे और जब तक जिनागमों का प्रचार प्रत्येक व्यक्ति के कर कमलों तक न होगा तब तक जैन धर्म का ससार में अस्तित्व रहना बहुत ही भारी हो जायगा। इसलिये लौंकाशाह ने जैन यतिओं से कुछ न कह एक २ सूत्र की दो २ प्रत लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार ३२ सूत्रोंकी एक २ प्रत अपने पास रख कर एक २ प्रत यतियो को दे दी और अपने पास रखी हुई ३२ सूत्रों की एक २ प्रत को अपने बैठक के कमरे मे रखली और "जिनागम वाचनालय" नाम की एक सस्था कायम करदी।

एक दिन परिग्रह धारी द्रव्य लिंगी यति का शिष्य भिक्षादि किसी कार्य वश लौंकाशाह के घर पहुंचा और उक्त जिनागमों की मस्या को देख पागल सा हो उसने अपने गुरु के सामने उक्त सख्या का सारा हाल कहा। गुरु ने यह बात सुन उसी दिन से नवीन प्रत लिखने देना बन्द कर दिया। और पूर्व जितनी प्रतें लिखने दी थीं वे भी वापस ले लीं। लौंकाशाह को यतियों ने जितनी भी प्रतें लिखने दी थीं उनका एक २ उतारा अपने पास रख लिया था इसलिए अब स्वयं लौंकाशाह अपने मकान पर ही जिनागम का पठन पाठन करने लगे, उन सर्वज्ञ प्रणीत सूत्रों को सुनने के लिये सहस्रों की तादाद में नर-नारी एकत्रित होने लगे तब लौंकाशाह ने भी अपने अवशेष गृह कार्य को भी जला-जली देकर केवल एक निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रचारार्थ ही कटिबद्ध हो खड़े हो गए। जो २ जिज्ञासु नर-नारी जिनेन्द्र धर्म श्रवणार्थ आया करते थे उनको वे अन्त करण से जी जोड़ परिश्रम कर उपदेश करते थे और भिन्न २ प्रकार से निर्ग्रन्थ प्रवचन उनके हृदय में ठसाते थे। सम्यक देव गुरु और धर्म का स्वरूप तथा जड़ चतन की भिन्नता, जड़ोपासना या मूर्ति पूजा में, जल, फूल, धूप, दीप आदि द्वारा छओं काया की होने वाली हिंसा का स्वरूप, जलयात्रा, वरघोडा, स्थावर तीर्थ आदि से आत्मा में होने वाली हानिया व प्रभु प्रणीत मार्ग से विपरीतता का प्रदर्शन, सुगुरु कुगुरु का स्वरूप, सम्यक ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष का निरूपण कर प्रत्येक नर-नारी को स्पष्टतया समझाते थे। तब परिग्रह धारी द्रव्यलिंगी, पेटार्थी यति लोग जैसे चन्द्रमा को देख के चोर, सूर्य को देख उल्लू, सती को देख कुलटा जल जाती है, उसी प्रकार लौंकाशाह को देखकर दण्डी लोग जलने लगे और जैसे दण्डी मणिसागरजी ने लौंकाशाह के विरुद्ध लाञ्छन लगाये कि "लु का अशुद्ध पुस्तक लिखने लगा आदि" ऐसी मिथ्या बातें लिख कर जिस प्रकार तुम ने असत्य मार्ग को सत्य मार्ग बतलाने की इस समय कोशिश की, उसी प्रकार उस

जमाने के द्रव्य लिंगी यति भी अपने कपोल कल्पित शास्त्र विरुद्ध असत्य पंथ को स्थायी रूप में कायम रखने के लिये अथवा जडोपासना पीछे सुख पूर्वक आजीविका चलाने के लिये, ढाल की पोल न खुल जाय इसलिये, लौंकाशाह की नाना प्रकार से निन्दा करने लग गए और नाना प्रकार की मिथ्या बातें भी अपने रचित ग्रन्थों में लिख मारीं। उन्हीं मिथ्या बातों का अनुकरण करते हुए दण्डी लिखते हैं कि—"सं० १५३५ में लुंकाने अपना नया मत चलाया" पर दण्डीजी, तुम्हारा लिखना निराधार है। लौंकाशाह ने तो अपने नाम से कोई नया मत नहीं चलाया। केवल निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म, सर्वज्ञ परमात्मा का सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष प्रदायक धर्म का व्यवच्छेद होता देख जिनप्रणीत धर्म का पुन प्रचार किया। किन्तु तुम दण्डियों ने जडोपासनारूप, हिंसाजनक, जिनागमों से विरुद्ध मनघडन मत को जैसे जैन संसार में प्रचलित किया, उस प्रकार लौंकाशाह ने नहीं किया। इसलिये दण्डीजी लौंकाशाह के विरुद्ध कुछ भी कहना सूर्य को दीपक लेके देखने के समान है। लौंकाशाह ही की करामात है कि उन्होंने तुम्हारी पोल खोल कर धर्म के स्वरूप का प्रसार किया। वरना तुम तो चाहे जैसे हिंसाजनक मत का प्रचार कर जैन धर्म का मूल रूप छुपा रहे थे। चाहिए तो यह था कि तुम भी वास्तविक बात का पता पाकर लौंकाशाह के गुणानुवाद गा उनके बताये हुये—प्रचार किये हुए मार्ग पर आते और अपनी भूल स्वीकार करते, पर राहसुन की नाई बरसों [illegible] रहने पर भी तुम दण्डी ही रहे। और ल[illegible] जबान अपवित्र करने लगे। दण्डीजी ! "[illegible] ज्ञान नहीं था और उससे अनेक बातें [illegible] चलाईं" यह लिखना भी बिलकुल पा[illegible] जडोपासना के जमाने में निर्ग्रन्थ प्रवच[illegible] जैन शास्त्रों के तत्व ज्ञान से पारगत [illegible]

लेखक थे तथा होनहार थे। तभी तो निरन्तर भट्टाचार्य यतियों ने उन्हीं से शास्त्र लिखवाना चाहा। फिर जिनने सहस्रों मनुष्यो के दिल मे जैन शास्त्रों का तत्व ज्ञान भर दिया, और द्वादश वर्षी काल से चलने वाले जड़ोपासना रूप धर्म को परित्याज्य करवा दिया, क्या वे लौंकाशाह छोटे से आदमी थे ? सर्वज्ञ प्रणीत जैन निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म एवं सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग मे सैकड़ों के दिल लगाने वाले लौंकाशाह ससार में एक अद्वितीय व्यक्ति हुए। लौंकाशाह अपने जमाने के एक वीर पुरुष थे, जिनने धर्म की मर्यादा नहीं तोड़ी, बल्कि पुन कायम की। जैन नामधारी दण्डियों के विरुद्ध उस समय उनका प्रबल आन्दोलन हुआ और उनने ठोस २ कर यह बात लोगों के दिल में बिठाई कि धर्म की मर्यादा तोडने वाले, मनघडत धर्म चलाने वाले ये दण्डी ही हैं। तुम्हारे धर्म मे एक नहीं पर सैकड़ो ऐसी जैन शासन विरुद्ध बातें हैं कि जिन्हें लिखने से एक पोथा ही तैयार हो जाय। किन्तु यहा पर थोड़ी सी लिखे बिना भी काम नहा चल सकता। इसलिये दण्डीजी के अवलोकनार्थ समीचीन समझ कुछ बातें जो जैन धर्म शासन विरुद्ध प्रचलित हैं, उन्हें लिखता हूं। अगर दण्डीजी उन पर गौर कर अभिनिवेश-मिथ्यात्व को त्याग विलोकन करेंगे तो मैं कुछ २ श्रम सफल समझूंगा।

जड़ोपासना, मूर्त्तिपूजा, मन्दिर का बनवाना, जल-पूजा, वरघोड़ा स्वामीवात्सल्यादि करवा के ... करना,

इससे साबित होता है कि पंचम आरे के अन्त तक वीर भगवान के शासन में शुद्ध साधु अवश्य ही होते रहेंगे। यह लिखना तुम्हारा असंगत नहीं है। श्वे० स्था० जैन मुनि भी इसे सादर स्वीकार करते हैं। आगे चल कर आप लिखते हैं कि किसी समय शुद्ध साधुओं का अभाव नहीं होगा जिससे हर समय (कभी बहुत-कभी कम) संयमी साधु मौजूद रहते हैं।" दण्डीजी! पंचम आरे के अन्त तक शुद्ध संयमी साधु अवश्य रहेंगे, अभाव नहीं होगा, यह बिलकुल ठीक है। हमारी भी यही मान्यता है परन्तु शुद्ध संयमी साधु तो कभी कम और कभी बहुत ही मिलेंगे। देखो जिस समय लौंकाशाह ने जिनागम विहित जैन धर्म का प्रचार किया उस जमाने में शुद्ध संयमी साधु बहुत ही कम रह गए थे। जिधर देखो उधर जडोपासना रूप धर्म के उपासक तथा पेटार्थी ही यति लोग दिखाई देते थे, उस समय प्रायः कर सुसंयमी निर्ग्रन्थ मुनियों का तो अस्तित्व लुप्त सा हो चला था। जैसे किसी कवि ने कहा है कि —

"हरित भूमि त्रण संचरे समझ परत नहीं पंथ।
तिम पाखंड मत के आगलें, गुप्त भये सद्ग्रंथ॥

दण्डीजी! यही दशा उस समय जैन साधुओं की थी। ऐसे समय में जिनराज प्रणीत निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप मार्ग लुप्त सा होते देख लौंकाशाह ने जिनागम का पठन पाठन कर सर्वज्ञ मार्ग का सच्चा प्रचार किया, न कि अपने मन कल्पित मार्ग पर चला कर लोगों को बहकाया और न ऐसा उल्लेख किया कि मेरे नाम से धर्म चलाना, तथा मेरे नाम से गच्छ का नाम चलाना और न आज तक कोई श्वे० स्था० जैन मुनि गच्छी कह कर अपनी प्रसिद्धि बतलाते हैं। इसलिये "लुंकाजी ने अपना नया मत चलाया" ऐसा तुम्हारा लिखना मिथ्या है और जिन पेटार्थी लोगों ने द्वादश वर्षी काल में भेष की तबदीली की अर्थात् गृहस्थों के घरों से आहारादि वेहर के स्वस्थान पर आते समय रास्ते

में भूख के मारे कंगले लोग टूट पड़ते थे और भोजनादि छीन लेते थे, इस दु:ख के मारे वे स्वस्थान पर आहारादि लाकर सुख पूर्वक नहीं भोग सकते थे इसलिये कंगलों की पहिचान में नहीं आने के लिये मुख पर बंधी मुखवस्त्रिका खोल के हाथ में धारण करली। फिर कुछ दिनों बाद कंगालों ने पहचान कर फिर आहारादि लूटना शुरू किया तब पेटार्थी लोगों ने भेरू झोली की तरह झोली कोनों की जगह लटका कर चद्दर में छिपा लाने लगे तब कुछ दिनों तक तो कंगलों को मालूम नहीं पड़ी और फिर मालूम पड़ने पर फिर छीनने लगे तो कंगलों आदि को ताड़ने के लिये हाथ में आवर्णीत दण्ड धारण किया। इस प्रकार जिनागम विरुद्ध भेष की तबदिली करने वाले अथवा मन्दिर आदि करवाने का हिंसाजनक उपदेश देने वाले अतीव सुख पूर्वक सादर पेट भराई करने के निमित्त श्वेत वस्त्र छोड़ कर सं० १७०० से के दंगई यशोविजयजी ने जिनाज्ञा विरुद्ध पीले रंग के वस्त्र धारण करना स्वीकार किया। और सम्वत् १९०२-३३ में दंगई आत्मारामजी ने कथ रंग के वस्त्र धारे, पीछे पीले करने शुरू किये। और संवेगी ऐसा नाम भी सं० १७०० में ही प्रचलित हुआ। इस विषय में दंडी वल्लभविजय लिखता है कि—"सं० १७०० से के साल अर्थात् विक्रम सं० १७०० के लगभग श्रीसत्यगणीविजयजी और उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने बहुत क्रिया कठिन की और वैराग रंग में रंग गए, तब श्री संघ उन्हें संवेगी कहने लगे" इससे यह स्वत सिद्ध है कि "संवेगी, यति आदि कथ रंग के तथा पीले रंग के वस्त्र धारण करने वाला या जड़ोपासना आदि जिनागम विरुद्ध प्रचार करने वाले एवं अन्य उपदेश करने वाले हिंसा में धर्म मानने वाले हिंसाधर्मी हो हैं और भगवदाज्ञा विरुद्ध हाथ में मुख वस्त्रिका धारण करने वाले तथा पीत पट (वस्त्र) धारण करने वाले, द्रव्य आदि रखने, रखवाने वाले भ्रष्टाचारी ही नहीं तो और क्या ? और भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध पीत वेष धारण कर जैन

धर्म के साधु होने का दावा रखते हैं और कहते हैं कि सर्वज्ञ शासन के साधु हैं तो केवल एक हम ही ढूंढ़िये लोग हैं। ऐसी मिथ्या प्ररूपणा कर अपना अनन्त संसार बढ़ा रहे हैं और जिनाज्ञा विहित भेष व वस्त्र को धारण करने वाले सच्चे सनातनी श्वे० स्था० जैन मुनियों को, आधुनिक और असाधु उत्सूत्रप्ररूपक आदि अनेक अश्लील शब्दों द्वारा निन्दा ही नहीं करते, वरन निर्ग्रन्थ मुनि का उपहास व अवहेलना करते हुए भोले भाले जीवों को महामिथ्यात्वरूप अरण्य मे डाल कर दोष के भागी बनते हैं।

४०—मिथ्या प्रलापी दण्डीजी! तुमने लिखा है कि—"भस्म ग्रह उतरा और छु काजी का दया धर्म प्रसरा" ऐसा लिखना भी तुम्हारा मिथ्या है। क्योंकि दया धर्म तो श्राम वीर परमात्मा द्वारा ही प्रतिपादित है तो दण्डीजी! जिसको पाप रूप दुष्ट ग्रह लगते हैं उसको उस समय थोड़ा बहुत कष्ट अवश्य होता है किन्तु पाप ग्रह उतरने पर—कष्ट उतरने पर कष्ट मिट कर शांति हो जाती है। यह बात लोक मे प्रसिद्ध है। अस्तु लिखने का तात्पर्य यह कि भगवान् महावीर की नाम राशि पर द्वादश वर्ष की अवधि वाला भस्म नाम का ग्रह लगा। जिससे द्वादशवर्षी काल पड़ा। उस दुष्काल मे उदर पूरणार्थ, उदर पालने वाले नाना प्रकार की प्ररूपना करने लग गए। जिससे सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का तथा तीर्थंकर प्रतिपादित निर्ग्रन्थों के आठ प्रवचन रूप धर्म का सर्वत्र लोप ही सा हो गया। और अन्य मतावलम्बियों के देखा देखी उक्त उदरभरों ने जड़ोपासनादि पाखण्ड मत का प्रचार किया। इसके अलावा अन्य धर्म द्वेषियों ने अथवा मिथ्या मत के प्रचारक नेताओं और महात्माओं ने भी जैन धर्म पर अतीव आघात पहुँचाये। उनके इन उपद्रवों से लाखों श्रावकों की और सहस्रों जैन मुनियों की हानि हुई। जैन धर्म सम्बन्धी तात्विक ग्रन्थ व आगमों को उक्त धर्म के द्वेषियों ने पानी तथा आग में गला जला के भस्म कर दिये। केवल बचे थे तो वे ही जो सुरक्षित, अप्रसिद्ध कोषों में जमा थे।

उस मम्यक् ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के प्रलय काल में ढाल, चौपाई, छंद, दोहे, कवित्त आदि तथा टीका, भाष्य, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरिये एवम् मूर्ति पूजा विषयक पूजा पाठ मन्त्र आदि की रचना भरसक की गई और रचना के साथ साथ प्रचार भी हर देशों तथा ग्रामो व शहरो में हुआ, जिससे निर्ग्रन्थों के प्रवचन का सर्वत्र लोप ही सा होगया। उस समय जिनगामो के अतिरिक्त नूतन रचित ढाल, चौपाई, छन्द आदि सुना कर उदरपूरक साधु नाम धारी लोगों का मनोरंजन किया करते थे जिससे उनकी उदरपूर्णा सुखपूर्वक हुआ करती थी।

ऐसे महा भयकर दुष्काल मे भी भक्तजनों के दान देने के परिणाम बढे चढे थे किन्तु दुष्काल पोडित कगलो के मारे नाक मे दम था कगले मार्ग मे ही छीन लिया करते थे इसलिये साधु की पहचान न होने देने वास्ते उनने मुख पर की बँधो मुख वस्त्रिका उतार ली और हाथ में लेली। थोडे दिन कगल धोकेमें आगए,पर अन्त में पोल खुल गई। फिर वही लूट खसोट शुरू हुई तो दण्डियों ने दण्डा रखना प्रारम्भ किया कि जिसके डर के मारे कगले पास नहीं फटकें। उधर श्रावक लोग भी कगलों के डर के मारे द्वार देने लग गए तो साधुओं को फिर आहार पानी की तकलीफ हो गई। साधुओ ने सोचा कि इस प्रकार करने से काम नहीं चल सकता। और श्रावकों से द्वार खुले रखने वास्ते कहा पर श्रावकों ने कगलों के घर में घुस जाने के डर के मारे द्वार खुले रखना तो पसन्द नहीं किया पर कहा कि महाराज कोई ऐसा सकेत ठहरा लें जिसके कहने से हम समझ जाय कि गुरु महाराज पधारे हैं। तब भेष धारियों ने कहा कि आज से हम तुम्हारे द्वार पर जब २ बहरने आवेंगे तब २ "धर्म लाभ" कहा करेंगे। बस वहीं से दण्डियों में यह "धर्म लाभ" कह कर रोटी मागने की रीति चल पड़ी। इसके अलावा जिनागम विरुद्ध जड़ोपासना और फल, फूल, जल, धूप, दीप,

रूप हिंसा जन्य द्रव्य पूजा, स्नात्र पूजा, जल यात्रा, गौतम पडगा, चन्दन बाला का तेला, उपधान तप, वरघोड़ा, स्वामी वात्सल्य, जीर्णोद्वार, देवद्रव्य, गुरुद्रव्य, ज्ञानखाता आदि बहानों से रुपये एकत्रित करने लग गए, पाषाणादि मूर्तियों को भगवान कह कर लोगों को उन्मार्ग में गेरने प्रस्तुत हो पडे। प्रतिष्ठा पाठ, मन्त्रों की जगह २ रूढियां होने लगीं जिससे खास जैन धर्म का लोप सा हो गया था। जैन धर्म के असली तत्त्वों के लोप होने के कारण जैन धर्म की बडी भारी क्षति हुई परन्तु भस्म ग्रह की स्थिति पूर्ण होने पर पुन शनै २ जैन धर्म की प्रभावना बढने लगी। और जैन धर्म के नाम से जडोपासनादि रूपान्तर जैन धर्म के प्रचारक अर्थात् रूपान्तर जैन धर्म के नायक "हीरविजयसूरि" आदि के हृदय में कुछ अशो म सुमति विराजित हुई, जिससे अकबर आदि बादशाहो को प्रतिबोध दे अमारी घोषणा के पट्टे परवाने करवाए और उनके अनुसार बहुत सी जगह आज दिन तक भी जैन धर्म के पर्यूषण पर्वाधिराज में अमारी घोषणा की डोंडी पीटी जाती हैं और जीवदया की पलती भी होती है। यह जो जीव रक्षा का काम किया, सब बहुत ठीक किया पर बादशाह आदि ने प्रसन्न हो कर उन प्रति बोधकों को छत्र, चवर छडी, घाटे, पालकी आदि जिन्सें दीं, उन्हे बिना किसी इन्कारी क सादर सहर्ष स्वीकार करली, यह अच्छा नहीं किया। यह कार्य जिनाज्ञा विरुद्ध हुआ। उक्त छत्रादि धारण कर जिनेश्वर प्रणीत निर्ग्रन्थ धम को सर्वथा दण्डियों ने रूपान्तर कर दिया। और परिग्रहधारी तथा महाधीश बन गए। भक्ष्याभक्ष्य और कल्पाकल्प का आचार विचार उठा के लोह की ट्रकों में धर ताले में बन्द कर दिया गया। ऐसे निर्ग्रन्थ धर्म विनाशक समय में निर्ग्रन्थ प्रवचनों के प्रेमी श्रीमान लौंकाशाह ने अपने सब कार्य त्याग केवल एक जिनश्वर देव प्ररूपित धर्म का उद्धार करने को कमर कसी और हर जगह जिनोपदेश देने लगे। और भिन्न २ प्रकार से आगम कथित प्रमाण दिखा कर हर

एक मनुष्य को समझाने लगे। जिससे लाखों मनुष्यों ने जड़ोपासना रूप धर्म त्याग कर जिनेश्वर प्रणीत सच्चा निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार किया। इसलिये कल्प सूत्र में लिखे मुताबिक निर्ग्रन्थ प्रवचन धर्मानुयायी निर्ग्रंथ मुनियों की इस समय के पहिले उदय पूजा कम हो गई थी और यह धर्म सर्वथा विच्छेद सा ही हो गया था और परिग्रहधारी दण्डी, सूरियों का जोर बड़ा भारी बढ़ गया था।

बाद भस्म ग्रह उतरने के उन्हीं निर्ग्रन्थों की मान प्रतिष्ठा दिनों दिन विशेष रूप से होने लगी। इस विषय की विस्तृत हकीकत और मूर्ति पूजा का खण्डन, एवम् दण्डियों की कुतर्कों का समाधान पूरे २ शास्त्रोक्त प्रमाणों से देखना हो तो (श्रीमान् ज्येष्ठमलजी) महाराज रचित समकित सार नामक ग्रन्थ का अवलोकन कीजिये, जिसमें बहुत अच्छा वर्णन है। और इस पंचम आरे में २३ बार जिन शासन की उदय पूजा विशेष भावना होगी ऐसा लिखना तुम्हारा व तुम्हारे ग्रन्थों का हो तो भी हमें सप्रेम स्वीकृत है। और हमारी भी यही हार्दिक भावना बनी रहती है कि निग्रन्थ प्रवचन रूप जिन शासन की सदा काल उदय पूजा होती रहे। दण्डीजी! रत्न प्रभ सूरि आर्य्य सुहस्ती सूरि, हरिभद्र सूरि, जिनदत्त सूरि, हेमचन्द्र सूरि, आदि आचार्यों ने विद्याभ्यास कर जैनधर्म का उद्योत तो अवश्य किया किंतु अभी के ८४ गच्छवासी तुम दण्डियों ने सिवाय परस्पर लड़ाई झगड़े, क्लेश, कदाग्रह, फूट, लूट, माथाकूट, लड़ाने भिड़ाने, एक २ को बुरे दिखाने, एक २ की परस्पर निन्दा कर झूठे हेंड बिल छपाने, किसी पर मिथ्या आक्षेप कर जैन समाज के हजारों लाखों रुपये कूट लेखों से पूरित पुस्तकों के छपवाने में बर्बाद करने, गिरनार आदि के झगड़ों में लाखों की आहुति करवाने, सन्मार्ग से उन्मार्ग में मनुष्यों को गेरने, उत्सूत्र की प्ररूपना करने, अर्थ का अनर्थ कर मूर्ति को स्थापित करने, सूत्रों में नवीन पाठ मिलाने, पूर्वाचार्यों के नाम से नवीन ग्रंथों की रचना कर

विचारी भोली भाली जैन जनता को मिथ्या के गहरे गढे में गेरने, ज्ञान पूजा, विद्याध्यान सस्था के सहायतार्थ के बहाने मनुष्यो से सहस्रों रुपये हड़प जाने, और उन रुपयों से ऐश आराम करने, हजारों रुपयों की आहुति कोर्टों में सिर्फ चेलो के लिये देने, वकीलों के खीसे समाज के रुपयों से भरने, हुडिया चलाने हिसाब किताब अपने पास रखने, बाजार से साथ में रहने वाले आदमी द्वारा रवडी, मेवा आदि मगा कर खाने, आम, सतरे, अगूरो का मजा चखने घडीसाजों के यहा से घडी व घडी के रखने के रेशमी डब्बे आदि स्वय चेलों द्वारा खरीदाने, कर्ज रख कर माल लेने, वर्षात मे उपाश्रय मे ही अपने भक्तों द्वारा माल ताल मगाने, हजाम से बाल बनवाने, उपाश्रय के निकट या मन्दिर की धर्मशाला में दाल, बाटी लड्डू आदि बनवाके वहरने, साबुन से कपडे धोने, चाकू, कैंची, घड़ी, चश्में आदि पास रख ने, अपने नाम से पार्सल मगवाने और स्वय भेजने के सिवाय और उपकार के कोई कार्य तुमने नहीं किये। और न करते हो अर्थात न जैन समाज की उन्नति का एक

---

* स० १९७९ के साल कृपाचन्द्र सूरि के शिष्य ज्ञानसागर उदयपुर वाले अम्बालालजी घडीसाज की दुकान से १२ आने के पैसों में एक घडी रखने का रेशमी डब्बा खरीद लाये थे। और छ आने के पैसे दे आये तथा छ आने उधार रख आये थे। ऐसा दर्शकों ने अपनी आँखों से देखा।

१९७९ साल दण्डी मणिसागर का चतुर्मास शातिनाथजी की गली वाले उपाश्रय में था वहाँ पर वर्षात के दिनों में मदिरजी की धर्मशाला में गृहस्थों से दाल बाटी बनवाके वेहरके खाई। और वहीं पर दण्डीजी ने हजाम से हजामत भी बनवाई थी। ऐसा उज्जैन के बहुत से लोग जानते हैं।

रजिस्टर पार्सल स० १९८० श्रावण सुदी १३ शुक्रवार २ रजिस्टर पार्सल मुनि कुमुदसागरजी को मिले। ठि जिन कृपाचन्द्र सूरिजी महाराज पासे ओसवाल हवेली (मालवा) मंदसोर रजिस्टर न० १३६ १३७—

कर जाने लगे तब उसका बचाव करने के लिये साधुओं ने अपने हाथ में दण्डा रखना शुरू किया है यह भी का कथन झूठ है" उत्सूत्र भाषीजी ! इस कथन को झूठ बतलाते हैं। यह तुम्हारी महान् माया चारी है। यह बात बिलकुल सही है। क्योंकि दुष्काल से पूर्व प्रत्येक मुनि को दण्डा रखना ऐसी प्रथा नहीं थी। यह प्रथा दण्डियों ने अपनी रोटियें कगले न छीनलें इसलिये प्रसारित की, न कि किसी अन्य कारण से। आगे चल कर दण्डीजी लिखते हैं कि "भगवती, निशीथ, आचाराग, प्रश्न व्याकरण, व्यवहार, दशवैकालिक आदि मूल आगमों में जगह २ पर साधुओ को दण्डा रखने को कहा है" उत्सूत्रभाषीजी! उक्त सूत्रों के नाम से दण्डा रखने की सिद्धि दिखाना तुम्हारा नितान्त मिथ्या है। क्योंकि भगवती सूत्र के आठवें शतक के छट्ठे उद्देश का जो तुमने प्रमाण दिया है वह बिना सोचे समझे दिया है क्योंकि वह प्रमाण आज्ञाप्रदत्त नहीं। वह विधिवाक्य अर्थात् शिक्षा विधि प्रदर्शक सूत्र है। जरा ध्यान पूर्वक उक्त सूत्र के मूल पाठ व अर्थ को पढ़िये। पृष्ठ १०९९—११०० पर साधु को आहार, पात्रा, गुच्छा, रजोहरण आदि उपकरणों की दानविधि में सूत्र में इस प्रकार आज्ञा है कि— "निग्गथ चण गाहाईकुल जाव केई दोहिं पडिग्गहेहिं उवनिमतेज्जा, एग आउसो अपणो पडिभु जाहि, एग थेराणं दलायाहि, सेय सपाडिग हिज्जा तहेव जाव त नो अपणो परिभु जेज्जानो अएऐसि दावए सेस त चेव जाव परिट्ठवियव्वे, सिया एव जाव दसहिं पडिग्गहेहिं एव जाहा पडिग्गह वत्तव्वया भणिया, एव गोच्छग रयहरण चोलपट्टग कवल लट्ठी सत्थारग वत्तव्वया भाणियव्वा जाव दसहिं सत्थारएहिं उवनिमतेज्जा जाव परिट्ठवियव्वे सिया ॥ ६ ॥"

उत्सूत्रभाषी दण्डीजो ! जरा विचार पूर्वक निम्नलिखित पाठ का अवलोकन कीजिये। गृहस्थ के घर आहार लेने के लिये गए हुए साधु को कोई गृहस्थ विभाग किये हुए तीन पिंड देवे और कहे कि अहो

आयुष्मान ! इसमें से एक तुम भोगना और दो स्थेवरों को दे देना, साधु को उस आहार को लेकर जहा पर स्थेवर मुनि हों वहा जाना और वह आहार उनको दे देना। गवेषणा करने पर कदाचित न मिले तो वह आहार साधु को स्वय भोगना नहीं। वैसे ही अन्य को देना भी नहीं, परन्तु एकान्त में निर्जीव स्थान देख कर पठाना। ऐसे ही चार पाच यावत् दस पिण्ड विभाग कर देवे जिनमें से एक लाने वाल साधु को भोगने का और नौ स्थेवरों को देने का कहे तो उक्त आहार लेकर जहा स्थेवर हों वहा साधु को जाना व देना। यदि गवेषणा करने पर कदाचित् स्थेवर मुनि न मिले तो वह आहार स्वय भोगना नहीं। वैसे ही अन्य को देना नहा किन्तु एकान्त मे निजन स्थान में पठाना। इसी प्रकार कोई निर्ग्रंथ मुनि गृहस्थ के यहा के पात्र निमित्त गये हुए मुनि को दो पात्र की निमत्रणा करे और कहे कि हे आयुष्मान् ! इसमें से एक पात्र तुम रखना और दूसरा पात्र स्थेवर भगवान् को देना। फिर उस पात्र को लेकर जहा पर स्थेवर भगवान् हों वहा साधु को जाना, गवेषणा करने पर कदाचित् स्थेवर भगवान् न मिले तो वह पात्र स्वत को रखना नहीं वैसे ही अन्य को देना नहीं किन्तु एकान्त मे जाकर परिठाना। जैसे दो पात्र का कहा वैसे ही तीन चार यावत् दस पात्र का जानना और जैसे पात्र कहा वैसे ही गोच्छक, रजोहरण, चोल पट्टक, कम्बल, यष्टि व सथारा की वक्तव्यता इस तरह कहना। यह गृहस्थ के यहा से आहारादि लाने की विधि कही है। इसमें खास कर इस शब्द पर विशेष विचार करने का है कि—"(एग आउसो अप्पणा भुजाहि, दो थेरार्ण दलयाहि) दण्डोजी ! दाता क्या कहता है ? "हे आयुष्मान् ! मैं देता हूँ इसमें से एक आप भोगना और दो स्थेवर मुनियों को देना। फिर देखिये इस अधिकार मे आगे चल कर क्या कहा है (एव जाव दसहि पिडेहिं उवनिमतेज्जा णवर एग आउसो अप्पणा भुजहि नव थेराण दलयाहि")

दण्डीजी ! पढ़िये, ऐसे ही चार पांच यावत् दस लिंह विभाग कर देवे जिसमें से एक नहेरने वाले मुनि के लिये भोगने की बाता आज्ञा देता है और नौ स्थैवरों को देने की आज्ञा प्रदान करता है। दण्डीजी ! यह स्थैवरों का विषय है और स्थैवर भगवन्तों के लिये यष्टि रखने को किसी भी सूत्र में मना नहीं है उनके लिये तो वीर प्रभु ने स्वय अपने मुख कमल से व्यवहार सूत्र में आज्ञा प्रतिपादन की है किन्तु तुम्हारे जैसे हृष्ट पुष्ट दण्डियों के लिये आज्ञा नहीं दी।

उत्सूत्रभाषो दण्डोजो ! इसी प्रकार आपके नौ दण्डे स्थैवरों को देने के लिये प्रतिपादित किया है (नव थैराण दलयाहिं) अर्थात नव यष्टि स्थैवरों का देना और एक लाने वाले को रखना। इससे पाया जाता है कि "लाने वाला भी स्थैवर ही साबित होता है क्योंकि स्थैवर के सिवाय अन्य मुनियों को यष्टि रखने का अधिकार नहीं । यह बात सभी मुनिराज जानते हैं तो जान कर भगवान् की आज्ञा उल्लंघन कर भवभीरु आत्मार्थी मुनि तो कदापि धारण नहीं करते और दुष्काल में कगला से रोटियों के बचाव के लिये आकर्णान्त दण्डा धारण करने वालों को मैं कुछ बात नहीं कह सकता। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वृद्ध दण्डिया के सिवाय शेष हृष्ट पुष्ट दण्डियों ने जो दण्ड धारण किया है वह सर्वथा सूत्र विरुद्ध धारण किया है।

उत्सूत्रभाषो दण्डोजी ! सुनिये, दण्ड केवल एक स्थैवर अवस्था को प्राप्त होने वाले मुनियों को ही रखने को श्रीवीर परमात्मा की व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देश में इस प्रकार आज्ञा प्रतिपादित है। पढ़िये —

"थेराण थेरभूमिपत्ताण कप्पति दंडएवा, भडएवा, छत्तएवा, मत्तएवा, लट्ठियवा, भिसिवा, चेलेवा, चेलचिलिमिलिवा, चम्मवा, चम्मकोसवा, चम्मपलिछएण, अविरहति, उवासे ट्ठवेता, गाहावत्तिकुल भत्ताएवा,

पाणाएवा, पविसित्तएवा, निक्खमित्तएवा, कप्पति से सनियट्टचारिणं दोच्चपि उग्गह अणुणवेत्ता परिहार परिहरित्तएवा ॥५॥ इति

दण्डीजी ! उक्त व्यवहार सूत्र के मूल पाठ से स्पष्टतया सिद्ध है कि दण्ड स्थैवर भगवान् के सिवाय अन्य मुनियों को धारण करने का अधिकार ही नहीं है और इससे यह भी स्वत सिद्ध होचुका है कि आप का पूर्वोक्त भगवती सूत्र की भिक्षा विधि प्रदर्शक मूल पाठ का प्रमाण भी स्थैवर भगवतों के विषय का ही है और उक्त सूत्र के मूल पाठ में जो स्थैवर भगवतो के लिये प्रतिपादित है वे ही बातें व्यवहार सूत्र में मूल पाठ में आज्ञा प्रद रूप में प्रतिपादित हैं। अतएव उक्त दोनो सूत्रों के मूल पाठों व अर्थों से सिद्ध है कि दण्डा रखने का अधिकार केवल स्थैवर मुनियों को ही है अन्य को नहीं। वास्ते तुम्हारा प्रलाप मिथ्या है और तुमने इस प्रकार उत्सूत्र की प्ररूपणा कर अनन्त ससार बढाया, नहातो और क्या किया ?

४९—"जो साधु दण्डा (धनुष्य प्रमाण) लाठी (शरीर प्रमाणे) कर्दम पूछनी अर्थात् चौमासे आदि में कर्दम से पाव भर जावे उसके पू छने के लिये लकड़ी व बास की खपाटी याने चींपटें इनको अन्य तीर्थक तथा गृहस्थ के पास से सुधरावे समरावे यावत सर उक्त प्रमाणें कहना यावत् अच्छा जान तो प्रायश्चित्त आवे।" उक्त निशीथ सूत्र के प्रमाण से दण्डीजा दण्डा रखना सिद्ध करते हैं यह प्रत्यक्ष दण्डीजी की उत्सूत्र प्ररूपणा है इसमे दण्डा लट्ठी आदि अन्य तीर्थी या गृहस्थ से विषम का सम करवाना अर्थात् सुधरा वनवाना मना किया है।

५०—५१ आगे चल कर दण्डीजी ने लिखा है, कि—"जे भिक्खु दण्डगं जाव वेणुसुयण वा पलिभिंदिय २ परिट्ठावेई, परिट्ठवत वा साइज्जई' जो साधु दण्डे को यावत् बास की खपाटी पूर्ण स्थिर

चलने योग्य है उसको भॉग तेल परिठावे, परिठाते को अच्छा जाने तो प्रायश्चित्त आवे।"

दण्डीजी! उक्त निशीथ सूत्र के पाचवें उद्देश का प्रमाण देकर प्रत्येक दण्डियो को आकरणान्त दण्ड रखना ऐसा सिद्ध किया यह दण्डीजी का साहस नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जिन स्थैवरों के लिये दण्ड रखने की प्रभु ने आज्ञा दी वे ही स्थैवर मुनि यदि मजबूत दण्ड (लकड़ी) आदि को जान बूझ कर उन्हे भाग तोड कर डाल दे उन्हीं के लिए भगवान् ने प्रायश्चित्त बतलाया। न कि इस मूल पाठ से नययुवक दण्डियों को दण्ड (यष्टि) रखने का सिद्धिसूत्र सिद्ध होता है। अतएव जो समस्त दण्डियो के लिए दण्डा रखने की सिद्धि में उक्त प्रमाण दण्डीजी ने पेश किया है यह उत्सूत्र प्ररूपना कर अनन्त ससार बडाया है।

५२—इसी प्रकार प्रश्न व्याकरण सूत्र के पाठ का झूठा अर्थ कर दण्डा रखना सिद्ध करते हो यह भी नहीं। देखो मूल पाठ —

"पीठ फलग, सिज्जा, सथारग, वत्थ, पाप, कबल, दडक, रय हरण निसेज्ज, चोलपट्टग, मुहपोत्तिय, पादपुछणादि भायण भडोवहि उवगरण"

५३-५४—उत्सूत्र भाषी अनन्त ससारी दण्डीजी! ऊपर के पाठ मे "दण्डक" पाठ तो विद्यमान है किन्तु हाथ मे रखने की आज्ञा कहा है? क्या जबरन ही हाथ मे रखना बतलाते हो? और उक्त शब्द के लिये "उडा दिया" ऐसा जो तुमने लिखा है वह लिखना महा मिथ्या है छपने में रह गया होगा या कम्पोज करते समय कम्पोजीटर भूल गये होंगे, छपी प्रत में नही छपा तो क्या हुआ? हमारे पास हस्त लिखित प्रतो में (दडक) शब्द विद्यमान है यदि तुम्हे शका निवर्तन करना हो तो हमारे समीप आकर देख सकते हो। मिथ्या बातें लिख कर जन्म बिगाडने मे कोई पडिताई नहीं समझी जाती।

५५-५६—दण्डीजी ! आचाराग सूत्र के सोलहवें अध्याय के प्रथम उद्देश का मतलब इस प्रकार है—

मूलपाठ —"से अणयविसित्ताए गाम वा जाव रायहाणिं वा णेव सयं अन्निं गिण्हेज्जा, णेवेण्णेणं अदिन्न गिण्हावेज्जा एणेणं अदिएण गिण्हंत समणुजाणेज्जा, जेहिं विसिद्धिं सपव्वइए, तेसिं पियाई भिक्खू छत्तय वा, मत्तय वा, दडग वा, चम्मछेदगए वा, तेसिं पुव्वामव उग्गह अणुण्णविय, अपडिलहिय, अपमिज्जिय, णो गिण्हेज्ज वा, पडिगिण्हेज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव अणुपविय पडिलेहिय, पमज्जिय, 'गिण्हेज्ज वा, पडि गिण्हेज्ज वा।"

-दण्डीजी ! उक्त पाठ में तो यह आज्ञा है कि—' जैन मुनि को गाम में, नगर मे, यावत राजधानी में अपने को किसी कार की कोई भी जिन्स मालिक की आज्ञा बिना लेना नहीं, दूसरे के पास से लेवाना नहीं व अन्य कोई लेता हो उसकी अनुमोदना भी करनी नहीं। और तो क्या, जिसके साथ में दीक्षा ग्रहण की हो अथवा पास में रहते हों उन साधु के उपण, व वर्षाकाल में ओढन रूप छत्र अर्थात् वस्त्र, मात्रक दण्डा व फोडा फुन्सी आदि को साफ करने के लिये किसी गृहस्थ के पास से लाए हुए चाकू, कैंची आदि चमच्छेदक वगैरह वस्तुओं में से कोई भी वस्तु उक्त मुनियों की आज्ञा लिये बिना और देख कर पूंजे प्रमार्जे बिना लेना कल्पे नहीं।

५७—दण्डीजी ! तुमने जो लिखा है कि—"आचाराग मे सर्व साधुओं को दण्डा रखने का मतलाया है।" यह तुम्हारा लिखना नितान्त मिथ्या है। क्योंकि दीक्षा के अधिकार म बाल और वृद्ध सभी का समावेश है। जब कहीं चार २ पाच २ दीक्षाए एक साथ होती हैं तो उनमें सभी जवान नहीं होवे और न सभी वृद्ध रहते हैं। एक बालक एक युवा और तीन वृद्ध भी हो जाते हैं। जो वैरागी वृद्ध होते हैं अर्थात् ६०-६५ की अवस्था वाले वय स्थेवर होते हैं तो उनके लिये

चलने योग्य है उसको भॉग तेल परिठावे, परिठाते को अच्छा जाने तो प्रायश्चित्त आवे।"

दण्डीजी ! उक्त निशीथ सूत्र के पाचवें उद्देश का प्रमाण देकर प्रत्येक दण्डियो को आकरणान्त दण्ड रखना ऐसा सिद्ध किया यह दण्डीजी का साहस नितान्त मिथ्या है। क्योंकि जिन स्थैवरो के लिये दण्ड रखने की प्रभु ने आज्ञा दी वे ही स्थैवर मुनि यदि मजबूत दण्ड (लकड़ी) आदि को जान बूझ कर उन्हे भाग तोड कर डाल दे उन्हीं के लिए भगवान् ने प्रायश्चित्त बतलाया। न कि इस मूल पाठ से नययुवक दण्डियों को दण्ड (यष्टि) रखने का सिद्धिसूत्र सिद्ध होता है। अतएव जो समस्त दण्डियों के लिए दण्डा रखने की सिद्धि में उक्त प्रमाण दण्डीजी ने पेश किया है यह उत्सूत्र प्ररूपना कर अनन्त ससार बडाया है।

५२—इसी प्रकार प्रश्न व्याकरण सूत्र के पाठ का झूठा अर्थ कर दण्डा रखना सिद्ध करते हो यह भी नहीं। देखो मूल पाठ —

"पीठ फलग, सिज्जा, सथारग, वत्थ, पाप, कबल, दडक, रय हरण निसेज्ज, चोलपट्टग, मुहपोत्तिय, पादपुछणादि भायण भडोवहि उवगरण"

५३-५४—उत्सुत्र भाषी अनन्त ससारी दण्डीजी! ऊपर के पाठ मे "दण्डक" पाठ तो विद्यमान है किन्तु हाथ में रखने की आज्ञा कहां है ? क्या जबरन हो हाथ में रखना बतलाते हो ? और उक्त शब्द के लिये "उडा दिया" ऐसा जो तुमने लिखा है वह लिखना महा मिथ्या है, छपने में रह गया होगा या कम्पोज करते समय कम्पोजीटर भूल गये होंगे, छपी प्रत मे नही छपा तो क्या हुआ ? हमारे पास हस्त लिखित प्रतों में (दडक) शब्द विद्यमान है यदि तुम्हें शका निवर्तन करना हो तो हमारे समीप आकर देख सकते हो। मिथ्या बातें लिख कर ज म बिगाड़ने में कोई पडिताई नहीं समझी जाती।

५५-५६—दण्डीजी ! आचाराग सूत्र के सोलहवें अध्याय के प्रथम उद्देश का मतलब इस प्रकार है—

मूलपाठ —"से आणयविसित्ताण गाम वा जाव रायहाणिं वा णेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा, णेवेण्णण अदिन्नं गिण्हावेज्जा णणेण अदिण्णं गिण्हंत समणुजाणेज्जा, जेहिं विसिद्धिं सपव्वइए, तेसिं पियाई भिक्खू छत्तय वा, मत्तय वा, दंडग वा, चम्मछेदणग वा तेसिं पुव्वामेव उग्गह अणुण्णविय, अपडिलेहिय, अपमिज्जिय, णो गिण्हेज्ज वा, पडिगिण्हेज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव अणुण्णविय पडिलेहिय, पमज्जिय, 'गिण्हेज्ज वा, पडिगिण्हेज्ज वा।"

-दण्डीजी ! उक्त पाठ में तो यह आज्ञा है कि—'जैन मुनि को ग्राम मे, नगर में, यावत राजधानी में अपने को किसी कार की कोई भी जिन्स मालिक की आज्ञा बिना लेना नहीं, दूसरे के पास से लेवाना नहीं व अन्य कोई लेता हो उसकी अनुमोदना भी करनी नहीं। और तो क्या, जिसके साथ में दीक्षा ग्रहण की हो अथवा पास में रहते हों उन साधु के उष्ण, व वर्षाकाल में ओढन रूप छत्र अर्थात् वस्त्र, मात्रक, दण्डा व फोड़ा फुन्सी आदि को साफ करने के लिये किसी गृहस्थ के पास से लाए हुए चाकू, कैंची आदि चमच्छेदक वगैरह वस्तुओं में से कोई भी वस्तु उक्त मुनियों की आज्ञा लिये बिना और देख कर पूजे प्रमार्जे बिना लेना कल्पे नहीं।

५७—दण्डीजी ! तुमने जो लिखा है कि—"आचाराग मे सर्व साधुओं को दण्डा रखने का बतलाया है।" यह तुम्हारा लिखना नितान्त मिथ्या है। क्योंकि दीक्षा के अधिकार मे बाल और वृद्ध सभी का समावेश है। जब कहीं चार २ पाच २ दीक्षाए एक साथ होती हैं तो उनमें सभी जवान नहीं होते और न सभी वृद्ध रहते हैं। एक बालक एक युवा और तीन वृद्ध भी हो जाते हैं। जो वैरागी वृद्ध होते हैं अर्थात् ६०-६५ की अवस्था वाले वय स्थवर होते हैं तो उनके लिये

दण्डे की भी आवश्यकता होती है और दीक्षा के समय श्रावकगण वह-राते भी हैं। "जिन वयस्थैवरों के साथ दीक्षा ग्रहण की उन वय स्थैवरों का अथवा जिन स्थैवरों के समीप रहता हो उनका कोई दण्डादि भण्डोपकरण लघुवय वाले सह दीक्षितों को अथवा अन्य स्थैवरों को (जिन मुनियों का कोई भी उपकरण जिस मुनि को) उपयोग में लाने की इच्छा हो तो उनकी आज्ञा लिये बिना कोई भी उपकरण नहीं वापरना।" दण्डीजी ! उक्त पाठ का यह अभिप्राय है। तुमने लिखा वह नहीं।

५८-५६—इसी प्रकार दशवैकालिक के चौथे अध्ययन से दण्डे का प्रमाण देना निरर्थक है क्योंकि वहां पर दण्डा रखने का अधिकार नहीं है। वहां पर प्रतिलेखना के अधिकार में "दण्डगसिवा" शब्द आया है तो प्रतिलेखना के लिये आया है न कि प्रत्येक मुनि को, दण्डा रखना इसलिये। यह सूत्र प्रतिलेखना-विधिवाद-प्रदर्शक है। न कि प्रत्येक मुनि को दण्ड धारण करने विषयक आज्ञाप्रद। इसलिये तुम्हारी १०६-०७-०८ जाहिर उद्घोषणा का प्रलाप, नितान्त मिथ्या है। प्रतिलेखना का पाठ बता कर प्रत्येक दण्डी के लिये दण्डा रखना ऐसा सिद्ध कर बतलाना, यह दण्डीजी की उत्सूत्रप्ररूपणा नहीं तो और क्या है ?

६०—दण्डीजी ! जैसे तुम प्रत्येक दण्डी के लि[illegible] रखने का जोर देते हो वैसे प्रत्येक दण्डियों [illegible] के लिए तो जोर नहीं देते। सब [illegible] मुंह बोलती है, उधर तो [illegible]। पर जिस दण्डे को देख कर भयप्रद दण्डे के लिये बड़ा भारी [illegible] कर असंख्य जीवों का विनाश करते हु[illegible]

मन्चे साधु श्रावक की युक्तियें लगा कर निन्दा करना सूत्रविरुद्ध होने से ऐसी कार्यवाही दण्डीजी सदा और सर्वदा अनुचित है।

६१—उत्सूत्रभाषी दण्डीजी! तुम लिखते हो कि—"जैसे श्री वीर भगवान ने गौतम स्वामी को समय मात्र भी प्रमाद नहीं करने का उपदेश दिया है वैसे ही सर्व साधुओं के लिये भी प्रमाद त्याग का समझ लिया जाता है" किन्तु दण्डीजी! दण्डे की आज्ञा सभी मुनियों के लिये नहीं। जैसे प्रमाद त्याग का गौतम स्वामी को मुख्य लक्ष कर कथन कहा और गौणता में साधु साध्वी श्रावक श्राविका चारों तीर्थ का समावेश आगया इसी प्रकार दण्डे का कथन माने तो उपरोक्त चारों तीर्थों को हाथ में दण्डा रखना होगा। किन्तु दण्डीजी! ऐसा कब सम्भव है? इसीलिये तुम्हारा उक्त प्रमाद त्याग का न्याय भी दण्डे के लिये देना अनुचित है। यह लागू हो नहीं सकता। यदि तुम्हारा मान्यतानुसार लागू होता तो श्री वीर परमात्मा व्यवहार सूत्र में स्थविर मुनियों को ही दण्डा धारण करने की आज्ञा हरगिज नहीं फरमाते। अत इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सिवाय स्थैवर भगवन्तों के अन्य मुनियों को दण्ड धारण करने की भगवान की आज्ञा नहीं है।

६२—दण्डीजी! दण्डा रखने के लिये केवल एक व्यवहार सूत्र में प्रभु ने आज्ञा दी है तो वह सिर्फ स्थैवर भगवन्तों के लिय, अन्यों के लिये नहीं। इससे निशीथ, आचाराग दशवैकालिक आदि आगमों मे निषिवाद प्रदर्शक "दण्ड" विषय का पाठ व्यवहार सूत्र की आज्ञा से बाध्य हो चुका इसलिये सिवाय स्थैवरों के अन्य साधु दण्ड कदापि नहीं रख सकते और जो दण्डी दण्डा रखते हैं वे प्रभु आज्ञा के विराधक हैं।

६३—दण्डीजी! हाथ, पैर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, दण्डा आदि उपकरणों से उपयोग पूर्वक यत्नों से काम लिया जावे तो सब संयम धर्म के आधार भूत जीव दया के हेतु भूत हैं और बिना उपयोग

अयत्न से काम लिया जावे तो हाथ, पैर, रजोहरण आदि भी जीव हिंसा करने वाले शस्त्र रूप हो जाते हैं। इसलिये सब उपकरणों में प्रमाद हिंसा का हेतु है, यह लिखना तुम्हारा यथार्थ। किन्तु दण्डीजी चलते समय ईर्यापथ में उपयोग रख लेंगे या दण्डा धरने के तरफ? दोनों ओर उपयोग तो एक समय में नहीं रह सकता। उपयोग तो एक तरफ ही रहेगा। या तो ईर्यासमिति में या दण्ड धरने में। जब एक ओर उपयोग रहा और दूसरी ओर नहीं रहा। अगर आप सिद्धि करना चाहें कि हम दोनों ओर रख लेंगे तो यह बात शास्त्रसम्मत नहीं। शास्त्र कहता है कि एक समय में दो बाजू उपयोग नहीं लग सकता। तो स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जिस समय आपका गमन में उपयोग होगा तो दण्डे की ओर नहीं रहेगा। और दण्डे की ओर ध्यान न रहेगा तो हरियाली, अंकुर, द्वीन्द्रिय मेंडक पञ्चेन्द्रिय आदि जीवों पर दण्डा पड़ जायगा और उन जीवों का अकाल में ही मृत्यु हो जायगी। इसलिये दण्डा हिंसाजनक और शस्त्र रूप है। आपके ही आचार्य लिखते हैं कि—"दण्डा हथियार छे।" जरा ध्यान देकर प्रवचन सारोद्धार का अवलोकन कीजिए। और दण्डे को दुःखजनक बतलाना त्यागिए।

६४—दण्डीजी! किसी समय प्रमाद वश कोई चीज कंधे या हाथ पर से गिर जाय और अयत्न हो जाय तो उसी समय उसका मिथ्या दुष्कृत देकर प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्मशुद्धि कर लेते हैं। किन्तु दण्ड तो चलते समय प्रत्येक पैर के साथ फूलण युक्त भूमि व हरियाली युक्त अंकुरादि पर तथा द्वीन्द्रियादि लघुकाय जीवों पर टेका जाता है जिससे अनन्त, असंख्य स्थावर जीवों तथा सैकड़ों त्रसजीवों का नाश प्रमाद वश हो जाता है। इसलिये स्थैवरों के सिवाय अन्य दण्डी लोगों का दण्डा जीवहिंसाजनक है ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं। दण्डे से होने वाली जीवहिंसा का दण्ड भी दण्डी

लोग नहीं लेते । इसलिए स्थैवरों के सिवाय अन्य हृष्ट पुष्ट दण्डी लोगा का दण्डा हिंसा उत्पादक होने से सदैव निषेध करने योग्य है । सर्व दण्डियों को दण्डा धारण करने की स्थापना रूप उत्सूत्रप्ररूपणा सिर्फ दण्डी ही करते हैं ।

६५—दण्डीजी ! वृद्ध साधु एव साध्वी दण्डा प्रभु आज्ञा स धारण करती हैं और स्थैवर अवस्था प्राप्त होने पर धारण होता है । इसलिए भयोत्पादक एवम् क्रोधमूर्ति का हेतु भूत नही हो सकता । किन्तु स्थैवर दण्डियों के सिवाय अन्य निराभोजी हृष्ट पुष्ट दण्डी लोगों का हाथ में धारण किया हुवा दडा मनुष्य पशु आदि की हिंसा का हेतु भूत है । इसलिए दण्डियों की भारी भूल है जो सब हाथ में रखते हैं ।

६६—(दण्डा हमेशा साथ में रखने स १५ गुणो का प्रत्युत्तर और रखने में १८ अवगुणों की प्राप्ति)

भगवती, आचाराग, प्रश्नव्याकरण, निशीथ दशवैकालिक आदि शास्त्रों में तीर्थंकर गणधर पूर्व धर महाराजाओं ने साधु साध्वियों को दण्डा रखने की आज्ञा दी है, यह दण्डीजी का लिखना मिथ्या है । उक्त सूत्रो मे विधिवाद प्रदर्शक मूल पाठ है उसमें दण्ड शब्द अवश्य आया है किन्तु रखन की आज्ञा तो केवल एक व्यवहार सूत्र में है अन्य किसी सूत्र में नही यह आज्ञा भी सिर्फ स्थैवर पद प्राप्त मुनि के लिए है सभी मुनियों के लिए नही । इसलिये स्थैवरों के अतिरिक्त दण्डी दण्डा रखने वाले जिनागमो तथा गणधरादि महाराजों की आज्ञा के विराधक हैं ।

२—दण्डीजी ! जिस प्रकार सर्व साधु साध्वो को मुखपत्ति मुह पर बाँधने की और रजोहरण को सदा सर्वदा पास रखने की आज्ञा है उसी प्रकार दण्डा रखने की सिवाय स्थैवरों के आज्ञा नही है । इसलिए सदा सर्वदा सभी मुनियों को दण्डा रखना जिनाज्ञा विरुद्ध है ।

३—दण्डीजी ! दण्डे के सहारे से आहार की झोली, पात्रे सब अधर रख कर आहार वहरना पड़ता है ऐसा ३२ शास्त्रों में किसी भी जगह नहीं लिखा। और ऐसा तुम दण्डी लोग भी कहा करते हो ? यह तुम्हारा सिर्फ लिखना ही है। बहुत सी जगह देखने में आया है कि दण्डी लोग भिक्षा वृत्ति के लिए जब गृहस्थी के घर जाते हैं तब गृहस्थ दण्डी पात्र व दण्डा रखने के लिए बाजोट पाटले आदि बिछाते हैं उस पर छोटी मोटी पात्रियां रख आहार पानी दण्डी लोग वहरते हैं। यह आम प्रसिद्ध बात है। बाजोट आदि बिछाने में कीड़ी, कथुए आदि सूक्ष्म, बादर अनेक जीवों की हानि होती है। श्वे० स्था० जैन मुनि तो जब भिक्षा के लिये झोली पात्रा जमीन पर रखते हैं उस पहिले अपने पास सदा सर्वदा रहने वाले रजोहरण से जमीन को पूज या देख कर फिर भूमि पर रखते हैं इस वास्ते जीव हिंसा होने का कोई कारण ही नहीं। वास्ते दण्डीजी का उपरोक्त जीवहिंसा का आक्षेप करना नितान्त मिथ्या है।

४—दण्डीजी ! रास्ते में चलते समय कभी अकस्मात् कांटा लग जाता है तो नीचे बैठ कर निकाल सकते हैं दण्डे का सहारा लेने की कोई आवश्यकता नहीं। और गढे आदि विषम मार्ग की ओर जाने की प्रभु आज्ञा ही नहीं। तो गढ़े में गिरने का भय ही क्यों ? दण्डीजी ! बाजे समय दण्डी भी गिर जाते हैं फिर दण्डे का महात्म ही क्या ? ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि दण्डा रखने वाले कभी भी गिर नहीं सकते। जब दण्डा धारण करने वाले भी गिर जाते हैं और संयम तथा आत्मा दोनों के विराधक होते हैं तथा तीसरे जिनाज्ञा के विराधक तो हैं ही तो फिर ऐसे दण्डे से लाभ क्या ? इससे यही श्रेष्ठ है कि प्रभु आज्ञा का पालन करें।

५—दण्डीजी ! विहार कर मार्ग में जाते समय भूख से तथा प्यास से अथवा जो चलने में अशक्ति हो या चक्कर आते हों ऐसे

समय स्थैवरों के दण्डे से काम ले सकते हैं। यदि स्थैवर साथ मे न हो तो अन्य किसी गृहस्थ से कुछ समय के लिये यष्टि की याचना कर काम चला सकते हैं। यदि कोई गृहस्थ भी न हो तो आस पास के ग्राम से माग लाते हैं या जगल के बीच कोई सूखी लकड़ी पडी हो तो राह के आने जाने वालों की आज्ञा से एवम् शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा से उसे ले लेते हैं और अपना काम निकाल लेते हैं। इसमें भगवान् की आज्ञा का उल्लघन नहीं होता। किन्तु प्रभु आज्ञा बिना जो दण्ड धारण करते हैं वे प्रभु की आज्ञा के विराधक हैं।

६—दण्डीजी! अव्वल तो जैन मुनियों को नदी नाले उतरने का काम ही बहुत कम पडता है और कदाचित पडता भी है तो शास्त्रोक्त मर्यादा दर्शित जल से अर्थात एक पग स्थल और एक पग जल इस प्रमाण के सिवाय अधिक जल हो तो साधुओं को उतरने की आज्ञा ही नहीं है इसलिये नही उतरते हैं। कभी जल अधिक गहरा हो और थाह लेना हो तो स्थैवरों के दण्डे से देख लेते हैं। इसलिये अन्य साधुओं को रखने की आवश्यकता नहीं।

७—दण्डीजी! बहुत जल वाली नदी उतरते समय नौका मे बैठते व उतरते वक्त दण्डे की आवश्यकता स्थैवरो को ही रहती है, और वे दण्ड पास रखत भी हैं। यदि अन्य मुनियो को भी चढने उतरने का काम पडे तो वे स्थैवरों के दण्डे से चढ उतर सकते हैं। किन्तु नहीं का बहाना कर सभी मुनियों के लिये दण्डा रखने की आज्ञा प्रतिपादन करना केवल उत्सूत्र प्ररूपणा है।

८—दण्डीजी! जब गिरने की ही स्पर्शना होती है तो हाथ में दण्डा रखने वाले दण्डी और दण्डिनिया भी गिर जाती हैं। अत यह कहना तुम्हारा सत्य नहीं।

९—दण्डीजी! रास्ते में चलते समय काटने वाले कुत्ते व सींगों से मारने वाली गौ भैंस आदि के बचाव के लिये परमात्मा ने दण्डा

नहीं बतलाया है ऐसा कह कर दण्डे की स्थापना करना शायद तुम्हारे मत से चतुराई होगी पर यह उत्सूत्र प्ररूपणा है। और ओघे को कुत्ते की ओर हिलाने का भी दण्डीजी ! तुमने अपनी मिथ्या आदत से लाचार हो कर लिख मारा है। पर ऐसो कूट बातों से तुम अपना मन्तव्य कभी सिद्ध नहीं कर सकते। यह सिद्धि चाहने की इच्छा तुम्हारी सर्वथा अनुचित है।

१०—"हाथ मे दण्डा होने से ऊपर मुजब विहार के समय जंगल में कभी चोर या हिंसक प्राणी से भी बचाव हो सकता है।" बस यही भावना तो खास तुम्हारी है। सच पूछा जाय तो इसीलिये तुम दण्डा रखते हो। वाह ! दण्डीजी वाह !! तुम दण्डी लोग दण्डे की स्थापना खास कर चोर, सिंह, कुत्ते, गौ, भैंस आदि को ताड़ना करने के लिये ही कर क्यों संसार बढ़ाते हो ?

११—विहार के समय कभी तपस्वी आदि चलन में अशक्त हो जायं और झोली बना कर उठा के ले जाने का काम पड़े तो किसी गृहस्थ से नवीन दण्डा जाच कर ले आ सकते हैं। पर ऐसी कूट कुयुक्तिया लगा कर दण्डा रखना यह आपको ही शोभा देता है।

१२—दण्डीजी ! आहार लाते समय दण्डे के अभाव में आहार के वजन से हाथ दुखने लगता है ऐसे समय गृहस्थों के घरों में या रास्ते में किसी जगह आहार के पात्र जमीन पर रखना अनुचित है तो कहिए दण्डीजी ! दण्डे के सहारे से झोली को लटकावें और ऐसे समय झोली की गाठ खुल जाय या झोली में वजन अधिक होने के कारण झोली फट जाय तो दण्डी और दण्डिनियां रास्ते आदि मे पात्र रखना उचित समझेंगी या नहीं ? दण्डीजो ! लिखते समय आगे पीछे का जरा सोच समझ कर लिखा करें ताकि फिर नीचा देखने का सौभाग्य प्राप्त न हो।

१३—दंडीजी ! छोटी दीक्षा वाले साधु को आहारादि करने के लिए बड़ी दीक्षा वाले साधुओं से अलग बैठक करने के लिए दंडा बीच में रखना पड़ता है ऐसा सूत्रों में कहीं नहीं लिखा। यह तुम्हारा लिखना नितान्त मिथ्या है।

१४—दंडीजी ! सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र रूप रत्न त्रयी की व पच महाव्रत की सूचना रूप रेखा होने से दंडा हर समय यम धर्म में अप्रमादी रहने का स्मरण कराने का हेतु है ऐसा लिखना नितान्त मिथ्या है। हां, किसी अबोध व्यक्ति के सामने आपका दण्डा खड़ा कर दिया जाय और उसे उक्त बोध हो जाय तो आपका कथन सत्य हो सकता है। वरना मिथ्या है। किन्तु ऐसा किसी को हो हो नहीं सकता। सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र का स्मरण ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम से होता है न कि यष्टी देखने से। यदि ऐसी यष्टी (लट्ठी) काष्ट की देखने से स्मरण होता तो पुर्विये लोग प्राय दण्डा हमेशा हाथ में रखते हैं सबों को स्मरण हो जाना चाहिये था। पर आज तक किसी को स्मरण हुआ सुना नहीं। इसलिये तुम्हारा लिखना मिथ्या है। साधु जान कर कोई ज्ञान सुनने या साधु धर्म से परिचित होने के लिये आता है तो पास में दण्डा देख कर भग जाता है। इसलिये दण्डीजी! तुम्हारे जैसे दुष्ट पुष्ट को दण्डा स म से पराङ्मुख बनाने वाला है इसलिये सयम धर्म के मार्ग से चलित न होने के लिये दण्डा धारण करना त्याग दो।

१५—दंडीजी ! दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना करने से मोक्ष प्राप्ति का कारण शरीर है यह लिखना तो तुम्हारा ठीक किन्तु 'शरीर की रक्षा करने वाला दंडा है" यह लिखना नितान्त मिथ्या है क्योंकि शरीर की रक्षा करने वाला तो अन्न, जल और वायु है। यह जो न हो तो दंडियों के मुंह में मक्खियां घुसने लगें। इसलिये

दडीजी। कारण कार्य भाव से दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा मोक्ष का हेतु भूत दडा नहीं खास कर प्रासुक अन्न, जल और वायु है।

दण्डीजी। उपरोक्त आपके कपोल कल्पित १५ गुणों का उत्तर यथा योग्य देकर समाधान किया आप इस प्रकार कुयुक्तिया लगा कर स्थैवर भगवन्तों के सिवाय हृष्ट पुष्ट दण्डियों को दण्डा रखने की चाल प्राचीन सिद्ध करना चाहते हैं यह आपको उत्सूत्र प्ररूपणा है। इस प्रकार मायाचारी की कूट बातें लिखने से, दुष्काल में तुम्हारे जैसे भोजन पक्षी लोगों ने कगलों से अपने भोजन का बचाव करने या चोर, सिंह, गौ, भैंस, डाकू आदि की ताड़ना वास्ते जिनाज्ञा अनुकुल बता कर दण्डा धारण किया और बेचारी भोली भाली जनता को मिथ्या मार्ग मे प्रेरित किया, यह अक्षम्य अपराध टल नहीं सका। तुमने ऐसा कथन कर अनन्त ससार की वृद्धि कर ली है। तुम्हें दडी, पीताम्बरी के नाम से पुकारने पर बडा आश्चर्य होता है और तुम चिड़ते हो यह तुम्हारी भूल है क्योंकि दण्डी और पीताम्बरी दोनों नाम गुण निष्पन्न ही हैं। इसलिये तुम्हें नाराज नहीं होना चाहिये। दण्डा रखने से दण्डी और पीत वस्त्र पहिनने से पीताम्बरी कहलाते हो। इसलिये तुम्हें शात रहना उचित है। अज्ञान दशा या द्वेष बुद्धि से आज दिन पर्यंत दण्डी, पीताम्बरी और जड़ोपासक कहने वालों पर द्वेष किया तथा द्वेष बुद्धि से कहने वालों की निन्दा की हो या निन्दा की कोई पुस्तक छपाई हो एवम् वितरण की हो तो उसका शुद्ध भावों से [illegible]त्त लेकर आत्मा को शुद्ध कर लो।

जमाना बुद्धिवाद का है जडवाद का नहीं। उन्नति का मार्ग पकडो। हठ धर्मी से कोई उन्नति नहीं कर सकता। सच्चे लक्ष्य तक पहुँचने में जीवन समर्पण करना, आवश्यकता हो तो उस पर भी ममत्व न करना धर्म है। धर्म की ओट में पाखण्ड नहीं [illegible] पाखण्ड बढ़ने से ही धर्म का ह्रास हो रहा है। प्रत्येक म[illegible]

जैनियों की सख्या घट रही है। आपसी वाद विवाद मे और लड़ने में तो शूर वीरता आ जाती है पर अन्य मतावलम्बी जब कभी धर्म पर आक्षेप करते हैं आँख भी नहीं खुलती जैनियों की इसीलिये दिनों दिन अवनति हो रही है पर आपसी मत भेद के कारण एक दूसरे से मिलने जुलने एवम् शात्वना देने वक्त की इच्छा नहीं रखता। वाद विवाद में हजारों फूकना कर्तव्य समझता है पर समाज की हालत सुधारने के लिये, एक फूटी पाई भी खर्च करना नहीं जानता। कर्णधार स्वय डुबकिया लगा रहे हैं उन्हें वाद विवाद में मजा है वे आपसी निन्दा में लीन हैं। अत एव समाज की ओर देखे कौन ? सत्य बात को पकड़े कौन ? यही कारण है कि खींचातानी मची हुई है। सत्य बात बताने पर भी ग्रहण नहीं की जाती। वाद विवाद बढाया जाता है और कपोल कल्पित बातों द्वारा पक्ष समर्थन किया जाता है। दण्डीजो ! कुछ सोचो ! समाज और अपने भलाई का मार्ग सोचो तो सबका कल्याण होगा।

स्थैवरों के सिवाय नवयुवक हृष्ट पुष्ट दण्डियो के दण्ड धारण करने मे १८ दोष—

(१) स्थैवरों से अन्य दण्डी जो दण्डा रखते हैं वे भगवन्तों की आज्ञा का उल्लघन करते हैं और भगवन्त की आज्ञा उल्लघन से आज्ञा के विराधक होते हैं। विराधक हो कर भवनपति व व्यतरादि जन्म ले कर पुन भव भ्रमण करते हैं। इसलिये दण्डा नहीं रखना ही अच्छा है।

(२) नवयुवक दण्डी कभी किसी बाह्यातर कार्य वश पारस्परिक झगड़ा टटा कर बैठते हैं तो दण्डेमार हो जाती है। स० १९६६ के साल ऋषभविजय नामक दण्डो चित्तौड़गढ और पुढोली के बीच मे भिलवाड़े जाते समय मुझे राह में मिला था उसने मेरे साथ वाले साधुओं के समक्ष कहा था कि छोटी सादड़ी मेवाड में मेरे और शातिविजयजी के बीच में इसलिए झगडा हो गया था कि उनने मुझे कचोरी बनाने को कहा और मुझे कचौरी बनाना नहीं आता था। इसलिए मैं न बना सका

(१५) सिवाय स्थेवर भगवन्तो के अन्य मुनियों को दडा रखने की आज्ञा नहीं है और इसे सिद्ध करने के लिए दडियों को कई कुयुक्तिया रचनी पड़ती हैं। कूट, कपट, माया आदि का सेवन करना पडता है तथा दण्डों की स्थापना के लिये हमारे प्रिय दण्डो मणिसोगरजी के समान उत्सूत्र प्ररूपणा भी करना पडती है अतएव दण्डधारियों! सावधान!

(१६) प्राय कर दण्डी लोग शीशम का दण्डा रखते हैं और आकर्णान्त लम्बा रखते हैं जिससे छोटे जैनेतर बच्चे- (लम्बी लकडी लम्बी डार दण्डी बैठे पक्के चोर) तथा (शीशम की लकडी, रेशम की डोर, दण्डी बैठे पक्के चोर) इस प्रकार दण्डियों को चिडाते हैं विचार पूर्वक देखा जाय तो दण्डियों को खास चिड़ाने का कारण यह दण्डा ही है।

(१७) दण्डधारी नवयुवकों को देख कर जैनेतर लोग हसते हैं और कहते हैं कि यह दण्डा क्या ढोर व ऊटों को हाकने के लिये धारण किया है?

(१८) जिनके लिये दण्डा रखने की आज्ञा नहीं है, और जो सिर्फ शौक के खातिर जिनाज्ञा विरुद्ध व भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल दडा धारण करते हैं। वे जिनाज्ञा के बाहर हैं और जो जिनाज्ञा के बाहर हैं उन्हें मोक्ष किसी भी हालत में नहीं मिल सकती। इसलिये कार्य कारण के बिना जिन लोगों ने दडा धारण किया है उनके लिये मोक्ष की प्राप्ति मे दडा अर्गल समान आ खडा होता है।

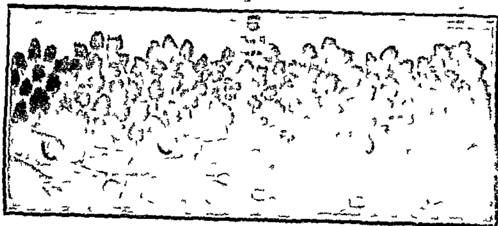
दडीजी! ऐसे अनेक दोष नवयुवकों के दडा रखने मे दृष्टि गत होते हैं किन्तु लेख बढ जाने के भय से अठारह ही दोष लिख कर बतलाये गए हैं।

६८—दण्डीजी! दीक्षा लेते समय जिन २ उपकरणों की जिस २ के लिये जैसी आज्ञा है वैसे २ लिये जाते हैं किन्तु दडा रखने की



चित्र परिचय के लिये





(८) पांचों पांडव शत्रुञ्जय पर्वत पर संथारा किये हुए हैं।

श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

(१५) सिवाय स्थैवर भगवन्तो के अन्य मुनियों को दडा रखने की आज्ञा नहीं है और इसे सिद्ध करने के लिए दंडियों को कई कुयुक्तिया रचनी पड़ती हैं। कूड़, कपट, माया आदि का सेवन करना पड़ता है तथा दण्डों को स्थापना के लिये हमारे प्रिय दण्डी मणिसागरजी के समान उत्सूत्र प्ररुपणा भी करना पड़ती है अतएव दण्डधारियो! सावधान!

(१६) प्राय कर दण्डी लोग शीशम का दण्डा रखते हैं और आकर्णान्त लम्बा रखते हैं जिससे छोटे जैनेतर बच्चे (लम्बी लकडी लम्बी डोर दण्डी बैठे पक्के चोर) तथा (शीशम की लकड़ी, रेशम की डोर, दण्डी बैठे पक्के चोर) इस प्रकार दण्डियों को चिड़ाते हैं विचार पूर्वक देखा जाय तो दण्डियों को खास चिड़ाने का कारण यह दण्डा ही है।

(१७) दण्डधारी नवयुवकों को देख कर जैनेतर लोग हसते हैं और कहते हैं कि यह दण्डा क्या ढोर व ऊटों को हांकने के लिये धारण किया है?

(१८) जिनके लिये दण्डा रखने की आज्ञा नहीं है, और जो सिर्फ शौक के खातिर जिनाज्ञा विरुद्ध व भगवान् की आज्ञा के प्रतिकूल दडा धारण करते हैं। वे जिनाज्ञा के बाहर हैं और जो जिनाज्ञा के बाहर हैं उन्हें मोक्ष किसी भी हालत में नहीं मिल सकती। इसलिये कार्य कारण के बिना जिन लोगों ने दडा धारण किया है उनके लिये मोक्ष की प्राप्ति में दडा अर्गल समान आ खड़ा होता है।

दडीजी! ऐसे अनेक दोष नवयुवकों के दडा रखने में दृष्टि गत होते हैं किन्तु लेख बढ जाने के भय से अठारह ही दोष लिख कर बतलाये गए हैं।

६८—दण्डीजी! दीक्षा लेते समय जिन २ उपकरणों की जिस २ के लिये जैसी आज्ञा है वैसे २ लिये जाते हैं किन्तु दडा रखने की



चित्र परिचय के लिये





(८) पाचा पांडव शत्रुञ्जय पर्वत पर [illegible] किये हुए हैं।

श्री [illegible] प्रेस, [illegible]

जिनाज्ञा तो सिर्फ वय स्थैवरों के लिये ही है अन्य के लिये नहीं वास्ते (उपकरणों के साथ दडा भी सूत्रो में बतलाया है इसलिये रखना योग्य है) ऐसी कुयुक्तिया लगा कर दडे की स्थापना करना उत्सूत्र प्ररूपना करन के समान है। अर्थात उत्सूत्र प्ररूपना ही है।

६९—दडीजी ! स्थैवर भगवंतों के सिवाय अन्य मुनियो के लिये दंडा बिना कारण सदा सर्वदा रखना भगवान् की आज्ञा के बाहर है अतएव आपका यह ११७ वां जाहिर उद्घोषणा का प्रलाप एक दम मिथ्या है।

७०—दडीजी ! प्रश्न व्याकरण सूत्र के तीसरे सवर द्वार मे जो दडा रतलाया है। वह सही है पर उस दडे के साथ ही साथ बैठने के लिए पाटिया और शयन के लिए सस्तारक का भी उल्लेख है। यदि इसी मूल पाठ के आधार से दडा रखना चाहते हो तो फिर उसी मूल पाठ के साथ ही साथ लकड़ी का पाटिया का भी वर्णन किया हुआ है। इस उद्देशानुसार दडी लोगों को दडे के साथ पीठ पर एक लकड़ी का पाटिया भी बाधे रहना चाहिए।

पाठको ! जिस प्रकार जिस चीज का उपयोग होता है वह उसी प्रकार रक्खी जाया करती है। जब साधु अवस्था मे वृद्ध हो जाय उसके लिए उस समय दडा रखना उपयुक्त और भगवान् की आज्ञानुसार है। हृष्ट पुष्ट युवान साधुओ के लिए दडा रखना भगवान् का हुक्म नहीं है। मूल पाठ और भगवान् का आशय समझे बिना ही प्रत्येक युवान साधुओं के लिए दंडा रखना ऐसा कहने वाले हठवादियो को मिथ्या-भाषी समझना चाहिए।

आगे चल कर दडीजी ने उसी पैरे मे लिखा है कि—"१४ उप करण पूरे २ रखते भी नहीं इसलिए साधु साध्वियो का वेष, उप-करण, कर्तव्य, श्रद्धा और प्ररूपणा भी सूत्र विरुद्ध है।

महोदय ! दडीजी का इस प्रकार लिखना निरी निरक्षरता का है। क्योंकि वे जैनाशय को भी भूले बैठे हैं जब कि साधुओं के लिए तीन पछेवडी रखने की भगवान् ने आज्ञा दी। इससे अधिक ओढ़ने की वीर प्रभु की आज्ञा नहीं। यदि तीन पछेवडो न ओढ कर दो या एक ही ओढ कर शीतादि समय बितावे तो वह उत्कृष्ट क्रिया का करने वाला साधु समझा जाता है। ज्यों ज्यों उपकरण (उपाधि) कम करता जायगा त्यों त्यों विशेष फलदायक है। इस प्रकार होते हुए भी कम उपकरण रखने अर्थात् उपाधि घटाने पर दडोजी सूत्र विरुद्ध समझते हैं। इस पर कोई क्या यह नहीं कहेगा कि दडीजी की मति ही विभ्रम हो गई।

फिर देखिए ! जिन कल्पी मुनि के पास तो बहुत ही कम उपकरण रहते हैं तो क्या कम उपकरण रखने से साधु नहीं कहलायगे अवश्य कहलायगे। इसमें यह सिद्ध हो गया कि उपकरण कम रखने से साधुत्व की विशेषता है न कि न्यूनता अतएव जो दडीजी ने कहा है कि कम उपकरण रखना सूत्र विरुद्ध है, यह उनकी बुद्धि की अजीर्णता है।

दडीजी ! फिर भी जरा सोचो जो तीसरे सवर द्वार में द! पाटिया, मस्तारक (घास वगैरह आदि वस्तु वस्तुए वतलाई हैं वे हमेशा रखने के लिए नहीं जिस समय जिसकी जरूरत हो उस समय उन उपकरणों म से उपकरण रखने का मूलाशय है। और जो हमेशा पास रखने की वस्तुएं अर्थात् उपकरण हैं उनका उल्लेख प्रश्न व्याकरण सूत्र के पचम सवर द्वार मे निम्नोक्त प्रकार से है —

"पडिग्गहो पादबधण पादकेसरिया पादठवण च पडलाइ तिन्नेव रयत्ताण च गोच्छओ तिन्नेव य पच्छाका रयोहरण चोल पट्टक मुहणंतकं।"

पाठको ! उपरोक्त मूल पाठ में साधुओं के लिए अपने पास रखने के उपकरणों का नाम निर्देश किया पर डडा रखने के लिए दडे का प्रयोग मूल मे नहीं किया। इससे दडा रखना ऐसी दडीजी की सारी कुयुक्तियों का खण्डन हो गया है।

खास निवेदन का उत्तर।

उत्सूत्र-भाषी श्री मणिसागरजी को, हम इसके द्वारा यह बता देना चाहते हैं, कि लेखक दंडी ने, जो जैन मुनियों के लिए मुहपत्ति को सदा सर्वदा मुह पर बाधने में छत्तीस दोष बतलाये हैं, वे निरे निकम्मे निष्प्राण, निर्यात के नियमों से विरुद्ध, निराधार और कुतर्क-पूर्ण है। क्योंकि दण्डीजी के द्वारा प्रदर्शित दोषों का जिनेश्वर प्रणीत बत्तीस सूत्रों में तो कहीं जिक्र तक भी नहीं पाया जाता है। दूसरी एक यह बात भी बड़ी ही विचारणीय और विचित्र, दण्डीजी ने दण्ड पेलते पलत लिख मारी है, कि—"हमेशा मुहपत्ति को बाधे रहने में भी छत्तीस दोष आते हैं।" पाठको ! देखा, दण्डीजो का मायाचारी और भूल तक मे मोहक प्रलाप ! हमेशा मुहपत्ति का मुख पर बाँधे रहने म तो दण्डीजो को दोष-दर्शन हो आते, परन्तु व्याख्यानादि के समय, जब कि दण्डी के स्वय आचार्य, कृपाचन्द्र सूरि दण्डीजी के निज के गुरु सुमति सागरजो, हरिसागरजी, सागरानन्द सूरिजी, आदि अनेको गच्छ निवासी यति और सवेगी लोग, जो कुछ समय ही के लिए फिर चाहे क्यो न हो, मुख पर मुहपत्ति बाधने का कष्ट उठाते हैं, तब क्या वे लोग तो उपर्युक्त दोषों से बाल बाल अलग रह सकते हैं, और केवल जैन मुनि ही, जो भगवदाज्ञा का प्रेम और प्रतिज्ञा पूर्वक पालन करते हुए, मुख पर मुहपत्ति को सदा सर्वदा बाधे रहते हैं, दोष के भागी हैं ? वाह ! दण्डीजी की सूक्ष्म शक्ति, और पहुच तो सचमुच म पूरी पूरी पहुची हुई है। परन्तु पाठको ! दण्डीजो के ये दोष, केवल उन के मनसूबे ही मात्र है। वास्तव में हैं ये कुछ नहीं। अगर सचमुच में ये दोष कुछ होते तो क्या दण्डीजी उनमे से कमसे कम शास्त्रीय प्रमाणों में से एक दो तक का भी कहीं उल्लेख न करते ? परन्तु जिसका जगत में कहीं कोई अस्तित्व तक नहीं, उनका उल्लेख किया भी जाता, तो

किस नाम, रूप और काम में ? यह तो छापते-कापते, 'मान न मान मैं तेरा मेहमान, बनने के नाते, अपने अनुयायियों से पुजवाने की लीला मात्र का प्रदर्शन, दण्डीजी ने किया है। अगर यह कह कर माया जाल बिछाया न गया होता, यह स्वाभाविक ही था, कि लोग श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों की ओर, जो खुले मुंह की उष्ण वायु के द्वारा होने वाला बाह्य वायु-कायिक जीवों की सतत हिंसा से दूर रहने के लिए, जिनेश्वर भगवान् की आज्ञानुसार, प्रमाण सयुक्त मुखवस्त्रिका को सुन्दर धागे से, सब समय अपने मुख पर बाँधे रहते हैं, अनायास ही झुक गये होते, और तब तो इन ऐसे दण्डधारी दण्डियों की, रोटियों तक मे मुहताजी हो गई होती। फाकाकशी के साथ बेचारो को जीवन की घड़िया, गिन गिन के, काटनी पड़तीं।

पाठको! दण्डीजी के छत्तीस दोषो का निराकरण तो यों ऊपर बताये हुए, उन्हीं के 'मौन सम्मतिलक्षण" के नाते, स्वयमेव ही हो जाता है। अस्तु। हम खुले शब्दों म अब दण्डीजी के अन्य-विश्वासु श्रद्धालु अनुयायियों और भक्तों को यह भी कहने का आग्रह करें, तो भी कोई अत्युक्ति नहीं, कि उन्होंने उस दिन के बारह वर्षों के दुष्काल से, जिनाज्ञा की अवहेलना और अपमान कर, जो मुहपत्ति का हाथ में रखने की प्रणाली को अपनाया है, और उसकी पुष्टि में जिन जिन मन-गढ़न्त प्रमाणों को महल चिना है, वे सबके सब कार्य महज मूर्खता पूर्ण, मोह-मूलक, मिथ्यात्व के प्रचारक और मायाचार से भरे पूरे हैं। क्योंकि, स्वयं मुखपत्ति शब्द ही अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा जगत् को बताये दे रहा है कि उसका उचित स्थान ... है, अन्य नहीं। उदाहरणार्थ, यदि हम ... आगरखी (आग की रक्षा ... और शब्दों को लें, तब ... सकता है। अन्यथा,

यहा होती दीख पड़ेगी। जैसे, यदि कोई व्यक्ति पगरखी को पैरों में न पहनते हुए, सिर पर धारण करले, और टोपी या साफा या पगड़ी आदि को सिर पर न रखते हुए वह अपने पैरों म उसे पहन ले, तो वह व्यक्ति ससार मे केवल उपहास और अचम्भे का पात्र ही न ठह रेगा, वरन् जगत् उसे 'उल्लू', अज्ञानी', 'पागल' आदि शब्दों से भी सम्बोधित करेगा। इससे विचारशील पाठक अच्छी तरह जान सकते हैं, कि तब दण्डीजी का, अपने हाथो दण्डा धारण कर, सत्त्व गुण मयी मुहपत्ति के पीछे पड कर दौड़ धूप करना और उस वेचारी को दिन-दहाडे, मुंह पद से खींच खाच कर अपने हाथों में घसीट लाना, और वह भी आज के प्रकाश के जमाने में ? सोलह आना अन्याय से ओत प्रोत है, निज की साधुता पर कुठाराघात है, अपने दण्ड और दण्डी अवस्था को, "शक्ति परेषा परिपीडनाय' से पूरा पूरा अपमान है, और ससार के साथ सरासर फरेबी है। अस्तु। इस पाप के प्रायश्चित्त में उचित तो अब यही है, कि जिन जिन महानुभावो ने सनातन जैन प्रणाली की, जो मुख पर हो मुख-वस्त्रिका को बाँधने की है, छोड कर, उसे (मुख-वस्त्रिका को) हाथ मे ग्रहण की हो, या करवाई हो, या उसे यो करने, करवाने में जिनका अनुमोदन और समर्थन रहा हो, या जिन्होंने उसे हाथों में रखने रखवाने रूप उत्सूत्र की प्ररूपना की हो, या करवाई हो, अथवा जिन्होंने मुखवस्त्रिका को मुह पर बांधने में किसी प्रकार की क्वचित् भी शका की हो, और उसे यो बाधना, जिनाज्ञा के विरुद्ध समझी समझाई हो उन्हें जैन-जगत् के प्रसिद्ध वक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज के सुशिष्य श्री शंकर मुनिजी महाराज कृत 'मुख-वस्त्रिका-निर्णय', साहित्यप्रेमी पण्डित मुनि श्री प्यारचन्द्रजी महाराज विरचित 'गुरु-गुण-महिमा', श्री कुन्दनमलजी महाराज द्वारा लिखित 'मिथ्यात्व-निकन्दन-भास्कर', श्री अमोलखजी ऋषि द्वारा रचित 'जैन-तत्त्व-प्रकाश', श्रीमती विदुषी सती पार्वतीजी कृत, 'ज्ञान-

दीपिका', व 'सत्यार्थ-चन्द्रोदय-जैन', और इस प्रस्तुत ग्रन्थ तथा श्री ज्येष्ठमलजी महाराज आदि मुनियों द्वारा विरचित अन्यान्य ग्रन्थों को ध्यान और मनन पूर्वक पढ़ कर और उन मे जो जिनाज्ञा-विहित और प्रमाण सम्मत मुखवस्त्रिका को, सुन्दर धागे मे सदा सर्वदा मुख पर ही बाधने की सच्ची और सनातन जैन-प्रणाली है, उसी का अनुसरण तथा अनुकरण करते हुए, अपनी विगत भूलो का भण्डा फोड़ कर, अपनी आत्मा-शुद्धि कर लेने का अखण्ड व्रत ले लेना चाहिए। इसी में उनका भावी कल्याण, उनके धर्म का जीवन, जिनाज्ञा का प्राणप्रण से पालन, वाह्य वायु-कायिक जीवो की चिरन्तन रक्षा, जैन-धर्म की प्राचीनतम पहचान, अहिंसा का प्राथमिक मुलभोपचार, और जिन सूत्रो की सारमयी प्रतिष्ठा है। हमारी यह हार्दिक अभिलाषा और आग्रह है, कि भगवान् इन भूले हुओं को शास्त्र विहित सन्मार्ग की ओर लगने और जाने की सुबुद्धि प्रदान करे।

यदि उत्सूत्र-भाषी दण्डी मणिसागरजी ने, उपर्युक्त विद्वान् मुनियों के द्वारा विरचित शास्त्र-सम्मत ग्रन्थों की अवहेलना, तथा जैन सूत्रों और जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का अपमान करते हुए, मुख वस्त्रिका को स्थान-भ्रष्ट करने का अनुचित साहस और अनधिकार चेष्टा न की होती, यदि उन्होंने सत्य सनातन जैन प्रणाली के मूल मे अनुचित कुठाराघात करने वाली, मुख-वस्त्रिका को हाथ में रखने रूप उत्सूत्रों की प्ररूपना जो उनकी अपनी जाहिर उद्घोषणा न० ३ की मिथ्या रचना के रूप मे, 'आगमानुसार मुख-वस्त्रिका-निर्णय' के नाम से ओथी पोथी के रूप में प्रकट हुई है, न की होती, तो "ससार में प्रत्येक शब्द की प्रतिध्वनि होती है" के न्यायानुसार, यह कदापि सम्भव नहीं था, कि यह हृदय-विदारक, मुह तोड़ और सिर फोड जवाब भी यो प्रतिध्वनि के रूप मे, उनके के लिए तैयार हुआ होता। हम तो

दण्डीजी का हृदय से हित चाहते हुए, उन्हें यहाँ यह भी सूचित किये बिना किसी भांति नहीं रह सकते, कि यों भविष्य में कुयुक्तियाँ, कुत्सित भावनाओं और कदाग्रह के वशवर्ती बन कर, जैन-शास्त्रों व उनका अनुसरण करने वाले अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के शुद्ध और साधु पाठों तथा टीकाओं का अंग-भंग करते हुए, न तो वे भोली भाली जैन जनता ही को उन्मार्गी बनाने का अज्ञान मूलक काम करके, निज के अनन्त संसार ही को बढ़ावें, और न वे कभी उन जैन मुनियों की, जो जिनाज्ञानुकूल सुन्दर धागे से मुखवस्त्रिका को निज मुख पर बांधते हैं, व्यर्थ की निन्दा स्तुति ही किया करें, जिससे प्रतिध्वनि के रूप में, ऐसी अप्रिय-जनक पुस्तकों का प्रादुर्भाव ही जगत् में न हो पावेगा। क्योंकि कहा गया है कि —

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ सा बुरा न कोय॥

अस्तु। पराये की पेट भर निन्दा कर और उनके दोषों का प्रदर्शन करने से पहले ही पहले, यदि मनुष्य अपने ही हृदय को जरा टटोल कर देख लिया करे तो वह ऐसी भूलों के करने से तो बाल बाल बच ही जायगा, किन्तु साथ ही साथ, जगत् में अकारण क्षोभ भी उसके द्वारा न फैल पावेगा और व्यर्थ की निन्दा का पात्र भी वह न बनेगा। यह तो यह पर इस कठिन समय में, जब कि देश दरिद्र-नारायण की प्राण अपहरण करने वाली ठण्डक से कपकपा रहा है, देश की सम्पत्ति, ज्ञान शक्ति, श्रम और समय का जो आज यों वितण्डावाद में व्यर्थ ही अपव्यय किया जा रहा है, उसका सदुपयोग होगा, वह ऊपर से और लाभ में, सो अलग ही। तब तो हमारा यह कहना भी किसी प्रकार अयुक्ति-युक्त न होगा, कि हमारी इस रचना में भी, दण्डीजी की लेखनी और उनका मान-भिक्षुक कुत्सित हृदय ही मूल हेतु हुआ है।

प्रिय पाठको ! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-मुनियों का तो यह कहना और करना है, कि हम लोग तो वाद-विवाद के वशीभूत हो कर न तो पारस्परिक कलह का बीजारोपण ही करना चाहते हैं और न जैन सिद्धान्तों से विरुद्ध आचरण करना ही हमे कभी सुहाता है। हम तो पग पग पर जैन-सिद्धान्तो की सारमयी प्रतिष्ठा को, अपने आचरण और जीवन की सांस सांस में देखना, तथा उसका व्यवहार करना चाहते हैं। तब हमारा तो सीधे रूप में यही कहना रह जाता है, कि आपकी आम्नाय के अमलदार आप बने रहें, और हमारी आम्नाय के अख्तियार में हम भी वैसे ही अपना अधिकार बनाये रक्खें। फिर इस नाहक के पारस्परिक वितण्डावाद में, सिवाय नुकसानी के नफा भी तो कोई नजर नहीं आता। दूसरी ओर, सम्प के साथ मिलजुल के रहने और काम करने ही से तो, अपने आश्रित जैन समुदाय की, व दोनों पक्षों की, पूर्ण रूप से आत्मोन्नति और आजादी का जीवन है। परन्तु यह ऐहलौकिक तथा पारलौकिक हित का मनसूबा, यह कदाग्रह, कुत्सित भावनाओं, कुयुक्ति, कलुषित मार्ग, आदि से कोसों दूर रखने वाला और कल्याण की कामना से भरा पूरा हमारा कथन, यह शान्ति, सभ्यता, शिष्टता, सौजन्य, सुहृदता, और सिद्धान्त तथा सूत्र-सम्मत हमारा अनुभव जन्य अनुमोदन, हमारे उत्सूत्र भाषी, अनन्त संसारी हिंसा के कट्टर हिमायती, मिथ्या-प्रलापी जड़ोपासक, [illegible] पीत-वसन-धारी, और बाह्य-व[illegible] [illegible] के विरुद्ध आकर्णान्त दण्ड-धारी, और कदाचार के धारक [illegible] ही कब और क्यों भाने लगा। इसी कापते यह लिख मारा है कि—"यह कथन किन्तु मायाचारी का है।"

प्रिय पाठको ! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों का कथन तो मध्यस्थ भावना ही का है, किन्तु आप विवेकशील पाठकों को उक्त दण्डीजी ही के कथन में मायाचारी तथा ममता का मर्म दीख पड़ेगा। देखिए, क्या ही अदूरदर्शिता और अनसमझी की बातें हैं, कि जिनाज्ञा विहित सुन्दर धागे से युक्त मुखवस्त्रिका को मुह पर बांधने की सनातन जैन-प्रणाली को तो, आप मिथ्या और थोथी बतला रहे हैं परन्तु इसके विरुद्ध, हाथ में मुंहपत्ति को रखने की, जो झूठी, दाम्भिक, शास्त्रप्रतिकूल, और आधुनिक प्रणाली है, उसे आप सच्ची और शास्त्रानुमोदित बतला रहे हैं। वाहरी सचाई ! दण्डीजी ! क्या, यह अपनी दाम्भिकता को लोगों की भोली निगाहों से दूर रखने की शास्त्र विहित सम्मति है, या सचमुच में यह, दिन दहाड़े, दुनिया की आँखों में धूल झोंकने और उसे दीन-हीन बनाने को दुःशील और दुर्गुण-भरा कोई दाव-पेंच है ? दण्डीजी ! अब तो अपने दण्ड और दण्डीपन की जरा लाज और बात रखिए ! अब भी सँभल जाने का काफी समय है। यदि सुबह का भूला भटका साँझ को भी घर का रास्ता पकड़ ले, तो भी उसे भूला भटका नहीं कहते। अतः दुराग्रह को छोड़ दीजिए ! आक्रान्त दण्ड को हाथों से देश निकाला दीजिए, और उसकी जगह वहां पवित्र जैनागम तथा सूत्रों को बैठाइए। पीत वसनों का परित्याग कर, श्वेत वस्त्रों को शरीर पर धारण कीजिए, जो आपकी देश की जल वायु, आपके धर्म और जीवन, तथा आपके आश्रम धर्म के सब प्रकार से अनुकूल है। और, पावन मुखवस्त्रिका को, जिसे आपने उचित स्थान और पद से भ्रष्ट कर, अपने हाथों में उसके अधिकारों की हाथापाई करने, सौंप रक्खा है, पुनः उसके उचित स्थान, मुख पर बैठा कर अपनी जबान की ज्यादती और जबर्दस्ती को रोकिए ! अन्यथा, जबान का जुल्म बेचारे को सहना पड़ता है। जैसे, किसी ने क्या ही अच्छा कहा है, कि —

"जवान है तू बावली गावै आग जँजाल।
आप जु भीतर बैठती, जूते खाय कपाल॥"

यह तो हुई यहाँ की बात, परलोक का पछतावा भो तो फिर प्राणों के पीछे प्रतिपल पड़ा ही रहता है। तब तो जिस प्रकार, बुटेरायजी, आत्मारामजी, मूलचन्दजी, वृद्धिचन्दजी, आदि दण्डियों ने, मुख-वस्त्रिका को तोड़ने तथा प्रमाणसम्मत जैन मुनियों के वेष, श्वेत वस्त्रों आदि का परित्याग करने, और जिनेश्वर भगवान् की आदर्श आज्ञा के विपरीत पीत वसन और आकर्णान्त दण्ड तथा मुहपत्ति को हाथ में, फकीरों के से वेष को अपनाने रूप उत्सूत्रों की प्ररूपना की और अनन्त संसार को बढाया, उसी भाति आप भी उसे बढाने में बरसाती नदी की भाति आगे आगे बढ रहे है। अस्तु।

दण्डियो! हम एक वार फिर भी आपसे आग्रहपूर्वक, आपकी हितचिन्तना करते हुए यह कहे बिना न रहेंगे, कि जिस प्रकार, ऐसे उत्सूत्र प्ररूपक दण्डियो की दाम्भिकता से बचने के लिए, उनके चगुल मे स निकल निकल कर, आज सहस्रों सात्त्विक बुद्धि श्रावक, श्राविकाओं ने, पीत वसन पहनने, मुखवस्त्रिका को हाथों में रखने, जड़ोपासना करने आदि का परित्याग करते हुए, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियो की शरण में जा, पुन अपने सनातन जैन धर्म को, अपने असली रूप में जाना पहचाना है, आप आत्मार्थी दण्डी लोग भी, कदाग्रह, कुत्सित भावनाएं, और कदाचार को छोड़ छोड़ कर, उसी तरह करना, अपना कर्तव्य समझिये। किन्तु ज्ञान के अभाव में पेट के प्रपचवश और मिथ्या रूढियों के मार्ग में पड कर, झूठे मार्ग का प्रचार और प्रसार आप कभी न कीजिए। इसी में आपका सच्चा अभिहित है। भगवान् जिनेन्द्रराय भव रोग ग्रसित और यहा के आततायी

जनों की आत्मा को अपना वास्तविक रूप और उनके अपने ध्रुव धर्म को पहचानने की अप्रतिम शक्ति और शौर्य प्रदान करे ।

ॐ सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ।

श्रावण कृष्णा ११
श्री वीराब्द २४५९
श्रीविक्रमाब्द १९८७

विनम्र,
लेखक





वन्दे वीरम् ।

इन्दौर शहर में मुँहपत्ति की चर्चा ।

अर्थात्—

दण्डियों की दयनीय हार और आगमानुसार मुंह ही पर मुखपत्ति को सर्वदा बांधने की सैद्धान्तिक सिद्धि ।



प्रेमी पाठको ! सवत १९८१ विक्रमीय मे, जैन जगत् के प्रसिद्ध वक्ता और पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने चातुर्मास उज्जैन मे मनाया था । चातुर्मास की समाप्ति पर वहां से विहार कर आप देवास को पधारे । वहा आपकी दिव्य वाणी का घर घर और दर दर मे एक सा समादर हुआ था । क्या हिन्दू और क्या जैन, क्या मुसलमान और क्या पारसी, और क्या अन्य धर्मी, सभी सज्जनों ने आपके अमर उपदेशों से उचित और आदर्श लाभ उठाया था । यही नहीं, देवास बडी पाँती और दवास छोटी पाँती, दोनो स्थानों के उदार और धर्म-पिपासु नरेशों ने भी कई बार मुनिराज के सदुपदेशों से अपने हृदयों को सुसस्कृत किया था । यों राव से लेकर रक तक सभी ने वहा मुनि-राज के अमृतमय उपदेशों, प्रतिभासम्पन्न वक्तृत्वशक्ति और त्याग की भूरि भूरि प्रशसा की थी । वहा से विहार कर आपने इन्दौर की ओर

अपना मुख मोड़ा। इन्दौर में पधारने पर, चातक की भांति जैन और जैनेतर धर्मरत जनता ने आपका स्वागत किया। यहां बम्बई बाजार में सार्वजनिक उपदेश आपके होने लगे। सैकड़ों नर नारी, क्या जैन और जैनेतर सभी, समान रूप से, आपके उपदेशों के अचूक और हितकारक असर से मनोमुग्ध हो हो कर अपने मन की मलीनता को धोने लगे। सभी श्रोताओं ने मुक्त कण्ठ से आपकी प्रशंसा की। आपकी इस व्यापक प्रशंसा की ध्वनि ईर्षालु हृदय, विघ्नप्रिय और विवादसन्तोषी दण्डी मणिसागरजी के कानों तक भी एक दिन जाकर पहुंची। इस प्रशंसा के प्रताप को सुन कर दण्डीजी का ईर्षालु हृदय द्वेषाग्नि से प्रज्वलित हो उठा। पर वे बेचारे करते भी तो क्या, राज्य तो होलकर सरकार का था। वहां होलकर राज दण्ड (राज-सत्ता) के आगे, आपसे दण्डियों को पूछता ही कौन था! और फिर कोई सत्ता भी तो आपके पास नहीं थी। तब तो आप रात दिन विचार-सागर में डूबे रहने लगे और चलते-फिरते, उठते-बैठते सदैव यही सोचने लगे कि, कोई एक ऐसा उपाय कहीं से हाथ लग जाय, जिससे कोई विघ्न खड़ा किया जा सके, और मुनि श्री की उठती हुई प्रशंसा मलीन बनाई जा सके। ऐसे समय के लिए नियति का यह सदैव का निर्धारित नियम काम करता रहता है, कि सत्पुरुषों की उस समय जैसी भी और जितनी भी परीक्षाएं हो सकती हैं, उनसे उन्हें परखा जाय। और यों परीक्षा की कसौटी पर सच्चे उतरने पर उनके विमल और व्यापक यश को और भी अधिक विमल और व्यापक रूप में जगत् के सामने रक्खा जाय। विपरीत इसके, जो कलुषित हृदय, कुतर्की और कदाचारी लोग ऐसे सत्पुरुषों के विपक्ष में खड़े होते हैं, उनके पापों का प्रदर्शन संसार को करा दिया जाय, जिससे जगत् उनके कलुषित मुख को देख कर भविष्य के लिए सदा सजग बना रहे। नियति के इसी नियम के अनुसार, उस समय साहित्यप्रेमी पण्डित मुनि श्री

अगर जरूरत हो, तो देखो 'नाभा की मुहपत्ति चर्चा', 'दण्डी दम्भ दर्पण' आदि पुस्तकें।

(२) शास्त्रार्थ करने के लिए मध्यस्थ तरीके से श्री संघ की जरूरत होती है। परन्तु तुम्हारे हैंड-बिल को देखने से श्रीसंघ का शरीक होना मालूम नहीं होता है। साथ में आप ही के अनुयायी, श्रीमान् रायबहादुर मुन्तजिम ए खास बहादुर हीराचन्दजी कोठारी ने भी इस विषय में शास्त्रार्थ करने की मनाई की है। व आपको स्वभाव ही से विघ्न-सन्तोषी बतलाया है। जैसे कि आप गत साल में भी यहां पधार कर आपके ही अनुयायियों में द्वेष फैला गये हैं।

और (३) तुम्हारे साधुओं ने तुम्हारी ही सलाह से दौड़ कर, तुम्हारे आचार्य कृपाचन्द्रजी सूरि की बिना आज्ञा के, मुनि श्रीचौथमलजी महाराज का पल्ला पकड़, मल्हारगंज के आम रास्ते पर, मूंडचीरापन कर, जैन साधु नहीं होने का परिचय दिया है। तथा तुमने स्वत हैंड-बिल में झूठी बातें लिख कर असाधुता की है। तुम्हारी इस दशा को देख कर यह समझा जाता है, कि तुम शास्त्रार्थ के योग्य नहीं हो। अत एव अपनी भूल सुधार कर, सत्य मार्ग का ग्रहण करते हुए, अपनी आत्मा का कल्याण करो।

नोट—तुमने जैसे खुद जाकर और हैंडबिल छपवा कर वितरण करवाया है, वैसे हमारे मुनिराज जैनागमानुसार सा[illegible] से नहीं कर सकते हैं। अतएव हमे तुम्हारे को यह उत्तर

"कन्नेट्ठियाये वा मुहणंतगेण वा विणा ।
इरियं परिक्कमे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं वा ॥"

अस्य संस्कृतटीका—

"कर्णे स्थितया मुखपोतिकया इति विशेष्य गम्यम् मुखान्तकेन वा विना ईर्या । प्रतिक्रामेन मिथ्या दुष्कृतम् पुरिमार्द्ध वा प्रायश्चित्तम् ।"

भावार्थ यह है, कि—

कान में घाली हुई मुखवस्त्रिका के बिना अथवा बिलकुल मुखान्तक (मुखवस्त्रिका) के बिना ईर्या परिक्रमण करे, तो मिथ्या दुष्कृत अथवा पुरिमार्द्ध प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

साथ में जैनेतर ग्रन्थों में भी ऐसा लिखा है, कि जैन साधु वे ही हैं, जो मुख पर मुखवस्त्रिका धारण करते हैं, अर्थात् बाँधते हैं । देखो, प्रथमावृत्ति का "शिव-पुराण", अध्याय २१ वाँ, श्लोक २५ वाँ—

"हस्ते पात्रं दधानश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारका ।
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्तोल्पभाषिणः ॥"

इसका भावार्थ यह है, कि——

हाथ में पात्र धारण करने वाले, मुख पर वस्त्र धारण करने वाले, मलीन वस्त्र धारण करने वाले, और कम बोलने वाले जैन साधु होते हैं ।

साथ में एक छोटा सा प्रमाण यह भी है, कि यहाँ विराजित तुम्हारे ही आचार्य कृपाचन्द्रजी सूरि व्याख्यान देते वक्त मुख पर मुखवस्त्रिका बाँधते हैं ।

देखो, बड़े बड़े अंग्रेज विद्वान्, जिन्होंने कई जैन-शास्त्र देखे हैं, वे भी इस विषय पर क्या लिखते हैं —

The religions of the world by Johan Murd
L. L. D. 1902, Page 126

"The yati has to lead a life of continence
should wear a thin cloth over his mouth to prev
insects from flying into it"

अन्तिम नोट—अगर बिना तुम्हारे समस्त श्री संघ की आइ
कोई और भी विज्ञापन छपाओगे, तो उस पर ध्यान न दिया ज
तुम्हें झूठा समझा जायेगा, व उसका कोई उत्तर नहीं दिया जावेगा

इति शुभम्। मिती पौष सुदी १५ सं० १९७९ विक्रमीय।

सूचक—

श्री श्वे० स्था० जैन मित्र-मण्डल, इन्दौर।

जैन-बन्धु-प्रिन्टिंग प्रेस, इन्दौर।

यों विज्ञापन प्रकाशित करवा कर दण्डीजी को सूचित किया
यदि आपको कोई चर्चा ही करना है, तो आप अपने समाज की
से हानि लाभ का पत्र, पहले, संघ से प्राप्त करलें तब उसे जाहिर
करदें। परन्तु यहाँ प्राप्त करने को था ही क्या, जो बेचारे दण्ड
संघ से प्राप्त करते, और उसे प्रकाशित करते करवाते। संघ को अ
शामिल नहीं किया। तब तो "मौनं सम्मतिलक्षणं," के नाते आ
पराजय भी जगत् के सम्मुख है ही।

इसके कुछ दिनों के बाद, जब कि यह मामला ढीला और श
पड गया, 'तब दण्डीजी की ओर से किसी खुशामदी टट्टू प्य
हाल शर्मा ने एक विज्ञापन निकाला। उसमें भी, 'उलटा चोर कोतव
ही को डाँडे' वाली मिसाल का मामला हुआ। क्योंकि, यह तो उ
के समाज के आदरणीय पुरुषों के द्वारा, प्रथम ही सिद्ध हो चुका

कि दण्डीजी अकारण ही विघ्न-सन्तोषी हैं। फिर ये इस बात की पर्वाह ही क्यों करने लगे, कि हमारे इस काम से समाज बदनाम होगा। समाज चाहे समस्त रूप से रसातल को चला जाय, उन्हें तो जैसे तैसे अपना नाम प्रसिद्धि में लाने से काम था। फिर गाली गलोज और विषयान्तर तो होने लगा दण्डीजी की ओर से, और दण्डीजी के दाहिने हाथ, मिस्टर प्यारेलाल शर्मा कहने लगे, कि ये सब बातें श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनों की ओर से हो रही हैं। इन समस्त बातों का सांगोपांग वर्णन करने का न तो हमें अवकाश ही है, और न यहाँ स्थान ही। किंतु हाँ, इतना कहे बिना भी हम न रहेंगे, कि शान्ति भंग, गाली-गलोज, और वितण्डावाद का 'ॐ नमः सिद्धम्' सब से प्रथम, किस ओर से हुआ? यह प्रश्न यदि कहीं हल करने का मौका आवे तो एक ओर तो अकेले प्यारेलाल शर्मा, और दूसरी ओर, इन्दौर की समस्त जैन व जैनेतर नागरिक जनता। इन दोनों की साक्षी में, विद्वज्जन समाज दूसरे की साक्षी ही को प्रामाणिक, बहुमत के रूप से माननीय, और सचाई से भरी समझेंगे। समझेंगे ही नहीं, वरन् यह उन्हें पूरा पूरा निश्चय हो जायगा, कि शान्ति के मूल में कुठाराघात करने का सबसे प्रथम प्रयत्न, दण्डीजी की बुद्धि के दाहिने हाथ, प्यारेलाल शर्मा ही की ओर से हुआ। यदि उसके द्वारा लिखित, विज्ञापनों को विद्वज्जन ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे तो वे यह जाने बिना भी न रहेंगे, कि शर्माजी ने भङ्ग भवानी की तरंगों में भटकते हुए, यत्र तत्र, जो कुछ भी मन में आया, लिख मारा है।

(१) दण्डीजी! प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज की वक्तृत्व शक्ति और विद्वत्ता है, तब ही तो उनने पवित्र ध्यान देकर, जनता के सम्मुख, 'अहिंसा परमो धर्मः' की महत्ता को रक्खा है, और सदा सर्वत्र रखते रहते हैं। और यदि आप अपने को सर्वसर्वा मानते हैं, तो क्या यह भी उन मुनिराज की प्रतिभा का ज्वलन्त

प्रमाण है कि आप सरीखे दण्डधारी लोग तक भी, उनकी विद्वत्ता और प्रतिभा की स्पर्द्धा न करते हुए ईर्षावश अपराधी बन, जलते भुनते रहते हैं।

(२) दण्डीजी! मुँहपत्ति का अर्थ मुँह पर हमेशा बँधा रहने वाला वस्त्र होता है। इसका विशेष खुलासा हमने इसी पुस्तक में अन्यत्र भली-भाँति कर दिया है। अत यदि आप चाहे, तो वहा देख कर अपने दिल और दिमाग को दिलासा दे लीजिए।

(३) दण्डीजी! श्रीयुत रायबहादुर हीराचन्दजी कोठारी ने, आप की आम्नाय के होते हुए भी, आप जैसे दण्डधारियों से शास्त्रार्थ करने के लिए निषेध किया। उस पर भी तुम कहते हो, कि उन्होंने वैसा नहीं कहा। यदि यही सच मान लिया जाय तो आपको अपनी सत्यता प्रकाशित करने के लिए उनका हस्ताक्षरी पत्र प्रकाशित करना चाहिए था।

दण्डीजी! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से जो विज्ञापन निकला है, जिसमे कि मुँहपत्ति को हमेशा मुँह ही पर बाँधनेको, 'महानिशीथसूत्र' का मूलपाठ प्रमाण मे दिया है, वह बिलकुल सही और युक्ति-युक्त है इसका खुलासा यथा-स्थान पहिले किया जा चुका है। इस तरह शिवपुराण का प्रमाण भी मुँह पर ही मुँहपत्ति को बाँधना सिद्ध कर रहा है, न कि हाथ मे। इसी प्रमाण, अर्थात् शिवपुराण के आधार पर ही तो, श्रीमन्त नाभा नरेश ने फर्माया है, कि जैनियों के जो चिन्ह शिवपुराण मे बताये गये हैं, वे चिन्ह श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों में अक्षरश पाये जाते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि, मुँहपत्ति को सदा मुख पर ही बाँधना आवश्यक और धर्मानुकूल है।

दण्डीजी! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से जो विज्ञापन निकला, उसमे दण्डीजी के गुरु, कृपाचन्द्रजी सूरि भी व्याख्या

नादि के समय, अपने मुह पर मुखपत्ति बाधते हैं, ऐसा लिखा था। इस के खण्डन मे दण्डीजी का लिखना है कि "हमारे गुरुजी जो ऐसा करते हैं, वह ठीक है। क्योंकि, उसमें, उनका तो यही पवित्र उद्देश्य छिपा रहता है, कि व्याख्यानादि के समय वो जो दुर्गन्ध नाक के रास्ते, शरीर में से निकलती है, वह आगम पर न गिरने पावे।" पाठको! देखा, किस तरह की अनुपम सूझ, दण्डीजी ने अपनी दीर्घ सूत्रता से खोज निकाली है! दुर्गन्ध निकलती है नाक से, और बाँधा जाता है, मुँह! यदि दण्डीजी ही के कथन को चन्द मिनिटो के लिए सच समझ लिया जाय, तो क्या यह न्याय का सरे आम कतल करना और दुर्गन्ध का दिन दहाड़े दूना, चौगुना बढाना नहीं है? फिर, नाक के साथ मुह को भी बाधा जाता है। इससे भी दण्डीजी के कथनानुसार यह सिद्ध हो जाता है, कि नाक क मुकाबिले में मुँह बहुत बड़ा होता है, और सब मोरी जैसे मुँह से भी दुर्गन्ध अवश्य निकलती ही होगी।

पाठक! इसमें हमारा कोई अनुमान, अनुभव और सिद्धान्त न समझें। यह तो दण्डीजी ही की सूझ है जो अपने गुरु तक के लिए, "दुर्गन्ध नाक से निकलती है" का प्रयोग कर रहे हैं। खैर, हमें इसमें कोई प्रयोजन और परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। पर मणिसागरजी को भी उचित नहीं कि वे ऐसे प्रेम चुनिन्दा शब्दों का उपयोग अपने गुरु के लिए करें।

दण्डीजी! जिनका हृदय ज्ञान के प्रकाश मे जरा भी प्रकाशित है, वे तो तात्त्विक दृष्टि से, आचाराग सूत्र, विपाक, महानिशीथ आवश्यक, भगवतीजी, आदि सूत्रों मे जो भी कहा देखेंगे, उनमें से किसी मे भी, स्वयं सिद्ध सिद्धान्त की भांति, मुँहपत्ति को सदा मुँह पर ही बाधा उन्हें लिखा मिलेगा। किन्तु विपरीत इसके, उसे हाथ मे रखने रखाने की चर्चा तक, किसी मे देखना दुष्वार होता पड़ेगा। यदि इनमें से किसी एक भी उपर्युक्त ग्रन्थ मे मुँहपत्ति को हाथ में रखने क

प्रमाणों की पुष्टि, तथा परिचय मिला होता, तो दण्डीजी शास्त्रार्थ करने के लिए, अवश्य ही संघ को सम्मिलित करते और संघ ही के मार्फत विज्ञापन का बीजारोपण करते। पर वेचारे दण्डीजी करते ही, तो क्या करते ? क्योंकि, उनके अपने बत्तीस सूत्रों में ही, मुहपत्ति को हाथ में रखने का, कहीं भूले-भटके भी तो उल्लेख नहीं है। फिर, चर्चा करने की हिम्मत के बिना संघ को, भला दण्डीजी सम्मिलित भी तो कैसे और क्यों करते ? तब उनके मार्फत विज्ञापन निकालना तो, बहुत ही दूर की बात रह जाती है। इससे सिद्ध हुआ, कि दण्डीजी स्वय ही शास्त्रार्थ करने की टालमटूल कर रहे थे। और, केवल थोथे विज्ञापनों की ओट में, अपने बुद्धि-वैभव की विशेषता (?) जनता मे प्रकट करते हुए, केवल बहानाबाजी कर रहे थे। मुँहपत्ति को 'मेशा मुँह ही पर बाँधे रहने के लिए, सूत्रो का प्रमाण ही यथेष्ट और स्पष्ट है। उसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। और, फिर उसी की पुष्टि मे यदि किसी अनुभवी और सम्मान भाजन अंग्रेज लेखक के मत को भी प्रकट कर दिया, तो इसमें कोई बुराई की बात नहीं है। क्योंकि आज का युग, उनके ऐसे अनेकों मतो तथा प्रमाणों को युक्ति-युक्त और आदरणीय मानता है।

दण्डीजी ! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-जगत् तो, शास्त्रार्थ करने से कभी पीछे हटना जानता ही नहीं है। खुद आप ही ने पस्त हिम्मत हो, टालमटूल कर दिया, नहीं तो जरा रग आ जाता और लोग भी आजन्म दण्ड धारण करने से, कुछ परिचय पा जाते। फिर जो हुआ करता है वह संघ की साक्षी ही से हुआ करता है। वह भी जन साधारण के सम्मुख। यही उद्देश्य सामने रख कर, सब को शामिल और साथ मे रखने की सूचना आपको दी गई उस पर भी आपका यह फर्माना, कि 'बीच में सब को ड़ाल अन्याय है," हास्यजनक है।

पाठको ! इसमे आपको यह तो भली प्रकार विदित हो ही गया होगा कि, दण्डीजी शास्त्रार्थ करने के लिए, बिलकुल एकान्त स्थान और अलग-अलग समय चाहते थे। परन्तु क्या इन दबे हुए शब्दो से, जनता आपके निरक्षर भट्टाचार्य होने के कारणों की खोज नहीं कर सकती है ? अजी जनाब ! जब शास्त्रार्थ ही करने चले हैं, तब फिर 'कुलड़ी में गुड़ फोडने' की कहावत क्यो कहलाने चलते हैं। खुले मैदान उतरिये और तब अपने दण्ड की करामात दिखाइए ! कहीं, केवल इश्तहारबाजी के कागजी घोड़ों से भी कोई मजिले मकसूद पर पहुँचा है ? जनता को यो उभाडने का प्रयत्न करना तो केवल हौवे-कौवे के मानिन्द है। इससे होता ही क्या है ?

दण्डीजी ! पुस्तक आदि तो सघ की बिना जानकारी में भी छपाई जा सकती है। उसको छापने-छपवाने में तो सघ को सम्मिलित करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं, परन्तु हा, जहा शास्त्रार्थ छिडता है, साक्षी के रूप में वहा तो सघ की अनिवाय आवश्यकता है। और सघ के बिना शास्त्रार्थ करना-करवाना न्याय-पद्धति भी तो नहीं है। इस लिए सघ को सम्मिलित करने के लिए दण्डीजी को सूचना मात्र की थी, न कि शास्त्रार्थ करने के लिए श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से कोई मनाई और टालमटूल की थी। इतने पर भी अपने अपने मन पर, अपना ही तो राज होता है, जो चाहे, सो खुशी खुशी समझा करे और अन्दर ही अन्दर फैसला कर लिया करे।

दण्डीजी को संघ के सम्मिलित करने की सूचना कर देने पर भी कुछ भी उचित, अनुचित उत्तर न देते हुए, वे केवल टालमटूल करते श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों को ओर से बडी ही यार ... कि अब भी सघ के मार्फत, दण्डीजी चर्चा का आह्वान पत्र करने की कृपा करेंगे। पर बेचारे दण्डीजी को कोई शास्त्रार्थ

प्रमाणों की पुष्टि, तथा परिचय मिला होता, तो दण्डीजी शास्त्रार्थ करने के लिए, अवश्य ही सब को सम्मिलित करते और सघ ही के मार्फत विज्ञापन का बीजारोपण करते। पर बेचारे दण्डीजी करते ही, तो क्या करते? क्योंकि, उनके अपने बत्तीस सूत्रों में हो, मुंहपत्ति को हाथ में रखने का, कहीं भूले-भटके भी तो उल्लेख नहीं है। फिर, चर्चा करने की हिम्मत के बिना सघ को, भला दण्डीजी सम्मिलित भी तो कैसे और क्यो करते? तब उनके मार्फत विज्ञापन निकालना तो, बहुत ही दूर की बात रह जाती है। इससे सिद्ध हुआ, कि दण्डीजी स्वयं ही शास्त्रार्थ करने की टालमटूल कर रहे थे। और, केवल थोथे विज्ञापनों की ओट में, अपने बुद्धि-वैभव की विशेषता (?) जनता में प्रकट करते हुए, केवल बहानाबाजी कर रहे थे। मुँहपत्ति को मेशा मुँह ही पर बाँधे रहने के लिए, सूत्रों का प्रमाण ही यथेष्ट और स्पष्ट है। उसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। और, फिर उसी की पुष्टि मे यदि किसी अनुभवी और सम्मान भाजन अंग्रेज लेखक के मत को भी प्रकट कर दिया, तो इसमें कोई बुराई की बात नहीं है। क्योंकि आज का युग, उनके ऐसे अनेकों मतों तथा प्रमाणों को युक्ति-युक्त और आदरणीय मानता है।

दण्डीजी! श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-जगत् तो, शास्त्रार्थ करने से कभी पीछे हटना जानता ही नहीं है। खुद आप ही ने पस्त हिम्मत हो, टालमटूल कर दिया, नहीं तो जरा रग आ जाता और लोग भी आपके आजन्म दण्ड धारण करने से, कुछ परिचय पा जाते। फिर शास्त्रार्थ जो हुआ करता है वह सघ की साक्षी ही से हुआ करता है। और वह भी जन साधारण के सम्मुख। यही उद्देश्य सामने रख कर, सघ को शामिल और साथ में रखने की सूचना आपको दी गई थी। उस पर भी आपका यह फर्माना, कि 'बीच में सघ को डालना। अन्याय है," हास्यजनक है।

पाठको ! इससे आपको यह तो भली प्रकार विदित हो ही गया होगा कि, दण्डीजी शास्त्रार्थ करने के लिए, बिलकुल एकान्त स्थान और अलग-अलग समय चाहते थे। परन्तु क्या इन दये हुए शब्दों में, जनता आपके निरक्षर भट्टाचार्य होने के कारणों की खोज नहीं कर सकती है ? अजी जनाब ! जब शास्त्रार्थ ही करने चले हैं, तब फिर 'कुलड़ी में गुड़ फोड़ने' की कहावत क्यों कहलाने चलते हैं। सुने मैदान उतरिये और तब अपने दण्ड की करामात दिखाइए ! कहीं, केवल हरवहारयाजी के कागजी घोड़ों से भी कोई मंजिले मकसूद पर पहुँचा है ? जनता को यों उभाड़ने का प्रयत्न करना तो केवल हौवे-कौवे के मानिन्द है। इससे होता ही क्या है ?

दण्डीजी ! पुस्तक आदि तो संघ की बिना जानकारी में भी छपाई जा सकती है। उसको छापने-छपवाने में तो संघ को सम्मिलित करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं, परन्तु हां, जहां शास्त्रार्थ छिड़ता है, साक्षी के रूप में वहां तो संघ की अनिवार्य आवश्यकता है। और संघ के बिना शास्त्रार्थ करना-करवाना न्याय-पद्धति भी तो नहीं है। इस लिए संघ को सम्मिलित करने के लिए दण्डीजी को सूचना मात्र की थी, न कि शास्त्रार्थ करने के लिए श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से कोई मनाई और टालमटूल की थी। इतने पर भी अपने अपने मन पर, अपना ही तो राज होता है, जो चाहे, सो खुशी खुशी समझा करे और अन्दर ही अन्दर फैसला कर लिया करे।

दण्डीजी को संघ के सम्मिलित करने की सूचना कर देने पर भी कुछ भी उचित, अनुचित उत्तर न देते हुए, वे केवल टालमटूल करते रहे। श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों को ओर से बड़ी ही बाट जोही गई कि अब भी संघ के मार्फत, दण्डीजी चर्चा का आह्वान पत्र प्रकाशित करने की कृपा करेंगे। पर बेचारे दण्डीजी को कोई शास्त्रार्थ थोड़ा ही

(१) श्वेताम्बरी कहला कर पीले वस्त्र किस शास्त्र के अनुसार आप धारण करते हैं ?

(२) पूर्वियों के सरीखा कान तक लम्बा डण्डा कौन से आगम के अनुसार आप रखते हैं ?

(३) आपके अन्य साधु लोग तो लोच करते हैं, परन्तु आप उस्तरे से बाल किस शास्त्र के अनुसार बनवाते हैं ?

(४) जैनी लोग तो साबुन तक का व्यापार करना पाप समझते हैं, परन्तु आप चरबी के द्वारा बना हुआ साबुन बहुतायत से वापरते हैं। यह हिंसात्मक कार्य करना आपके कौन से आगम में लिखा है ?

(५) जैन साधुओं की क्रियाओं को छोड़ कर दिन भर प्रेसों में मारे मारे फिरना, यह आपके कौनसे आगम के अनुसार है ? क्या आप पतित हैं, जो ऐसा करते हैं ?

(६) गृहस्थियों से हाथ-पैर दबवाना, उनसे भजन उठवाना, पोस्टल टिकिट पास रखना, पार्सले करना, पार्सलें मँगवाना, बाज़ार से खाने के पदार्थ मँगवा कर खाना, वगैरह वगैरह काम कौन से शास्त्र के अनुसार आप करते-करवाते हैं ?

(७) क्या, रास्ते में दौड़ कर, बिना आज्ञा, किसी के वस्त्र पकड़ना और झगड़ा पैदा करना, यह भी आपके आगमों में लिखा है ?

(८) मेरे स्वय के देखने में आया है, कि आपके पंच प्रतिक्रमण सूत्र के पृष्ठ ४८० पर, जो संवत १९८४ विक्रमीय में प्रकाशित हुआ है, लिखा है कि गोमूत्र, आदि सर्व जाति के अनिष्ट मूत्रों का पीना। और कदाचित् उसके अनुसार आप ऐसा करते भी होंगे। तो क्या, ऐसे घृणित कार्यों को करना, आप अपने विचारों के द्वारा उचित समझते हैं, अथवा अनुचित ? दर्शाने की कृपा करें।

(९) एक ही गृह में साधु और साध्वियों का सम्मिलित हो कर रहना, यह शास्त्र से विरुद्ध है। परन्तु आपके यहाँ यह अवश्य देखा गया है। यह उचित है, या अनुचित ?

(१०) शास्त्र में धातु पास, रखना तक, जैन मुनियों के लिए, मना है। तब एटीन कैरट् गोल्ड निर्मित चश्मा, घड़ी, इत्यादि वस्तुएँ आप अपने पास रखते हैं न ? यह किस आगम की आज्ञा से ?

नोट—कृपा कर उक्त प्रश्नों का सुलभ तौर पर, आपके जैन धर्म में जो ३२ सूत्र मुख्य माने हैं, उनके मूल पाठ के अनुसार उत्तर देने की कृपा करें।

शहर इन्दौर
ता० १०-१-१९२३ ई०

आपका शुभाकांक्षी—
मनसुखलाल ।"

इस प्रकार जब उपर्युक्त इश्तिहार निकाला गया, तब इसका बे सिर-पैर का जवाब देते हुए, दण्डीजी के परम भक्त यादरा के टक टके अनुयायी, किसी प्यारेलाल शर्मा ने एक हैंडबिल छपवा कर जनता में वितरण करवाया। उसमें उपर्युक्त इश्तिहार के दश प्रश्नों का तो, भूल कर भी उत्तर नहीं दिया गया। विपरीत इसके इधर उधर की थोथी बातों से उसका कलेवर, अन्त से इति तक रँग दिया गया।

पाठको ! यदि दण्डीजी विद्वान् थे, विवेकी थे, विचारशील थे, और वीतरागी भगवान् के उपासक और अनुयायी अपने आपको गला फाड़ फाड़ कर, विज्ञापनों के द्वारा कहते थे, तो फिर भाई मनसुखलाल के दश प्रश्नों का उत्तर क्यों न आपने दिया ? आप भीगी बिल्ली की भाँति दुम दबा कर, मौन धारण क्यों कर बैठे ? क्या, आप निरक्षर थे ? और यदि सचमुच आप में निरक्षर थे, तो व्यर्थ ही विज्ञापनबाजी का सहारा पकड अपने ऐबों को क्यों जग-जाहिर किया ? दण्डीजी ! यों गाल बजाने और मार-मार कर मुसलमान बनाने के नाते, विज्ञापनबाजी करने ही से, कोई जगत् में विद्वान् थोड़े बना है ? विद्वान् बनने के लिए तो, जगत् में, विनय, शीलता, सच्चरित्रता, सच्छा-स्त्रानुशीलता, सन्त समागम, विद्यानुराग और सब से अन्त में, परन्

(१) श्वेताम्बरी कहला कर पीले वस्त्र किस शास्त्र के अनुसार आप धारण करते हैं ?

(२) पूर्वियों के सरीखा कान तक लम्बा डण्डा कौन से आगम के अनुसार आप रखते हैं ?

(३) आपके अन्य साधु लोग तो लोच करते हैं, परन्तु आप उस्तरे से बाल किस शास्त्र के अनुसार बनवाते हैं ?

(४) जैनी लोग तो साबुन तक का व्यापार करना पाप समझते हैं, परन्तु आप चरबी के द्वारा बना हुआ साबुन बहुतायत से बापरते हैं। यह हिंसात्मक कार्य करना आपके कौन से आगम में लिखा है ?

(५) जैन साधुओं की क्रियाओं को छोड़ कर दिन भर प्रेसों में मारे मारे फिरना, यह आपके कौनसे आगम के अनुसार है ? क्या आप पतित हैं, जो ऐसा करते हैं ?

(६) गृहस्थियों से हाथ-पैर दबवाना, उनसे बजन उठवाना, पोस्टल टिकिट पास रखना, पार्सलें करना, पार्सलें मँगवाना, व बाजार से खाने के पदार्थ मँगवा कर खाना, वगैरह-वगैरह काम कौन से शास्त्र के अनुसार आप करते-करवाते हैं ?

(७) क्या, रास्ते में दौड़ कर, बिना आज्ञा किसी के वस्त्र पकड़ना और झगड़ा पैदा करना, यह भी आपके आगमों में लिखा है ?

(८) मेरे स्वयं के देखने में आया है, कि आपके पंच-प्रतिक्रमण सूत्र के पृष्ठ ४८० पर, जो संवत् १९४४ विक्रमीय में प्रकाशित हुआ है, लिखा है कि गोमूत्र, आदि सर्व जाति के अजित सूत्रों का पीना। और कदाचित् उस के अनुसार आप ऐसा करते भी होंगे। तो क्या, ऐसे घृणित कार्यों को करना, आप अपने विचारों के द्वारा उचित समझते हैं, अथवा अनुचित ? दर्शाने की कृपा करें।

(९) एक ही गृह में साधु और साध्वियों को सम्मिलित हो कर रहना, यह शास्त्र से विरुद्ध है। परन्तु आपके यहाँ यह अवश्य देखा गया है। यह उचित है, या अनुचित ?

(१०) शास्त्र में धातु पास रखना तक, जैन मुनियों के लिए, मना है। तब स्टील कैरट गोल्ड निर्मित चश्मा, घड़ी, इत्यादि वस्तुएँ आप अपने पास रखते हैं न? यह किस आगम की आज्ञा से?

नोट—कृपा कर उक्त प्रश्नों को सुलभ तौर पर, आपके जैन धर्म में जो ३२ सूत्र मुख्य माने हैं, उनके मूल पाठ के अनुसार उत्तर देने की कृपा करें।

शहर इन्दौर
ता० १०-१-१९२३ ई० } आपका शुभाकांक्षी—
मनसुखलाल।"

इस प्रकार जब उपर्युक्त इश्तिहार निकाला गया, तब इसका बे सिर-पैर का जवाब देते हुए, दण्डीजी के परम भक्त या टका के टके अनुयायी, किसी प्यारेलाल शर्मा ने एक हैंडबिल छपवा कर जनता में वितरण करवाया। उसमें उपर्युक्त इश्तिहार के दश प्रश्नों का तो, भूल कर भी उत्तर नहीं दिया गया। विपरीत इसके इधर उधर की थोथी बातों से उसका कलेवर, अन्त से इति तक रँग दिया गया।

पाठको! यदि दण्डीजी विद्वान् थे, विवेकी थे, विचारशील थे, और वीतरागी भगवान् के उपासक और अनुयायी अपने आपको गला फाड़ फाड़ कर, विज्ञापनों के द्वारा, कहते थे, तो फिर भाई मनसुखलाल के दश प्रश्नों का उत्तर क्यों न आपने दिया? आप भीगी बिल्ली की भाँति दुम दबा कर, मौन धारण क्यों कर बैठे? क्या, आप निरक्षर थे? और यदि सचमुच आप में निरक्षर थे, तो व्यर्थ ही विज्ञापनबाजी का सहारा पकड़ अपने ऐबों को क्यों जग-जाहिर किया? दण्डीजी! यों गाल बजाने और मार-मार कर मुसलमान बनाने के नाते, विज्ञापनबाजी करने ही से, कोई जगत् में विद्वान् थोड़े बना है? विद्वान् बनने के लिए तो, जगत् में, विनय, शीलता, सच्चरित्रता, सच्छास्त्रानुशीलता, सन्त समागम, विद्यानुराग और सब से अन्त में, परन्तु

अपनी गलतियाँ ही स्वीकार कर लें। परन्तु ऐसा न करें, कि "चित्त तो पड़ें, पर नाक तो ऊपर ही है।"

श्रेष्ठ कविता—

अम्मा हमने मल्ल पछाड़ा ऊपर से पटका धम्म।
वह शरमिन्दा जमीन देखे, आकाश देखें हम्म॥

शहर इन्दौर,
ता० १६।१।२३ ई० } मनसुखलाल गुप्त।"

इतना सब कहने-सुनने तथा प्रार्थना करने और समझाने-बुझाने पर, और उपर्युक्त हैंडबिल निकालने पर भी, जब पूछे हुए दश प्रश्नों में से किसी एक तक का भी उत्तर न मिला; और तब तक भी केवल; शास्त्रार्थ करो, शास्त्रार्थ करो; ही का ध्वनि दण्डीजी की ओर से सुनाई पड़ती रही, और ऊपर से दण्डीजी, केवल विज्ञापनों के द्वारा ही, छुपे छुपे अपनी विद्वत्ता की डींग मारने की डोंडी पीटते रहे, तब तो शान्ति-प्रिय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से, शास्त्रार्थ करने के लिए "चर्चा का चैलेंज' नामक विज्ञापन छपवा कर जन-साधारण में वितरण करवाया गया। वह यों था,—

चर्चा का चैलेंज।

("जैन-पथ-प्रदर्शक, आगरा" वर्ष ५, अंक १४,
मिति माघ कृष्णा ९, सं० १९७९ विक्रमीय)

'हमें विश्वस्त सूत्र से पता लगा है, कि इन्दौर में, जो श्रीमान् चौथमलजी महाराज का प्रभावशाली उपदेश हो रहा है, वह कितने ही लोभी, लालची, और टुकड़ों के मुहताजों को, तथा, जैन-धर्म-द्रोहियों ही को नहीं, वरन् देश-द्रोहियों को भी सहन नहीं हो सका है। और वे तरह तरहके विज्ञापन निकाल रहे हैं। उन विज्ञापनों में से हमारे पास भी (१) एक, किसी हजारीमल ओसवाल, (२) दूसरा किसी प्यारेलाल शर्मा

और आपकी बुद्धि को। बस, इसी में आप अपने गुरु के साथ, योग्य बन कर जगत् में आडम्बरी मार्ग दिखा रहे हो?

पहले आप अपने सु-इच्छा के मार्ग से यह तो जान लो, कि हमने तो आपके योग्य, उत्तर देने के प्रश्नों को छाप कर भेजा। सो उनका उत्तर देना तो एक ही तरफ रहा, और कुछ के कुछ गीत गाने लगे। यह भी आपका क्या ही स्वच्छ मत है। जो कविता उलट कर, आप ही पर लागू होती है, उसे दूसरों पर उंडेल रहे हो, और ऐसे भले कवि को कलङ्क लगा कर, भलों की आड़ में खुद बुरे बन रहे हो? यह कितना लाञ्छनीय कार्य है?

हमने जिन प्रश्नों को छाप कर आपको दिया है, उन प्रश्नों को पहले आप अपनी धर्म-पुस्तकों में देखिए। जो लिखा है, वास्तव में वह ठीक है, या नहीं, इसका विचार करने के उपरान्त आप उत्तर देते, तो ठीक समझा जाता। अट्-सट बकवाद लिखने से आपका बचत का कोई मार्ग नहीं निकल सकता। इससे तो आप अपने खुद-ब-खुद हार बैठे हो, और अपनी गलतियों को साबित कर रहे हो, कि ज़रूर ही हम अन्ध-श्रद्धालु हैं।

दूसरे, आपने लिखा, कि 'छापने वाले का पता तक इस पर नहीं।" यह लिख कर, हमारी समझ में तो आप दोनों चक्षुओं के रखते हुए भी सूरदास की उपाधि ग्रहण कर रहे हैं। क्या, उस पत्रिका में 'सही' नहीं थी? क्या, वह छापेखाने से नहीं छपी? फिर, आप किस कारण, अपनी खासी उद्दण्डता प्रकट कर रहे हैं?

कृपा करके, जो धार्मिक सम्भाषण चल रहा है, उसी को आप हल कीजिए। और, ऐसे बेतुके गैर-सिस्त व्यवहार से क्यों पेश आ रहे हैं?

आशा है, आप से यदि हमारे प्रश्नों का उत्तर देना न बन पड़े, और यदि आप उत्तर देने के योग्य न हों, तो इतना तो भी करें, कि

आप जैसी अपवित्र आत्माओं को चर्चा का आमन्त्रण ही दिया है, और न वे आप जैसे अयोग्यों से किसी प्रकार की कोई चर्चा ही करना चाहते हैं।

चर्चा का चैलेंज इन्दौर के किसी एक गृहस्थ का नहीं है। परन्तु वह किस का है, यह आप आँख खोल कर देखेंगे, तो मालूम हो जायगा। अगर आपको जो चर्चा करवानी ही हो, तो पहले अपने समाज के विद्वानों को तैयार करके, 'चर्चा का चैलेंज'—दाता से पत्र व्यवहार कीजिए। पत्र-व्यवहार करने से चैलेंज-दाता की "बाललीला" का भी अनुभव जन साधारण को हो जायगा। अपने आप मियां मिट्ठू बनने से हार-जीत का पता नहीं लग सकता।

मुँहपत्ति के बारे में शास्त्रार्थ पूर्णतया हो चुका है। और आपके पीताम्बरी साधु हार भी चुके हैं। जिसका कुल ब्यौरा नाना से प्रकाशित 'मुँहपत्ति-चर्चा' नाम की पुस्तक में छप चुका है। यह बात आप को पहले के विज्ञापन में हम दे चुके हैं। आपके साधुओं की प्रतिष्ठा तो उसी वक्त भंग हो चुकी है। फिर आप ऊँचा शिर उठाने की हिम्मत क्यों करते हैं, यह मालूम नहीं होता।

चर्चा के चैलेंज से तो सुज्ञ पाठक सोच सकते हैं। तथा उससे साफ प्रकट है, कि लेखक ने लोभी, लालची, टुकड़ों के मुहताज, जैन-धर्मद्रोही, व देशद्रोही, आदि, आपको तथा आपके झूँठे विज्ञापन दाताओं ही को बताया है, न कि इन्दौर-निवासी आपके और अन्य समाज के लोगों को। लेकिन यह आपकी धूर्तता है, जो ऐसी निर्मूल बातें लिख कर दूसरे के हृदयों को भी बहकाते हैं। परन्तु यह आप विश्वास रक्खें, कि अब जनता ऐसे धूर्त लेखों व लेखकों के धोखे में

आ

आपके कपोल कल्पित दोषों का प्रतिवाद कई

पर भी शास्त्रों से अनभिज्ञ होने के कारण,

और,(३) तीसरा नामधारी किसी मुनि मणिसागर के नाम से छपा हुआ, इस तरह तीन विज्ञापन आये हैं। उनमें "अन्धा बाँटे-रेवड़ी और फिर फिर आपहिं देय" की कहावत के अनुसार, अपनी विद्वत्ता और पवित्रता के आगे दूसरों को हेच बतलाया गया है। अस्तु। हमारी राय में तो श्रीसंघ इन्दौर को इस ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए। क्योंकि किसी ने कहा है —

क्या, श्वान, शब्द पर ध्यान गजेन्द्र लगाते।
कविराज आप के चरित न जाने जाते॥

और जिन लोगों की ख्वाहिश शास्त्रार्थ करने की हो, उनको हम सूचना देते हैं, कि शास्त्रार्थ के लिए हम कब दूर हटते हैं। यदि तुम्हें शास्त्रार्थ करना मजूर हो, तो अपनी सम्प्रदाय के किन्हीं विद्वानों को तैयार करो। हम हर समय तैयार बैठे हैं। लेकिन तुम्हारे ऐसी जो अपवित्र आत्माएँ हैं, उनसे हमारी पवित्र आत्माएँ नहीं मिलेंगी।

प्रकाशक।"

C P.

C P. M.

इस प्रकार का विज्ञापन निकलने पर, दण्डीजी का अनुयायी सूरजमल नाहटा भड़का। वह लोगों को भ्रम में डालने लगा। इतना ही नहीं, मिथ्या बातों से पूरित एक हैंड-बिल भी उसने निकाला। उसके उत्तर में श्वेताम्बरी स्थानकवासी जैनियों की ओर से निम्नलिखित रूप से उत्तर दिया गया। और सर्व साधारण में भी वह वितरण करवाया गया—

"खरतरगच्छीय दण्डी मणिसागर व उनके अन्ध श्रद्धालु भक्त

सूरजमल नाहटा को सूचना।

आपके उक्त विज्ञापन में, प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री चौथमलजी महाराज के भक्तों ने चर्चा का आमन्त्रण दिया, यह लिखा है। सो न तो

आप जैसी अपवित्र आत्माओं को चर्चा का आमन्त्रण ही दिया है, और न वे आप जैसे अयोग्यों से किसी प्रकार की कोई चर्चा ही करना चाहते हैं।

चर्चा का चैलेंज इन्दौर के किसी एक गृहस्थ का नहीं है। परन्तु वह किस का है, यह आप आँख खोलकर देखेंगे, तो मालूम हो जायगा। अगर आपको जो चर्चा करवानी ही हो, तो पहले अपने समाज के विद्वानों को तैयार करके, 'चर्चा का चैलेंज'—दाता से पत्र व्यवहार कीजिए। पत्र-व्यवहार करने से चैलेंज-दाता की "बाललीला" का भी अनुभव जन साधारण को हो जायगा। अपने आप मियां-मिट्ठू बनने से हार-जीत का पता नहीं लग सकता।

मुँहपत्ति के बारे में शास्त्रार्थ पूर्णतया हो चुका है। और आपके पीताम्बरी साधु हार भी चुके हैं। जिसका कुल ब्यौरा नागा से प्रकाशित 'मुँहपत्ति-चर्चा' नाम की पुस्तक में छप चुका है। यह बात आप को पहले के विज्ञापन में हम दे चुके हैं। आपके साधुओं की प्रतिष्ठा तो उसी वक्त भंग हो चुकी है। फिर आप ऊँचा शिर उठाने की हिम्मत क्यों करते हैं, यह मालूम नहीं होता।

चर्चा के चैलेंज से तो सुज्ञ पाठक सोच सकते हैं। तथा उससे साफ प्रकट है, कि लेखक ने लोभी, लालची, टुकडों के मुहताज, जैन-धर्मद्रोही, व देशद्रोही, आदि, आपको तथा आपके झूँठे विज्ञापन दाताओं ही को बताया है, न कि इन्दौर-निवासी आपके और अन्य समाज के लोगों को। लेकिन यह आपकी धूर्तता है, जो ऐसी निर्मूल बातें लिख कर दूसरे के हृदयों को भी बहकाते है। परन्तु यह आप विश्वास रक्खें, कि अब जनता ऐसे धूर्त लेखों व लेखकों के धोखे मे नहीं आ सकती।

मुँहपत्ति विषयक आपके कपोल कल्पित दोषों का प्रतिवाद कई बार कर दिया गया है। तिस पर भी शास्त्रों से अनभिज्ञ होने के कारण,

आपकी अन्धश्रद्धा दूर नहीं हुई। यह आपके ज्ञानावरणी कर्मों का फल है। एक वार और प्रयत्न करके निम्नलिखित पुस्तकों का अवलोकन आप करें, ताकि शायद इस वार आपका भ्रम दूर हो जाय। 'मिथ्यात्व निकंन्दन-भास्कर', 'दण्डी-दम्भ-दर्पण', 'ज्ञान-दीपिका', आदि।

आपने लिखा, कि मुँहपत्ति विषयक विवाद अनेकों वखत चलता है। परन्तु निर्णय होता नहीं। इसलिए हमेशा का बखेड़ा मिटाने के वास्ते, इन्दौर शहर में इस बात का पूरा पूरा निर्णय अवश्य होना चाहिए। मुँहपत्ति विषयक निर्णय तो जैन-शास्त्रों से साफ ही है। परन्तु आप असली व प्राचीन जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ हैं। इसलिए ही आप सरीखे आत्माओं के द्वारा, ऐसे वितण्डावाद और व्यर्थ के विवाद खड़े होते हैं। अत पहले श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों को प्राप्त कर उन्हें देखिए। व फिर भी समाधान नहीं हो, तो समस्त भारतीय (आल इण्डिया) पीताम्बरी दण्डियों तथा उनके अनुयायियों के द्वारा, प्रतिनिधि चुने जा कर, उनके हस्ताक्षर प्रकट कीजिए, ताकि पीछे से यह मानने में कोई उज्र नहीं होगा, कि आपकी हार-जीत का निर्णय सर्व मान्य होगा। क्योंकि, हमें शक है, कि आपकी मान्यता आपके गच्छ में है, या नहीं।

नोट—जब तक ऑल इण्डिया के पीताम्बरी दण्डो व उनके अनुयायी आपको प्रतिनिधि न चुन लें, तब तक आप का वाद विवाद के लिए उत्सुक होना व्यर्थ है।

हस्तीमल राजमल नाहटा
छोटा—सराफा
इन्दौर सिटी"

दण्डोजी को समय समय पर कई वार सूचना दी गई थी, कि सब की सम्मति और उसके द्वारा विज्ञापन शास्त्रार्थ का आप निकालिए। श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रार्थ करने के लिए बिलकुल

तैयार हैं। तथापि, दण्डीजी ने इस बात का पहले तो टालमटूल किया। फिर जान पड़ता है, बिलकुल भुला ही दिया। अब तो बिना ही सब की सम्मति और सहानुभूति के तथा बिना ही उनके माफ़त चौथा विज्ञापन भी निकल गया। उसमें, दण्डीजी ने अपने दम-भर पवित्र और योग्य बनने की चेष्टा की। पर यह काठ की हाँडी एक बार पहले परखी जा चुकी थी। जनता ने इसे अब किसी भी रूप में अपने सामने देख कर, दुबारा चढ़ाने की चर्चा तक न की। जनता आपकी योग्यता को पहले ही देख चुकी थी। वह, अनुमान, अनुभव, अवसर के अधिकारों, आदि से आपकी योग्यता को अच्छी तरह आँक चुकी थी। जिस समय भाई मनसुखलाल ने दण्डियों के घृणित कार्यों की आलोचना की थी, आलोचना ही क्यों, सप्रमाण आलोचना की थी, समय तो तब था, जब कि आप अपनी विद्वत्ता के द्वारा, उसका उचित उत्तर देकर, अपनी पवित्रता जगत के सम्मुख रखते, उत्तर दिये बिना ही आपको उस समय नगर छोड़ कर, भाग न निकलना था। क्या, उस दिन की बात को आप भूल गये ? जो साहस करके फिर सामने आ रहे हैं। जरा याद रखिए, "मानो हि महता धनम्" अर्थात बड़ों का धन तो वास्तव में मान ही होता है। फिर, यदि आप कह पड़ेंगे कि हम तो साधु हैं, हमें मान-अभिमान, राग-द्वेष, आदि द्वन्द्वों से कैसा सम्बन्ध ? तब तो हम आपसे यह पूछे भी कदापि न रहेंगे, कि क्या आपको अपनी साधुता का भी अभिमान नहीं है ? आपकी उस साधुता में, क्या खुद आप तक को भी कोई सन्देह है ? तब तो फिर आप अपने ही मुख के न्याय से, अपनी पूर्ण रूप से हार स्वीकार किये लेते हैं, आपसे चर्चा करने की हमारी, हमारी ही क्या, किसी की भी, कोई नाम तक को भी जरूरत नहीं रह जाती है। अस्तु।

दण्डीजी! आपने अपने ग्रन्थों में मूत तक पीना अंगीकार किया है। और वह भी अनिष्ट तथा निकृष्ट जातियों के जीवों तक का

धर्मान्धता की हद हो चुकी। ऐसे ही कारणों से तो, आप सरीखे ज्ञान दुर्विदग्ध लोग, जैन धर्म को धराधाम से धक्का मार मार कर उठा रहे हैं, और ओसवाल जाति की लीपा-पोती अवनि-मण्डल से कर रहे हैं। फिर इस धर्म को तथा ओसवाल जाति को दूषित करना तो आपके सरीखे प्रतिभासम्पन्न (?) पुरुषों के बाँये हाथ का खेल है। दण्डीजी! ऐसे अशुद्ध कदाचार को छोड़िये! अपनी ऐसी ऐसी काली करतूतों से, जिनेश्वर भगवान् और उनकी दिव्य वाणी को, प्रमाण रूप में, पाठान्तर और अर्थान्तर के रूप में जनता के सम्मुख रखते हुए, गँदली करने का गर्हणीय कृत्य और प्रयत्न, न कीजिए। अपने व्यवहार में विशुद्धता लाइए। पीले वसनों को, किस आगम की आज्ञानुसार, और प्रमाण को पास रखते हुए आप पहनते हैं, या तो इस को आप साबित कीजिए, या नहीं तो स्वयं इन्हें उतार फेंकिये। वास्तव में ये योग्यता और अयोग्यता को, जगत् को जनाने की रीतियाँ हैं।

दण्डीजी को डंके की चोट कहा गया था, कि यदि चर्चा ही आपको चलानी अभीष्ट है, तो अपने सम्प्रदाय में से आप पहले किसी विद्वान् और योग्य तथा अनुभवी दण्डी को, जो अग्रसर हो, शास्त्रार्थ के लिए, तैयार कीजिए। जब यह तैयारी होजाय, तब सब की सम्मति, और सहानुभूति से उसे साथ रखते हुए, विज्ञापन निकालिये। परन्तु दण्डीजी ने इसमें से कोई एक काम करना भी स्वीकार नहीं किया। संसार में जो भी कुछ स्थायी काम नजर आता है, उसकी जड़ में, कर्ता का अमर आत्मिक बल तो काम कर रहा है। पशु-बल (शरीर-बल) की पूछ, केवल पशु नामधारी लोगों ही में हुआ करती है। अन्त में, एक न एक दिन उसे पछाड़ अवश्य खानी पड़ती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार दण्डीजी में आत्मिक-बल का तो अभाव था ही। उनके हृदय में तो, बिना आत्मिक-बल को अर्जित किये ही, शास्त्रार्थ करने की ओट में, विज्ञापनबाजी करने-करवाने के पशुबल से, नाम कमाने की लगन लगी

हुई थी। परन्तु पशुबल से भी कहीं ऐसी ऊँची इच्छाएँ कभी पूरी हुई हैं ? असम्भव ! अतः कहना होगा, कि दण्डीजी को बताये गये हमारे कामों में से, किसी की भी पूर्ति का श्रीगणेश तक न होने पर, दण्डीजी के हाथ में जो मुँहपति को रखने की प्रथा है, वह सप्रमाण और प्रत्यक्ष झूँठी साबित हो जाती है। और सब यही कहना रह जाता है, कि मुँहपत्ति को उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार, जो मुँह पर बाँधने की प्राचीन, प्रामाणिक और सर्व-मान्य प्रथा है, वही सैद्धान्तिक रूप से सच्ची और सौटची सुवर्ण के समान मूल्यवान भी है।

देखिए दण्डियों का मिथ्या-प्रलाप।

प्रेमी पाठको ! नाभाशहर में, श्वेताम्बरी स्थानकवासी जैनियों की तथा दण्डियों और उनके अनुयायियों में जो गरमागरम चर्चा हुई थी, और उसमें प्रथम पक्ष के लोगों की, अर्थात् श्वेताम्बरी स्थानकवासी जैनियों की जो जीत हुई थी, उसका फैसला, ज्येष्ठ सुदी ५ संवत् १९६१ विक्रमीय को सुनाया गया था। और उसे उसी दिन, गुरुमुखी लिपि और भाषा में, दुर्गा प्रेस में छपवा कर, श्रीमन्त नाभापति महाराज ने, प्रकाशित करवा दिया था। इस फैसले को दण्डियों के विरुद्ध समझ कर इनके एक प्रसिद्ध पत्र-प्रकाशक ने भी महाराजा नाभा को अट शट शब्द अपने पत्र में लिख कर उस फैसले की और भी पुष्टी कर दी है जिससे आबाल-वृद्ध सभी जन साधारण परिचित होंगे।

जब दण्डी लोगों को अपनी पराजय हुई जान पड़ी, तब भी वे लोग, "चित्त पड़े तो भी नाक हमारी ऊपर ही है" के नाते दूसरा नया फैसला तैयार करवाने की, जिस तरह से भी बन पड़ा भगीरथ प्रयत्न, श्रम, समय, शक्ति और सम्पत्ति को अपने अधीन रख, तथा अपने हाथों उन्हें ले, जुट पड़े। प्रथम चर्चा होने के अठारह उन्नीस मास के पश्चात, जैसे-तैसे नया फैसला तैयार करवा कर प्रकाशित करवाया गया। परन्तु दण्डियों की भी बेकार सिद्ध हुई।

दूसरा फ सला भी तो बेचारे दरिडयों के विपरीत ही दिया था। "एडीजी! यदि हमारे कथन मे आपको विश्वास न हो, तो "नाभा-शास्त्रार्थ" और "पीताम्बरी-पराजय" आदि पुस्तकों में क्या लिखा है, जरा आँखें खोल कर देख लीजिए। उसका संक्षिप्त विवरण यों है —

नाभा—मुँ-ह-प-त्ति च-र्चा।

"श्रीयुत वल्लभ विजयजी महाराज को, चर्चा के लिए, श्रीमन्त नाभा-नरेश ने, आमन्त्रित किय है।" दरिडयों ने इस प्रकार प्रकाशित करवाया है, वह बिलकुल थोथा और असत्य तथा सार हीन है। बात इसके विरुद्ध दर असल यह थी, कि वल्लभ विजयजी ने चर्चा के लिए श्रीयुत नाभा-नरेश के सम्मुख जाकर स्वय प्रार्थना की थी। नरनाथ उनकी प्रार्थना को स्वीकार तो नहीं कर रहे थे, और कई बार इन्कार भी कर दिया था, परन्तु अन्त मे, अत्याग्रह के कारण उन्हें उसे स्वीकार कर लेनी पडी। मध्यस्थ के रूप सात पण्डित मुकर्रर हुए। वल्लभविजय जी और उदयचन्दजी ने चर्चा आरम्भ की खासा वादानुवाद हुआ। अन्त मे, नाभा-नरेश ने मध्यस्थों की सम्मति और सहानुभूति से, मिति ज्येष्ठ शुक्ल ५ के रोज, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की जीत के पक्ष में, नीचे लिखे अनुसार फैसला दिया —

"शिवपुराण मे जो कुछ जैन धर्म के बारे में मीमासा की गई है, वह ढूँढियों के मतानुसार है, और उदयचन्दजी महाराज ने जो शास्त्रार्थ किया, वह यथार्थ है। शिवपुराण में जैनियों के जो चिन्ह लिखे हैं, वे सब के सब इस समय ढूँढिये साधुओं में पाये जाते हैं।" यह फैसला गुरुमुखी लिपि और भाषा म था। जो नाभा-नरेश के द्वारा, दोनों पक्षों के मध्यस्थों और साधुओं के सम्मुख सँभलाया गया था।

फैसला देने की रीति भी तो यही है। कैसा ही फैसला क्यों न हो, वह दोनों पक्षों या उनके मध्यस्थों के सम्मुख ही सँभलाया गया

होना चाहिए। फैसला, एक पक्ष की मौजूदगी में, फिर चाहे दोनों पक्षों के मध्यस्थ चाहे हो ही नहीं, कभी गुपचुप किसी के पास नहीं भेजा जाता। जैसे कि यहाँ पर, जिस नये फैसले की चर्चा हमारे दण्डी लोग अकसर किया करते हैं, वह तो गुपचुप, और वह भी तब, जब कि दोनों पक्ष के कोई भी मध्यस्थ मौजूद नहीं थे, वल्लभविजय के नाम भेजा गया था। पर पाठको! जहाँ ये दण्डधारी और उनके अन्ध श्रद्धालु भक्त लोग इस नये फैसले की बात को उठाते हैं, वहाँ यह फैसला किसी चर्चा-विषयक नहीं था। क्योंकि, दुबारा तो नाभा में कोई चर्चा हुई ही नहीं। दुबारा न तो किसी पक्ष वालों ही को, बुलाया गया। न सवाल जवाब ही किसी ने किसी के सम्मुख कहीं माँगे। फिर, फैसला किस बात का? जिस बात की जड़-मूल तक नहीं, जिसका पाने में और पोथा में कहीं नाम तक नहीं पाया जाता, उसे ये हिये के अन्धे और बुद्धि के दिवालिया लोग शास्त्रार्थ के नाम से पुकारें, और लल्लो पत्तो से पाये गये दुबारा के गुपचुप के पत्र को फैसला कहें। गजब का इनका साहस और साधु-धर्म है! मूल के बिना शाखा और फल फूल? सात मध्यस्थों में से केवल तीन ही मध्यस्थ और दूसरे बिराने नये मनुष्यों के हस्ताक्षर का नया फैसला, फैसला नहीं, खुशामद-पत्र, लगभग विगत अठारह माह की गिडगिड़ाहट और चाटुकारी से विवश हो कर, तथा ऐसे नामधारी साधुओं से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए, सिर्फ वल्लभविजयजी के नाम गुपचुप लिख भेजा गया। इसमें न तो नाभा-नरेश ही के कहीं दस्तखत हैं, और न सातों मध्यस्थ लोगों ही की सही का कहीं पता है। इससे यह, या तो एक प्रत्यक्ष बनावटी पत्र; जिसने फैसले का नाम धारण किया, हो सकता है, या जिन तीन सज्जनों के हस्ताक्षर उस पर पाये जाते हैं, उन्हें भला-बुरा, ऊँचा-नीचा समझा-बुझा के, या किसी प्रकार का लालच प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देकर के, उनसे लिखा लिया गया हो, ऐसा साफ साफ प्रतीत होता है।

पवित्र-हृदय, किन्तु मूर्ख कहलाने वाले, एक बालक को भी इस में सन्देह हो सकता है।

वाद-विवाद के अर्थ यदि चन्द मिनिटों के लिए यह मान भी लें, कि यह दुबारा प्राप्त किया हुआ फैसला सच्चा है। तो भी अन्त में तो वल्लभ-विजयजी ही की पराजय विवश हो कर माननी पड़ती है। पाठक यदि देखना चाहें तो देख सकते हैं, कि सात मध्यस्थों में से, जो पहले के थे, चार तो इस बार, भिन्न मत होने के कारण या उन्हें ज्ञान न होने देने के कारण, इस फैसले में शामिल ही नहीं हो पाये। शेष तीन रहे। फिर, मत (Votes) की अधिकता या न्यूनता हो पर, किसी वाद-ग्रस्त विषय का फैसला फैसल किया जाता है या वह अमान्य समझा जाता है। इसी नियम के अनुसार, यदि दूसरे फैसले का विचार किया जाय, तब भी वल्लभ विजयजी हार ही में रहते हैं। क्योंकि, मत की गणना के अनुसार—

कुल व्होट्स	मुनि उदयचन्दजी के पक्ष में	वल्लभविजयजी के पक्ष में
पहिली बार ७	७	०
दूसरी बार ७	४	३
कुल जोड़ १४ (चौदह)	११ (ग्यारह)	३ तीन सिर्फ

यों कुल चौदह मत में से ग्यारह तो मुनि श्री उदयचन्दजी की तरफ और सिर्फ तीन वल्लभ विजयजी के पक्ष में रहे। इससे प्रत्यक्ष से प्रकट हो जाता है, कि विजय ने मुनि उदयचन्दजी को वरा और यों श्वेताम्बरी स्थानकवासी लोगों ही की जीत हुई। और वह भी एक बार नहीं; परन्तु दोनों बार।

दूसरे वक्त के फैसले की बात खास करके एक विचित्रता की ओर अपने पाठकों के लक्ष्य को खींचती है। और यों, वह काठियावाड़ के पुराने जमाने के एक वकील के द्वारा कही गई बात को स्मृति को

चित्र नं० ६

केवल परिचय के लिये



यह चित्र " चित्रशाला प्रेस पूना " से प्रकाशित " सचित्र अक्षर लिपि " का है इसमे उक्त प्रकाशक ने बच्चों को " य " अक्षर का बोध कराने को जो " यति " का चित्र दिया है उसमेंभी यति के मुख पर ही मुखवस्त्रिका बंधी हुई है।

जैन प्रेस " में छपा।

जागृक कर देती है। वह एक अपील के हक़ की बात थी। किसी एक भोले-भाले ग़रीब मनुष्य ने एक बार एक वकील से यह शर्त की थी, कि जो मैं जीत जाऊँगा, तो अमुक अमुक रक़म बतौर बख़शीस के आपको मैं दूँगा। वकील झूँठे मुक़द्दमों को बहाल करने-कराने में बड़ा ही चलता-पुरज़ा था, वह किसी भी प्रकार से अपने मवक्किल को जिताने में बड़ा ही प्रवीण और ज़बर्दस्त था। जैसे कि आजकल धर्म की चर्चा के मिस कितने ही मुनि लोग परायों की निन्दा करने में पारगत और पूरे बने-ठने होते हैं। इस गरीब के मामले में सुबूत की कमी थी। मामला सीधा न बैठा। बेचारा गरीब हार गया। परन्तु अन्त को चाहे कुछ भी हो, किसको गरीबों की पर्वाह पड़ी है। मामला बिगड़ जाने पर भी उस वकील ने अपने मवक्किल से कहा, "बाबू! इनाम! इनाम लाओ, इनाम!! सब तरह का, पर पक्ष के लोगों ने, अपने को हराने का प्रयत्न कर लिया था। परन्तु फिर भी तो मैं तुम्हारी तरफ का वकील था। जो भी मुक़द्दमा अपन हार गये हैं, तब भी 'अपील का हक़' मैंने तुम्हारे लिए बिलकुल सुरक्षित रक्खा है। एक मात्र अपील का हक़ ही तुम्हारे पास मैंने इतना ज़बर्दस्त रख छोड़ा है, कि वह जीतते हुए भी मन मारता है, और मन ही मन पछताता है। यदि सामने वाला मरे बैठे हुए तुम्हारी अपील का हक़ ही ले लेता तो फिर वकील ही मैं किस नाम और काम का था।' बस, ठीक यही मसल नाभा के केस में [illegible] ने वल्लभविजयजी के लिए कर दिखाई। नाभा के फ़ैसले [illegible] पर भी वकील ने विरुद्ध पक्षी को अपील का हक़ दिलाया। इसलिए थोड़ी देर के लिए, अपने मन को सँभालने के लिए, यदि [illegible] अपनी झूँठी जीत ही समझते, तो इस में विजेता पक्ष का [illegible] प्रतिपक्षी को ऐसी ही जीत सदा मुबारिक हो। इसके आगे के पर सही करने वाले महाशय लिखते हैं, कि "फ़ैसला हो जाने देने के बाद श्वेताम्बर स्थानकवासी लोगों ने कोई झगड़ा ...

इसलिए उनका पक्ष खोटा है। टकसाली सौटची सोना नहीं। बावन तोला पाव रत्ती नहीं।" ऐसा हम मानते हैं। वाह! तर्क शास्त्र तो क्या ही अच्छा और तअज्जुब से भरा हुआ है! धन्य, आपकी विद्वत्ता और विवेकशीलता!! पर हम, जनाब फैसला-फैसल करने वाले महाशय से पूछते हैं, कि अजी! महाशय, दलीलें पेश करना हारी हुई पार्टी का काम है, या जीते हुए पक्ष का? कोई भी पक्ष जब मध्यस्थ किसी काम के लिए नियत कर देता है, तब फिर दस्तन्दाजी देने का उसे अधिकार ही क्या रह जाता है? उसकी सम्पूर्ण शिष्टता, सौजन्यता, सभ्यता, और सचाई तो इसी बात में है, कि वह बोले एक अक्षर भी नहीं। विपरीत इसके, मध्यस्थ जो कुछ फैसला उसे दे दें, जो कुछ इन्साफ उसके लिए कर दें, उसी से वह अपना मन मनावे, तबियत की तसल्ली करे। और यही काम श्वेताम्बरी स्थानकवासियों ने किया, कि सातों मध्यस्थ और नाभापति महाराज ने, मिल कर, जो कुछ भी फैसला दे दिया, उसी को उन्होंने सहर्ष ले लिया, और तब न्यायानुसार उन्हें बोलने का कोई हक न रह जाने के कारण, वे चुप हो रहे। फिर, फैसला जब उन्हीं के पक्ष मे हुआ, तब दलीलें पेश करने से उन्हें कोई काम ही क्यों रहा? खड्डा खोदने वाला यदि भाग्यवश खड्डे मे धड़ाम से जा गिरे और अपने हाथ-पैरों को तोड बैठे, तो दवा लेने का और दवा के इन्तिज़ाम करने का काम उसका है, या जो उसे हाथ पकड़ कर बाहर निकाले, दवा लेने की जरूरत उसको है?

'पीताम्बरी-पराजय' के प्रसिद्ध कर्त्ता के नीचे के कुछ शब्द खास ध्यान देने योग्य हैं। वे लिखते हैं, कि (अर्थात् पीताम्बरी लोग ... हैं, कि)—"हम जीते, हम जीते।" परन्तु क्या वे हमारे (लेखक लिखित प्रश्नों के उत्तर देने की कृपा करेंगे?

(१) क्या, जब नाभा-नरेश ने उन्हें टोपी पहना कर, मुँह पर मुँहपत्ती बाँधने की खास जरूरत समझाई थी, तब भी क्या आप (पीताम्बरी लोग) ही जीते थे?

(२) जब महाराजा साहब ने स्वय वल्लभविजयजी से कहा था, कि "इस भाँति आप भी मुँह पर मुँहपत्ति को बाँध ल।" तब भी क्या विजय-वैजयन्ती आप ही (पीताम्बरी लोगों ही) के गले में पहनाई गई थी ?

(३) जब नाभा-नरपति ने वल्लभविजयजी को सम्बोधित करते हुए कहा था, कि "सुनो बाबा ! 'मूर्त्ति तो कभी सिद्ध नहीं हुई, और न होती ही है, इसका तो सभी लोगों ने खण्डन किया है।" तब भी क्या आप ही (पीताम्बरी लोग हो) जीते थे ?

(४) जब नाभा-नरेश ने वल्लभविजयजी से कहा था, कि "आप अपने सारे कपडों को या तो लाल रँग के रखिए, या सबके सब एक दम श्वेत रँग ही के हों। परन्तु पीले वस्त्र तो आप साधु नाम धारियों को कभी न रखना चाहिए ? तब भी क्या पीताम्बरी लोगों ही को विजय का परवाना मिला था ।

(५) जब नाभा-नरेश को ज्ञात हुआ था, कि वल्लभविजयजी अपनी सरकार (नाभा-सरकार) की निन्दा करते हैं, तब उन ने एक बार कहा था, कि "ये लोग अपना मैल धोते हो, इन्हें धो लेने समय एक राज-कर्मचारी ने महाराजा "इन सवेगी साधुओं को और इनके ऐसे देना चाहिए।" उस समय भी क्या फतहमन्द हुए थे ?

और (६) गुप्त रीति से फ लिया गया। उसे भी सात मध्यस्थों ने ही जीते थे ?

'हम जीते' सकती है, जितनी

किया और उनसे वार्तालाप करके सरकार को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।" इस कथन का सच और तथ्यपूर्ण होना। कहने का आशय यह है, कि दोनों बाते निरी गलत हैं। क्योंकि, नाभानरेश ने तो यहाँ तक कहा था, कि "हम इन ऐसे सवेगो पुरुषों के दर्शन तक करना नहीं चाहते।"

आगे चल कर हमें जब विश्वस्तसूत्र से, किन्तु खानगी,तौर जो समाचार मिले हैं, उनसे ज्ञात होता है, कि जब शास्त्रार्थ के समय स्वामी उदयचन्दजी महाराज की ओर से वल्लभविजयजी को सवाल किये गये थे, उस समय उन्हें सुन कर नाभा-नरेश तथा मध्यस्थ लोगों ने वल्लभविजयजी का, उनके मुँह ही पर, उन लोगों के आचरण की निन्दा करते हुए, बड़ा ही अपमान किया था। कुछ भी हुआ हो। पर हुआ वल्लभविजयजी का अपमान था, और उन्हें हर समय वहाँ नीचा देखना पड़ता था।

पाठको! कुछ भी हो, अन्त में तो एक मुनि, मुनि ही होता है। वह इस नश्वर जगत् के सम्राटों का भी सम्राट् होता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने श्रीमद्भगवद्गीता में 'मुनि' शब्द की व्याख्या यों की है——

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः।
वीत-राग-भय-क्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥"

—श्रीमद्भगवद्गोता, अध्याय २, श्लोक ५६।

अर्थात् जिसका मन दुःख के समय दुखी नहीं होता, सुख के समय सुख भोगना नहीं चाहता, जो किसी भी प्रकार के राग, भय और क्रोध से बिलकुल रहित है, वही स्थित-प्रज्ञ 'मुनि' कहलाता है।

तब फिर वह मुनि पद का अधिकारी पुरुष यहाँ के साधारण राजा महाराजाओं को क्यों मुजरा करने चला? उनके आने पर वह उठक-बैठक भी क्यों करने लगता? वह तो, देवता भी यदि एक बार

नहीं, सौ बार, सामने से हो कर निकल जाय, कभी उठेगा नहीं, और न कभी उन्हें नमन ही करेगा। यदि वह इस के विपरीत करता है, तो सचमुच में अभी वह केवल थोथा नामधारी मुनि है, मुनि पद और मुनि अवस्था दोनों का अपमान और हत्या करने वाला वह हत्यारा है। अत. जितना भी जल्दी हो सके, उसे या तो अपने बाने और पद की लाज रखने के लिए अपने अधिकारों और कर्तव्यों को कार्यों के रूप में बदल देना चाहिए। अन्यथा उसे अपने बाने और पद को छोड़ कर, अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति के अनुसार किसी अन्य पद को अपना लेना चाहिए। यदि वह यों, करने पर भी उतारू नहीं है, तो वह जगत् को लूटने हारा डाकू है, वह पूरा पूरा वञ्चक है, उस ने अभी मुनि-अवस्था के मान और महत्त्व को तनिक भी नहीं समझा है। यही अवस्था नाभा-नरेश के सामने, ठीक ठीक रूप से, वल्लभ विजयजी की थी। जब जब महाराजा साहब सभा में आते, उस समय एक ओर जहां उदयचन्दजी न तो उन्हें कभी उठ कर ताजीम ही देते और न कभी नमन ही उन्होंने महाराजा के प्रति किया। वहीं वहीं दूसरी ओर वल्लभविजयजी हर समय महाराजा साहब के आने पर उठते रहते, समय असमय नमन करते, और कई बार प्रार्थना तक कर बैठते, कि अभी तक मेरा इन्साफ नहीं हुआ।

पाठको! यह हुआ 'नाभा-मुँहपत्ति-चर्चा' का संक्षिप्त इतिहास। इसमें कोई भी विचारशील पाठक भली भाँति समझ सकता है, कि 'प्रभावकपणे' की लालसा का क्या विघातक परिणाम होता है। एक वैष्णव राजा के पास जैनी लोग, और वे भी एक फर्यादी के रूप में और साधु नामधारी ? पाठको! लानत है, इस ऐसी सत्यानाशी साधुता पर! इन ऐसे ही वितण्डावादी, बुद्धि के अचड और शास्त्र-ज्ञान के दीवाले लोगों के कारण, हमारे जैन-पद और जैन-धर्म का ह्रास अहर्निश हो रहा है। हमारी सद्-विद्या, सद्-भावनाओं और सन्त-मण्ड

लियों का पद पद पर लोप जगत् में हो रहा है। इन्हीं स्वार्थी, इन्द्रिय लोलुप, साधुओं ने लोगों के पवित्र मन को मैला किया है। स्थान स्थान पर पराजित तो होते हैं ये, और अपमान और अनादर होता है समाज का; वह पराजित हुआ माना जाता है। ऐसे समय समाज और धर्म के परम प्यारे और प्राण पुरुषों का यह पवित्र कर्तव्य और धर्म होना चाहिए, कि वे ऐसे लोगों के कारण, जो समाज और धर्म का भगीरथ रूप से ह्रास हो रहा है, उसे बचावें, उनकी रक्षा करें। उनकी रक्षा ही मे देश, समाज और उनकी, वास्तविक उन्नति का प्रश्न और उत्तर है।

पाठको! नाभा शहर में दण्डियों ने यों अपने मुँह की खाई। सब प्रकार से उनकी हार हुई। तब भी आज तक वे लोग, भोले-भाले लोगों के सामने, यह कहते सुनाई देते हैं, कि "नाभा मे तो हम ही लोग जीते थे।"

पाठको! इनके इस कथन पर, हमें अम्बाला के मूर्तिपूजकों की याद आ जाती है। और वह हमें उस बात का स्मरण दिलाती है, कि एक बार उन लोगो पर कोर्ट में मुक़द्दमा चला। गवाहियाँ हुई। मुक़द्दमा फ़ैसल, अन्त में, उनके विरुद्ध हुआ। कोर्ट ने ५) पाँच रुपये का जुर्वाना उन पर किया। परन्तु इस जुर्वाने का परिणाम जहाँ उन लोगों पर बुरा होना चाहिए था, वहाँ उनके साहसी होने से, उन्होंने उलटी खुशी वहाँ मनाई और बाजे बजवाये। और यों उन्होंने लोगों को अपनी सब प्रकार से हार होते हुए भी जीत ही की धूम-धाम और ठाट-बाट की चहल-पहल दिखाई। कहिए, क्या, यह समय दर अस्ल खुशी मनवाने का था? या खेद प्रकट करने का था? जुर्वाना देने वाला भी जीता हुआ माना जाय, यह न्याय तो हमें इन लोगों ही में दीख पड़ा। परन्तु, यह बात तो एक मूर्ख से भी मूर्ख, एक उजड्ड से उजड्ड और साधारण बच्चे तक से भी पूछी जाय, कि—"... हार मानी जानी चाहिए, कि जीत?" तो वह भी...

तो सचमुच में हारा हुआ है, और जभी तो वह दण्ड देने पर आमादा हुआ है। फिर तो यह उसी पहलवान वाली मिसाल घटी, जिसको कुश्ती में पर पक्ष के पहलवान ने धड़ाम से पृथ्वी पर दे मारा और चित कर दिया। जब हारे हुए पहलवान जी अपनी माता के सम्मुख आये, तो अपनी बहादुरी की शेखी बड़ी ही विचित्र रूप से बघारने लगे। वह अपनी माता से कहने लगे, कि-माँ! आज मैंने फलाँ फलाँ पहलवान को ऐसा गिराया, कि उसके होश खट्टे हो गये, और वह इतना शर्मिन्दा हुआ, कि शर्म के मारे जमीन की ओर ताकने लगा! परन्तु उसके विपरीत मैं तन कर के आकाश की ओर देखने लगा! अस्तु।

पाठको! बस, उपर्युक्त मिसाल की मनशा के अनुसार, दण्डी लोग चाहे घर घर और दर दर यह कहते रहें, यह ढिंढोरा गाँव गाँव और गली गली में जा कर वे पीटते फिरें, कि "हम जीते!" परन्तु सज्जनो! दण्डी लोगों की जैसी कुछ जीत हुई है, उससे थोड़े बहुत रूप से, हमारे पाठक गण, ऊपर के कथन को पढ कर, जानकार हो ही गये होंगे। इतने पर भी यदि कोई दण्डी लोग अपनी बेहयाई से बाज न आवें, तो वे चाहे जैसा कहते रहें और मानते रहें। क्योंकि उनके मुँह और उनके मन के सर्व सर्वा मालिक तो अन्त में वे ही हैं। परन्तु जबान की इस बढ़ी हुई स्वच्छन्दता और सूरेपन से, उनके पाप का प्रायश्चित्त कभी कभी बेचारे कपाल को, बड़ी ही बुरी रीति से करना पड़ता है। किसी ने कहा है,—

"जबान है तू बावली, गावै आग जँजाल।
तू तो भीतर बैठती, जूते खाय कपाल॥"

अत दण्डधारियो! जगत् को धोखे में न डालिए। झूँठ और फरैबी से अब भी मुँह मोड़िये! अब जगत् आपके ऐसे ऐसे महा महिमान्वित (?) कामों को चर्म चक्षुओं से नहीं, वरन् हृदय की आँखों से भी अनुभव द्वारा देखने लगा है।

पाठको ! नाभा के फैसले को आदि से अन्त तक संक्षिप्त में, आप ने पढ लिया । और, उससे आप ने यह जान लिया होगा, कि कौन जीते और किसके गले मे हार ने अपना हाथ डाला । नाभा पति की सही का असली फैसला तो आज भी अपने मुँह बोल रहा है, कि "नाभा में दण्डियों को बड़ी ही बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी ।"

दण्डियों के घर के भेदू से वार्तालाप करते हुए मालूम हुआ कि, उन के प्रति की हुई नाभा की निन्दा को, वे यदि खूनकी घूँट की भाँति पी भी जाँय, तो भी दूसरे ही क्षण, वे चट कह पड़ते हैं, कि 'नाभा में यदि हमें नीचा देखना पड़ा, तो कोई बात नहीं, अन्त में अमरावती मे तो जीत हमारे ही सिर-आँखों रही !' परन्तु पाठको ! यह कहना भी उनका, संसार के साथ सरासर अन्याय है, दिन-दहाडे संसार के समझदारों की आँखों में धूल फेंकना है । संसार के भोलेपन और उसकी मूर्खता से अपना पेट-पालन करने का मनसूबा है ।

पाठको ! इन दण्डियों का झूँठा साहस कितना बढ़ा हुआ है ! कितना हेटा है ! कितना हयाहीन है ! कि वहाँ अमरावती में भी सरासर रूप से श्वेताम्बर स्थानकवासियों ही की जीत हो रही है, और जिसके प्रत्यक्ष प्रमाण में, सरकार से उन्हें फैसला तक मिल रहा है, और तब भी दण्डी लोग, वहाँ अपनी ही जीत होने का अनहोना दम भर रहे हैं ? यह उनके लिए, तथा उनके आश्रित समाज के लिए, कितनी बड़ी भूल की बात है, कैसी गर्हित और लज्जास्पद बात है ? यदि कोई पानीदार और हयादार व्यक्ति हो, तो उसके लिए यह मौत से अधिक बदतर बदनामी की बात है !!

हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए, अमरावती के सरकारी फैसले को भी अविकल रूप से यहाँ उद्धृत किये देते हैं । वह यों है —

C R No. 3329 Copy of Judgement

In the court of Shah Mohommad Ishaq Esq. First class Magistrate, Amraoti.

"I have heard the arguments of learned counsels on both sides and read the written arguments put in by them. The complaints objects particularly to these words—" Hinsadharm, Mithyapakhandi, and ashuddha-dharm " in the passage put in part 21 of this judgement the learned counsels for the defence have very clearly, defined in their written arguments the strict sense in which these words have been used in the booklet and after going through the statements of the witnesses for the defence, I am not prepared to accept that these words are defamatory, nor do they convey the meaning attributed to them by the complainat. It is an admitted fact that this controversy is going on between the parties since a very long time and the several publications that have been filed in this case tend to show the existing feeling between them. Most of the passages alluded to in para 21 of this judgement clearly show that the publication of the booklet Ex. P I was a challenge to the complainant and his until they did so they will not be proving themselves."

प्रिय पाठको ! यों अहमदाबाद, किसनगढ़, निम्बाहेड़ा, जावद, अहमदनगर, अमृतसर, आदि भारत के प्रसिद्ध स्थानो मे, अन्य मतावलम्बी विद्वत्समाज के सम्मुख, जो भी वाद विवाद उठाया गया, प्रत्येक मे, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों के द्वारा दण्डियो की हार हुई। उन्हें बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। श्वेताम्बर स्थानकवासी कभी

भूल कर भी स्वगत उनका मान मैला करना उचित नहीं समझते, तथापि वे यह भी इस नाते उचित नहीं समझते, कि प्रति-पक्षी को उसके अपने कार्यों का बदला न देकर, निरे नामर्द संसार में कहलावें। और यही कारण है, कि श्वेताम्बर स्थानकवासी लोग जो भी बड़े ही शान्ति-प्रिय हैं, तो भी समय असमय उन्हें "जैसे को तैसा" (Tit for tat) के रजोगुणी मार्ग को अपनाना ही पड़ता है। और तब "uninvited guests sit on thorns" अर्थात् अनिमन्त्रित मेहमान का अनादर होता है, के नाते से प्रति-पक्षी के साथ उनका विपरीत व्यवहार भी देखा सुना जा सकता है। परन्तु विचारशील पाठकों को यह भली भाँति ज्ञात हो सकेगा, कि इस सारे वितण्डावाद का बीजारोपण करने वाले ये दण्डी लोग और इनके अनुयायी ही हैं।

॥ श्रीमहावीराय नमः ॥

इन्दौर शहर में दण्डियों की हार।

(जवाब न देकर भगदौड़)

(१) प्रेमी पाठको! यह हमारा अनुभूत अनुभव है, कि ये दण्डी लोग शास्त्रार्थ करने का ढिंढोरा पीट कर, फिर पीछे से तरह तरह के विषयान्तर वाद विवाद और झगड़ों की जड़ पकड़ जाते हैं। फिर दोनों ओर से विज्ञापनबाजी के घोड़े दौड़ने लगते हैं। यों इन लोगों की नासमझी और बेहूदगी का बदला, बेचारे इनके आश्रित समाज और प्रतिपक्षी लोगों को, निज का समय, शक्तियाँ, श्रम और सम्पत्ति खोकर, चुकाना पड़ता है। यह तो यह, और पारस्परिक मनो विकार की जो जड़ मजबूत होती जाती है, वह अलग ही है। शान्ति और सुजनता के आधार वीर भगवान् के, ये अपने को उपासक बनाते हुए भी, शान्ति और सुजनता से वाद विवाद करना मानो, इन्होंने आज तक सीखा ही नहीं है। यही क्यों, पूछे हुए प्रश्नों का भी तो सौम्यता

पूर्वक उत्तर देना ये नहीं जानते। दण्डी मणिसागरजी ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। शास्त्रार्थ के करने-कराने में, उन्हें सूचना देते रहने पर भी, न तो उन्होंने श्रीसंघ ही को अपने साथ रक्खा और उस की किसी प्रकार की सम्मति और सहानुभूति ही उन्होंने सम्पादित की। पूछे हुए प्रश्नों में से किसी एक प्रश्न का जवाब तक उनसे न बन पड़ा। इन्दौर के उपर्युक्त विज्ञापना से पाठकों ने यह बात भली प्रकार जान ही ली होगी।

(२) दण्डीजी! बत्तीस सूत्रों के मूल पाठ के आधार पर, मुँहपत्ति को मुँह पर बाँधना सिद्ध कर दिखाया, तभी तो नाभा नरेश ने, अपनी सही के दिये हुए फैसले में, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन-साधुओं की विशुद्ध वृत्ति को प्राचीन और आगमानुसार बतलाया है। अकेले नाभा में ही क्या, अन्यान्य प्रसिद्ध स्थानों में भी तो, इसी प्रकार श्वेताम्बर स्थानकवासी लोगों ने आगमों की पवित्र आज्ञानुसार, मुँह ही पर मुँहपत्ति को बाँधना, कई बार, और सैकड़ों प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। और तो और, इन उद्घोषणाओं तक में, आगमों के आधार को सामने रखते हुए, सूत्रों के सिद्धान्तों को दिखाते हुए, स्वयं इन दण्डियों के प्रामाणिक ग्रन्थों और अन्य ऐतिहासिक पुस्तकों के पुरावों को पेश करते हुए भी, मुँह ही पर मुँहपत्ति को बाँधना, भली-भाँति से सिद्ध कर दिखाया है।

आगे चल कर दण्डीजी ने उसी परिलेख में लिख मारा है, कि "मेरे साथ शास्त्रार्थ करने की ताक़त नहीं हुई।" दण्डीजी आपका यह लिखना सही है। क्योंकि, वैर, विवाद और व्यवहार जो किया जाय, वह समान-शील पुरुषों ही से करने के लिए, नीतिकार पुरुषों का कहना है। अतः आपसे शास्त्रार्थ करना, कीचड़ में पत्थर फेंकने के सदृश, समझ कर ही तो, आपकी ओर से किसी दूसरे, सौम्य स्वभावी और वास्तव में विवेकी विद्वान के साथ, वाद विवाद करने का चैलेंज,

म्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से, आपको दिया गया था। दूसरे, आपकी विद्वत्ता और योग्यता का जग-ज़ाहिर ढिंढोरा भी तो उस समय पिट चुका था, कि आप जैसे विद्या वारिधियों (?) से भाई मनसुखलाल के दश प्रश्नों तक का उत्तर देते न बन पड़ा। और इसी शर्म के मारे, आप इन्दौर को छोड़ कर, वहाँ से बिना किसी से कुछ भी कहे सुने, एकाएक नौ-दो ग्यारह चले थे। तीसरे, आप वास्तव में शास्त्रार्थ करना चाहते थे, या वितण्डावाद, क्योंकि, वितण्डावाद आपको अपने प्राणों से भी प्यारा है, यह सोच समझ कर ही तो, श्वेताम्बर स्थानकवासी लोगों की ओर से आपको विज्ञापन के द्वारा यह कहा गया था, कि हम लोग शास्त्रार्थ करने के लिए हर समय और हर एक योग्य स्थान पर तैयार हैं। और योग्य स्थान से हमारा इतना ही आशय रहता आया है, कि वहाँ, क्या जैन और क्या जैनेतर सभी प्रकार के योग्य व्यक्तियों की साक्षी में, आपकी ओर के किसी योग्य, अनुभवी और विवेकशील विद्वान् साधु के साथ, शास्त्रार्थ करने के लिए, हम हर घड़ी उद्यत बैठे हैं। इसके साथ ही, हमारी दूसरी एक शर्त सदा से यह भी रहती आई है, कि पहले आपको इसके लिए श्रीसंघ की सम्मति और सहानुभूति भी सम्पादित कर लेनी चाहिए। और तब उनको साथ रख कर, आपको विवाद-निर्णय सम्बन्धी विज्ञापन प्रकाशित करवाना चाहिए। हमारी ओर से यों बिलकुल साफ साफ कह देने पर भी, आज तक, दण्डी मणिसागरजी की ओर से, कोई

सवेगी साधु, शास्त्रार्थ करने के लिए, मैदान में कमर कस कर ताल ठोक कर न उतरा। इससे भी दण्डी मणिसागरजी तथा दुलारे अनुयायियों ही की हार जग को जान पड़ी।

(२) इतना सब कुछ हो चुकने पर भी, और जगत् में उनके मान को मैला होते देख कर भी, उलटा चोर कोतवाल को ... ही हिसाब दण्डीजी कर रहे हैं। स्वयं दण्डीजी ही ने तो वे

करने से दिल चुराया, टालमटूल की, और पूछे हुए साधारण से साधारण प्रश्नों तक का उत्तर न देते हुए, इन्दौर से एकाएक भाग निकले। सच है, ठहरते भी वे उस समय किस बूते पर। क्योंकि, प्रश्नकर्त्ता ने तो अपने प्रश्नों को बत्तीस सूत्रों के मूल पाठों पर ही, कराने की हट पकड़ रक्खी थी। ऐसे समय, 'बद अच्छा, बदनाम बुरा' की कहावत के अनुसार बेचारे दण्डीजी के पास वहाँ से भाग निकलने का ही सब से अच्छा साधन मौजूद था। कहिये, दण्डीजी! यदि आप में सचमुच योग्यता थी, आप यदि बीसों विस्वा विद्वान् थे, यदि आप के धार्मिक जीवन की छाप और आप के सदाचरण के ठप्पे आपके अनुयायियों के हृदयों पर, ठीक ठीक लग चुके थे, तो फिर आप हमारे प्रश्नों का उत्तर बिना दिये ही वहाँ से चल कैसे पड़े? क्या नहीं आपके अनुयायी भक्तों ने उस आये दिन आपका साथ दिया? क्या, इन्हीं साधनों की ओट में, आप अपने जीत का ढोल जगत में पीटते हुए, घर घर और दर दर अपनी रक्षा की याचना करते फिरते रहे हैं? वाह भगवन्! यह रक्षा की याचना आपको आप ही को मुबारिक रहे।

(४) दण्डीजी! आपके सुन्दर गले में हार के आगे हार तो उसी दिन पहना दिया गया था, जिस दिन श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियों की ओर से 'चर्चा का चैलेंज' नामक विज्ञापन जनता के हाथों दिया गया था; और हमारे हर प्रकार से और हर समय, तथा योग्य स्थान में, चर्चा के लिए तैयार रहने पर भी, आप मौनावलम्बन कर बैठ रहे थे। क्यों, 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' के न्याय से यह आपकी मूकता, आपकी पराजय को साबित नहीं कर रही है?

और (५) दण्डीजी! आपने 'आगमानुसार और 'उद्घोषणा' में सूत्रों के मूल पाठ को कुयुक्तियों और कुत्सित भावनाओं से प्रेरित हो में रखने की [illegible]-कुसुम-वत् सिद्धि को भी

रक्खा। परन्तु क्या, आपने स्वयं ही अपने इन काले कारनामों के द्वारा, सीधे से सीधे रूप में, उन्हीं उद्-घोषणाओं, आदि में, आगमों के मूल पाठों, स्वय आप दण्डी लोगों ही के ग्रन्थों, एव प्राचीन इतिहासों से, जनता-जनार्दन का समाधान करते हुए, स्पष्ट रूप मे, यह नहीं दिखा दिया, कि दण्डी लोगों की जो हाथ में मुँहपत्ति रखने की आधुनिक प्रणाली है, वह शास्त्रो, प्रामाणिक इतिहासों और स्वय उन्हीं दण्डी लोगों के अन्य माननीय ग्रन्थों की आम्नाय के, सिरो विरुद्ध है। विरुद्ध ही क्यों, हाथ में रखने से किन किन दोषों की उत्पत्ति वहाँ हो जाती है, यह भी उन्होंने साथ में साफ साफ बता दिया है। और मुँहपत्ति को हाथ में रखने से खुले मुँह बोला जाता है, इस का भी आप ही के द्वारा, उन उद्-घोषणाओं में दिग्दर्शन करा दिया गया है। सच है, अभिमान का अवश्यमेव अध पतन होता है और जो दूसरे के लिए गड्ढा खोदने का उतारू होता है, वह अपने ही हाथों स्वय के लिए कुँआँ भी तैयार कर लता है। यही बात अभी आप क लिए, दण्डोजी, आप ही के हाथ के कारनामो से आ घटी है और समय समय पर इसी भाँति आपको अपने मुँह की खानी पडी तथा पड़ती है। विरुद्ध इसके, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनियो ने, जगह जगह, अनेक आगमों और प्रामाणिक प्राचीन इतिहासों के आधार पर कई पुष्ट और सर्व-मान्य प्रमाणों को, ससार के सामने पेश करते हुए, उनके द्वारा यह भली-भाँति सिद्ध कर दिखाया है, कि जैन-मुनि लोग, मुँह ही पर मुँहपत्ति को अनादि काल से बाँधते चले आये हैं, यही उनका जगत् मान्य और जन्मसिद्ध अधिकार है। इसमें नवीनता का कहीं नामोनिशान तक भी नहीं है। नवीन पद्धति तो मुँहपत्ति को हाथ में रखने की है, जिसे दण्डो लोगों ने ग्रहण कर रक्खी है।

अन्त में पाठको! हमारा तो यही कहना है, और यही अनुभूत अनुभव है, कि आत्म कल्याण के अभिलाषियों के लिए, तो, आत्म बल ही उत्कर्ष प्रद अभिमान की वस्तु, और अलौकिक सुख

तथा सुयश का दाता है। इसी का आश्रय ग्रहण कर, इस लोक का साधारण से साधारण बुद्धि और बल का पुरुष तक, वीर प्रभु की पवित्र आज्ञाओं और आचरणों का अनुकरण और अनुसरण कर, जगत् मान्य बन सकता है। आत्म बल ही एक ऐसा बल है, जिसके द्वारा पुरुष इह लोक और परलोक को सुधार सकता है। इसी एक बल के बल, ससार की सर्व शक्ति-सम्पन्न पाशविक शक्तियों का पशुपन दूर किया गया है और आज भी किया जा सकता है। यही एक बल, अमर बल है, जिसके सम्मुख जगत् की सबल से सबल और उद्दण्ड से उद्दण्ड शक्तियाँ झुकी और आज भी झुकती हैं। इसी मात्र एक बल की धाक से, जगत् के पशु-बल की समय समय पर पोलें खुली और खुलती जाती हैं। वह इसी आत्म बल ही की है, जिसके सामने पाप, प्रपञ्च, पाखण्ड, प्रवञ्चना, और प्रतिरोध, आदि की शाही शान ससार से उठ गई और रही-सही अब उठती चली जा रही है। आत्म बल स्वय प्रकाशमान है। इसके पवित्र प्रकाश में, अन्धकार, अज्ञान, अनैक्यता, अनियमितता, अन्ध-विश्वास, अन्ध-श्रद्धा, अन्ध-भक्ति, अकारण वैर, अभिमान, अमानुषिक व्यवहार, अतिशयोक्तिमय कथन, अल्हड़पन, अकर्मण्यता, आलस्य, और अविचारशीलता, आदि का जीवन पल भर का भी नहीं रह सकता। जैसे तेजोमय सूर्य के प्रज्वलित प्रकाश में अन्धकार का आभास मिलना असम्भव है, वैसे ही स्वत प्रकाशमान आत्मबल के अनुपमेय और अलौकिक आलोक में, इन ऊपर कही हुई बातों का कहीं नाम तक नहीं मिलता। अस्तु।

आइये! पाठको! आप भी उसी आत्म-बल का आदर और पूजा कीजिये। वह आपके मानसिक-वाचिक और कायिक कषायों को दूर करे। उसी तेज पुंज आत्मिक बल की आभा में आप की आत्मा को अमर शान्ति का अनुभव प्राप्त हो। आपका अज्ञान दूर हो। जिससे आप वीर पिता परम प्रभु जिनेन्द्रराय की आदर्श आज्ञाओं का अनु-

सरण कर, उन्हें अपने आह्निक आचरण में लाना सीखें। आपके हृदयों से हीन रूढ़ियों की हिमायतें दूर हों। रूढ़ियों की अन्धाधुन्धी और लोक-लाज की लापरवाही के कारण, दण्डियों ने जो मुँहपत्ति को हाथ में रखने का हठवाद और कदाग्रह धारण कर रक्खा है, उसका इस आत्म-बल के सुन्दर और शान्ति-प्रदायक और नयनाभिराम प्रकाश में सदा के लिए अन्त हो। परमात्मा उन्हें इस आत्म-बल को अपनाने और इसकी शरण में आने की शक्ति प्रदान करे।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!



ॐ

जाहिर—उत्तर ।

उत्सूत्र भाषी दण्डीजी ! 'जाहिर-खबर' में जो 'धर्म-लाभ', 'यह' आदि को सिद्ध करने में 'अनादि मर्यादा' की ओट आपने ली है, वह निरी मिथ्या, प्रमाद पूर्ण और सूत्र-विरुद्ध है। उसे ऐसा कहने का हमारा सक्षिप्त विवेचन यों है—

'धर्मलाभ' आदि कह कर रोटी आदि माँगना कगलो का काम है। परम त्यागी जैन-मुनियों को ऐसा कहना कभी नहीं फबता। और न ऐसा कह कर वे कभी किसी से कोई याचना ही करते हैं। और न वीर भगवान् ही की इस विषय में कोई आज्ञा मूल सूत्रों में कहीं पाई जाती है। फिर आप इसे आशीर्वादा मक वचन लिखते हैं। यह ठीक है। कौन इसे अनाशीर्वादात्मक कहते हैं। परन्तु आपको यह भी यहाँ स्मरण रखना चाहिए, कि 'आप को धर्म का लाभ हो, द्रव्य का लाभ हो, आपका भला हो, आप को पुत्र की प्राप्ति हो, आदि आदि तो तभी बोले जाते हैं, जब कि कोई दाता किसी पेटार्थी कगले को कुछ देता है। इन कगलों के अतिरिक्त, भाट, चारण, वन्दी, मागध, सूत, आदि भी, अपने दाताओं के प्रति, यदा-कदा, दान में मिलने वाली वस्तु के प्रथम और पश्चात्, इन शब्दों का उपयोग किया करते हैं। क्या, दण्डियो ! सचमुच में आज आप, अपने परम त्याग की अवस्था को छोड़ कर, इन लोगों की श्रेणियो में उतर आये ? जो 'धर्म-लाभ' आदि आशीर्वादात्मक पदों की युक्ति आप को सूझ पडी ? अजा ! आप की अवस्था और धर्मानुसार जैन-शास्त्र भी तो इस में सहमत नहीं हैं, और न भगवद् आज्ञा ही का कोई आसार इस को तह में आप के लिए पाया जाता है। तब क्या, पेट-पालन, प्रमाद की प्रगति और प्रपच के

कहना है, कि भगवदाज्ञा ही में हमारा धर्म है और जरा ही उसके बाहर जाने में पाप की परछाई है। समय पर, जब कि आपका थोथा पोथा बाहर पड जायगा, इस बात का और भी विशेष विवेचन हम अपने पाठकों के सम्मुख कर सकेंगे।

अन्त में हम यहाँ दण्डीजी से यह पूछे बिना भी नहीं रह सकते, कि आप के यहाँ जो जिन प्रतिमा की जल फल, फूल, धूप, दीप आदि से पूजा होती है, क्या इस में हिंसा नहीं होती? षट्काय जीवों को सताने तथा वध करने कराने की विचित्र विधि तो, हम, आप जैन धर्मानुयायियों ही के यहाँ देख रहे है। वीर भगवान् ने तो जैनागमों में कहीं भी ऐसा नहीं फर्माया है। किन्तु हाँ, इन जीवों की रक्षा करने और उन्हे हर प्रकार से आराम देने-दिलाने में तो धर्म अवश्य ही होता है। दण्डीजो! जरा आप ही अपनी छाती पर हाथ रख कर कहिये, कि इन षट्कायिक जीवों की भाँति यदि कोई आप को भी दण्डे से पीटता रहे, शस्त्र से छेदन-भेदन करे, और अग्नि में गिरा कर भूने, तो क्या उस समय मजबूरन आप ऐसा नहीं कहेंगे, कि "हमें दुख होता है?" या "रक्षा करो?" यही बात, उन षट्कायिक जीवों के लिए भी समझ कर, यदि आप धर्म की व्याख्या करते, तब तो आप का पुरुषार्थ भी था। किन्तु कुचेष्टा, कुभावना, कुतर्क, और कुत्सित कर्मों के सिवाय आप की काया, अन्य कर्मों को करने ही क्यों लगी? तभी तो आप से धर्म-ध्वजी (?), पाप-प्रपंच-पाखण्ड-परायण और परमुखापेक्षी महज्जीवों (?) को सीधे मार्ग पर लाने के लिए, हमें भी लेखनी उठानी पडी। पुन, जिनागमों में, व रामचरित्र, श्रीपालचरित्र, आदि में, ढाल, चौपाई, आदि के द्वारा, आधुनिक जमाने में प्रचलित होने वाली जल-पूजा सिद्धि के लिए, आप लोगों ने, वहाँ जगह जगह, क्षेपकों के कृत्रिम पाठों को जोड़ा, और यत्र-तत्र, आप उत्सूत्र भाषी और जडोपासक दण्डियों ने धाप धाप कर श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों की निन्दा की, इन सब बातों का उत्तर तो, हम तब देंगे, जब कि आप की ओर से जिन-प्रतिमा को "वन्दन-पूजन करने की अनादि सिद्धि" नामक ग्रन्थ निकल चुकेगा, और जाहिर-उद्घोषण न० ४, ५, और ६ का सन्तोष जनक उत्तर भी आप को तभी दिया जा सकेगा।

॥ ॐ सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥

ॐ

ज़ाहिर—उत्तर ।

सम्पूज्य भायो दण्डीजी ! 'जाहिर-खबर' में जो 'धर्म-लाभ', 'यह' आदि को सिद्ध करने में 'अनादि मर्यादा' की ओट आपने ली है, वह निरी मिथ्या, प्रमाद पूर्ण और सूत्र-विरुद्ध है। उसे ऐसा कहने का हमारा संक्षिप्त विवेचन यों है—

'धर्मलाभ' आदि कह कर रोटी आदि माँगना कगलों का काम है। परम त्यागी जैन-मुनियों को ऐसा कहना कभी नहीं फबता। और न ऐसा कह कर वे कभी किसी से कोई याचना ही करते हैं। और न वीर भगवान् ही की इस विषय में कोई आज्ञा मूल सूत्रों में कहीं पाई जाती है। फिर आप इसे आशीर्वादात्मक वचन लिखते हैं। यह ठीक है। कौन इसे अनाशीर्वादात्मक कहते हैं। परन्तु आपको यह भी यहाँ स्मरण रखना चाहिए, कि 'आप को धर्म का लाभ हो, द्रव्य का लाभ हो, आपका भला हो, आप को पुत्र की प्राप्ति हो, आदि आदि तो तभी बोले जाते हैं, जब कि कोई दाता किसी पेटार्थी कगले को कुछ देता है। इन कगलों के अतिरिक्त, भाट, चारण, वन्दी, मागध, सूत, आदि भी, अपने दाताओं के प्रति, यदा-कदा, दान में मिलने वाली वस्तु के प्रथम और पश्चात्, इन शब्दों का उपयोग किया करते हैं। क्या, दण्डियो! सचमुच में आज आप, अपने परम त्याग की अवस्था को छोड़ कर, इन लोगों की श्रेणियों में उतर आये? जो 'धर्म-लाभ' आदि आशीर्वादात्मक पदों की युक्ति आप को सूझ पड़ी? अजी! आप की अवस्था और धर्मानुसार जैन-शास्त्र भी तो इस में सहमत नहीं और न भगवद् आज्ञा ही का कोई आसार इस की तह में आप पाया जाता है। तब क्या, पेट-पालन, प्रमाद की प्रगति अ...

पसारे ही के लिए आप लोगों ने 'धर्म-लाभ' की सृष्टि अपने लिए की है ? धन्य आप की बुद्धिमत्ता और साधु-वृत्ति को ! परन्तु विपरीत इसके, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनि, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए, 'दया करो' अर्थात् दया पालो, ऐसा जो उपदेशात्मक पद कहते हैं, वह शास्त्र-सम्मत, उन की अवस्था के धर्मानुकूल, वीर पिता परमात्मा की आज्ञा के आधार पर स्थित और सनातन है। जिसके प्रमाण में, श्रीमद् उत्तराध्ययन जी सूत्र क १० वें अध्याय की २६ वीं गाथा का देखना चाहिए। उस में श्री भगवान् की आज्ञा है, कि साधु जहाँ जाय, वहीं शान्ति का, दया का उपदेश करे। कारण कि परम त्यागी और सच्चे जैन मुनि तो धर्म-लाभ कह कर आहार ग्रहण करना दूषित समझते हैं। अतः दण्डीजी ! आप का यह लिखना, कि "जैन साधुओं को या मुनियों को उपदेशात्मक और आशीर्वादात्मक पदों तक का भी ज्ञान नहीं था," भी नितान्त भ्रम-मूलक है, तथा आप की जड़ और विवेक हीन बुद्धि हो का लोगों को परिचय देना है। ज्ञान तो वास्तव में आप का नहीं था, जिसके कारण परमत्यागियों की अवस्था में धर्म-लाभ कह कर आहार नहीं लेना चाहिए सो ले रहे हो, यह अज्ञता नहीं है क्या ?

आगे चल कर, "श्वेत वस्त्र वाले यति लोग आरम्भ परिग्रह-ले हो गए," दण्डीजी का यह लिखना अक्षरशः सत्य है। किन्तु, "लोग यतियों की निन्दा करते हुए, जिन मूर्तियों की उत्थापना भी करने लगे। इसलिए, (१) यतियों से भिन्नता दिखाने, (२) अनादि जिनमूर्ति की मान्यता की रक्षा करने और (३) शुद्ध संयम-धर्म की जगत में महिमा बढ़ाने, आदि के लिए, 'संवेगी नाम रख कर, शुद्ध संयम शील साधुओं ने पीत वस्त्र ग्रहण किए हैं !"

पाठको ! नं० (१) की बात के अनुसार पीले वस्त्रों को धारण करना तो दण्डीजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि हमने पीछे से धारण

किए हैं। इस से यह सिद्ध हो चुका कि प्रारम्भ में ही सूत्र विरुद्ध प्रवृत्ति को पालने में श्रीगणेशाय किया तो फिर आगे में सूत्र के अनुसार प्रवृत्ति पाल भी कैसे सकते हैं। 'यह' बात खुलासा, इसी ग्रन्थ में हम पहले कर चुके हैं। इस शब्द का प्रयोग तो, केवल पेटार्थी दण्डियों के द्वारा, उस दिन के बारह वर्षीय दुष्काल के जमाने हो से हुआ है, जब कि उन के पेट पालने के सम्पूर्ण साधनों को शक्तियाँ ससार से उठिया गई थीं। इस से निर्विवाम्ति सिद्ध हो जाता है कि यह भी अनादि नहीं है। फिर, नन्दोषेण मुनि का, भगवान् महावीर की मौजूदगी में, वेश्या के मुहल्ले में गोचरी के लिए जाना, यह लिखना भी दण्डोजो की दण्डायमान ना समझी ही को जग-जाहिर करता है। क्यों कि भगवान् ने तो वेश्या के मुहल्ले के पडोस में हो कर निकलने तक के लिए मना किया है और बताया है। तब उन्हीं की मौजूदगी में, और एसी बातो का निधड़क होना! हरगिज नहीं हो सकता। और न वेश्या के मुहल्ले में नन्दोषेण मुनि गोचरो गए ऐसा मूल सूत्रों में उल्लख है। तदपि दण्डोजा उसे बिलकुल निधड़क ही हो कर लिख रहे हैं, जो निरा थाथा और भ्रम मूलक है।

आगे चल कर दण्डीजी का यह लिखना, कि "शुद्ध सयम धर्म की जगत् में महिमा बढ़ाने के लिए 'सवेगो' नाम रख कर शुद्ध सयमो साधुओं ने 'पीत वस्त्र' धारण किए।" पाठको! कितना थोथा और मायाचार से भरा हुआ है। कहीं सयम और साधुता की पहचान भो पीले और काले रंगों से हुई है? स्वय प्रकृति हमें डके की चोट बता रही है, कि उसमें—(१) तरुणाई के बालों की स्याही, और (२) जवानी के खून की ललाई, सयम और अनुभव-प्राप्त बुढ़ापे में सफेदी में बदल जाती है। यही क्यो, उस के रग की चमचमाहट, धीरे धीरे, वर्षा, धूप, आँधो, हवा, आदि के सघर्ष से सफेदी की ओर ढलकती चली जा रही है। अत सफेदी का पीले रग में बदलना, केवल मायाचार, आत्मार्थियों के विरुद्ध पुरुषार्थ, वीर प्रभु की आज्ञा का विराधक बनना, ससार को बढ़ाना, पेट-भराई के लिए प्रपञ्चो का रचना, और बुद्धि का सठियाना मात्र है?

फिर, जिन राज के जन्माभिषेक दीक्षा और केवल ज्ञान, आदि के लिए जो कुछ भी आपने लिखा है, उसके लिए हमारा अभो तो यही

कहना है, कि भगवदाज्ञा ही म हमारा धर्म है और जरा ही उसके बाहर जाने में पाप की परछाई है। समय पर, जब कि आपका पोथा पोथा बाहर पड़ जायगा, इस बात का और भी विशेष विवेचन हम अपने पाठकों के सम्मुख कर सकेंगे।

अन्त में हम यहाँ दण्डीजी से यह पूछे बिना भी नहीं रह सकते, कि आप के यहाँ जो जिन प्रतिमा की जल फल, फूल, धूप, दीप आदि से पूजा होती है, क्या इस में हिंसा नहीं होती? पट्काय जीवों को सताने तथा वध करने कराने की विचित्र विधि तो, हम, आप जैन धर्मानुयायियों ही के यहाँ देख रहे है। वीर भगवान् ने तो जैनागमों में कहीं भी ऐसा नहीं फर्माया है किन्तु हाँ, इन जीवों की रक्षा करने और उन्हें हर प्रकार से आराम देने-दिलाने में तो धर्म अवश्य ही होता है। दण्डीजी! जरा आप ही अपनी छाती पर हाथ रख कर कहिये, कि इन पट्कायिक जीवों की भाँति यदि कोई आप को भी दण्डे से पीटता रहे, शस्त्र से छेदन-भेदन करे, और अग्नि में गिरा कर भूने, तो क्या उस समय मजबूरन आप ऐसा नहीं कहेंगे, कि "हमें दुःख होता है?" या "रक्षा करो?" यही बात, उन पट्कायिक जीवों के लिए भी समझ कर, यदि आप धर्म की व्याख्या करते, तब तो आप का पुरुषार्थ भी था। किन्तु कुचेष्टा, कुभावना, कुतर्क, और कुत्सित कर्मों के सिवाय आप की काया, अन्य कर्मों को करने ही क्यों लगी? तभी तो आप से धर्म-ध्वजी (?), पाप-प्रपंच-पाखण्ड-परायण और परमुखापेक्षी महल्लोवों (?) को सीधे मार्ग पर लाने के लिए, हमें भी लेखनी उठानी पड़ी। पुनः, जिनागमों मे, व रामचरित्र, श्रीपालचरित्र, आदि में, ढाल, चौपाई, आदि के द्वारा, आधुनिक जमाने में प्रचलित होने वाली जल-पूजा सिद्धि के लिए, आप लोगों ने, जहाँ जगह जगह क्षेपकों के कृत्रिम पाठों को जोड़ा, और यत्र-तत्र, आप उत्सूत्र भाषी और जड़ोपासक दण्डियों ने धाप धाप कर श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन मुनियों की निन्दा की, इन सब बातों का उत्तर तो, हम तब देंगे, जब कि आप की ओर से जिन-प्रतिमा को "वन्दन-पूजन करने की अनादि सिद्धि' नामक ग्रन्थ निकल चुकेगा, और जाहिर-उद्‌घोषणा नं० ४, ५, ६ का सन्तोष जनक उत्तर भी आप को तभी दिया जा सकेगा।

॥ ॐ सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु ॥

आवश्यक सूचना

प्रिये पाठक महानुभावों ! इस पुस्तक में "पीतपटाग्रह-मीमांसा" की जगह "पति पीतपटाग्रह मीमासा" छप गया है और इसी प्रकार और भी अनेक स्थानों पर कम्पोजीटरों ने एवं प्रूफ संशोधकों ने भयंकर भूलें की हैं। अतएव उन्हें सुधार कर पढ़ने की कृपा करें।

भवदीयः—

प्रकाशक।

पुस्तक मिलने का पताः—

श्री जैनोदय पुस्तक, प्रकाशक, समिति

रतलाम।